सद्गुरु कबीर साहब का ग्रन्थ—

बीजक

टीकाकार

विचारदास शास्त्री

प्रकाशक

रामनरायन लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

दूसरी बार १०००] १९२८

सत्यनाम

प्रथमावृत्ति की

भूमिका

अत्र स्थाणु-सुपत्तने हि पुरतः त्तोणो-तले संस्थितो।
लोकातीत-महोदयो गुणनिधिः शास्ति *स्वशिष्यान् पुरा॥
आर्य्यानार्य्यभिदा मपास्य जनितो ह्येकात्मतत्वं परम्।
नानाऽऽडम्बरवारणैकमिहिरः श्रीमत्कबीरो गुरुः॥

अज्ञान दुःख का मूल है

इस संसार में केवल मनुष्य ही नहीं, किन्तु पशु पक्षी और कीट पतङ्ग आदिक जितने प्राणी हैं, वे सब दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए यथा शक्ति प्रयत्न करते रहते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य ही को लीजिये, क्या लौकिक और क्या पारलौकिक जितने कार्य मनुष्य करता है, सब सुख ही के लिए करता है। कठिन से कठिन कार्यों में जो प्रवृत्तिहोती है वह भी सुख ही के लिए। इस प्रकार सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर भी सच्चा सुख नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है वह दुःख मिश्रित सुखाभास ही है। इसका एक मात्र कारण अज्ञान है। अज्ञान ही की निवृत्ति के लिये हमारे

---

* "पुरिलुङ् चास्मे" इतिसूत्रेण भूतार्थे लट्।

प्रातः स्मरणीय ऋषि और महर्षियों ने वैदिक ज्ञान रूपी ज्योति को संसार में फैलाया। तथा नाना पुराण और स्मृतियों के द्वारा वैदिक अर्थ का उपबृंहण (वृद्धि) किया। अनन्तर नाना दर्शनों का निर्माण अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए ही किया गया।

नाना आचार्यों ने अबोधनिवृत्ति के लिए ही नाना मत-मतान्तरों का प्रचार करके परस्पर विलक्षण अनन्तानन्त साधनों के अनुष्ठान का उपदेश दिया। संक्षेपत: आस्तिक और नास्तिक, बाममार्ग और दक्षिण मार्ग नाना जप और कठिनातिकठिन तप आदिक अज्ञान ही की निवृत्ति के लिए विनिर्मित हुए। सबके सब मत अज्ञान निवृत्ति के द्वारा परम सुख (मुक्ति) प्राप्त करा देने का पूर्ण विश्वास दिलाते हैं। एकोक्त्या (संक्षेपतः) सारे संसार के मत मतान्तर पर-पक्ष खण्डन पूर्वक स्वपक्ष का स्थापन करते हुए अहमहमिकया (परस्पर प्रतियोगिता से) मुक्ति दिलाने के लिए एक दूसरे के आगे बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में विचारशील पुरुष का यह परम कर्तव्य है कि वह प्रवृत्ति से पूर्व इस बात को जानने का पूर्ण प्रयत्न करे कि कौन मत और पथ तथा कौन साधन परम पद की प्राप्ति में उपयुक्त है। क्योंकि "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम्। वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥" भारवि के इस कथनानुसार अन्ध श्रद्धा वाले अविवेकी अभीष्ट से वञ्चित रहकर भारी संकट में पड़ जाते हैं।

जिस प्रकार रोग और उसका कारण तथा रोग-निवृत्ति और उसका उपाय, इन चारों बातों को अच्छी तरह जाने बिना रोग की निवृत्ति पूरी तरह नहीं हो सकती है, इसी प्रकार दुःख और उसका कारण तथा उसकी

निवृत्ति और उसका उपाय, इन चारों को यथावत् जाने बिना मनुष्य अपार संसार-सागर से कदापि पार नहीं हो सकता है। यही एक भारी त्रुटि है जिसके कारण मुक्ति के लिए किये हुए अनेक कठिनातिकठिन साधन भी वारि-मथन के समान निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि "विचारेण विना सम्यग्ज्ञानं नोत्पद्यते क्वचित्। तस्माद्विचारः कर्तव्यो ज्ञान सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥" [अर्थात् चैतन्य आत्मा का ज्ञान यथार्थ विचार के बिना नहीं उत्पन्न होता है। इस कारण ज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्म-विचार करना आवश्यक है]

आत्म-विचार का स्वरूप

उक्त विचार का स्वरूप यह है कि "कोहं कथमिदं जातं को वै कर्त्तास्य विद्यते। उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः" [अर्थात् मैं कौन हूँ, यह जगत् कैसे हुआ, इसका कर्त्ता कौन है, और विश्व का उपादानकारण कौन है ? वह विचार इस प्रकार है] इस प्रकार के विचार का नाम परीक्षा है। जिसका महर्षि चरक ने यह निर्वचन किया है कि "एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते। परीक्ष्यं सदसच्चैव तया चास्ति पुनर्भवः ॥" (जिससे सब परखे जाते हैं यही परीक्षा है, कोई अन्य वस्तु नहीं है। और परीक्षा करने के योग्य आत्मा और अनात्मा दोही वस्तु हैं, और परीक्षा ही के द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।) भाव यह है कि " न परीक्षा परीक्ष्यं न कर्त्ता करणं न च।" (अर्थात् नास्तिकों के मत में परीक्षा के योग्य पदार्थ कर्त्ता और करण नहीं माने जाते हैं)। इससे यह वार्ता निर्विवाद है कि जिनके मत में परीक्षा (पारख) नहीं है, वे नास्तिक हैं। क्योंकि पुनर्जन्म की सिद्धि परीक्षा ही पर निर्भर है। विपरीत इससे जिनके मत में परीक्षा है

वे आस्तिक हैं। इस बात को मनु भगवान ने भी स्पष्ट ही कह दिया है कि-"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ।।" (अर्थात् जो केवल शुष्कतर्क के आश्रय से श्रुति और स्मृतियों का तिरस्कार करता है उस निन्दकद्विज को साधु जन सभ्य समाज से अलग कर दें; क्योंकि वेद की निन्दा करनेवाला अर्थात् वैदिक सिद्धान्त को न माननेवाला नास्तिक है। वस्तुतः परीक्षा ही के द्वारा धर्म सत्य पद से विभूषित होता है। मनु भगवान ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना, यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।" इस प्रसङ्ग में कविवर कालिदास जी का यह वचन अनुपम है कि—"तं सन्तः श्रोतु मर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ।।"

सद्धर्म की इस परीक्षक-कोटि में हमारे स्वनाम-धन्य करुणा-वरुणालय सन्त महात्माओं की गणना है। जिनकी महान् आत्मा और उदार हृदय हो वे ही महात्मा हैं। "अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्। उदार-चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥" यह हमारा आत्मीय है, और यह दूसरा है, यह समझना संकुचित-हृदय के मनुष्यों का काम है। उदार हृदय वाले वे हैं जो कि सारी पृथ्वी को अपना कुटुम्ब समझते हैं "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु नच लिङ्गं नच वयः" गुणियों की पूजा उनके गुणों ही के कारण हुआ करती है; वेष और अवस्था के कारण नहीं। समय समय पर निःस्वार्थ भाव से किये हुए महात्माओं के अनन्तानन्त उपकारों से संसार कदापि अनृण नहीं हो सकता। निर्बलों के ऊपर किये हुए प्रबल शक्तिशाली के अत्याचारों को निर्मूल करने के लिए अदम्य उत्साह से निरन्तर भगीरथ-

प्रयत्न करते रहना, महात्माओं का ही काम है। महात्माओं ने केवल अपनी आत्मिक शक्ति के बल से बड़े बड़े दुर्दान्त अत्याचारियों के छक्के छुड़ा दिये थे। ईश्वरीय ज्ञान-गङ्गा जो कि हमारे पूर्वज महर्षियों के घोरातिघोर तपोऽनुष्ठान से सर्व-साधारण के कल्याणार्थ अवतीर्ण हुई है, उसकी अविच्छिन्न धारा को रोककर सर्व साधारण को उसके उपयोग से वंचित करनेवाले संकुचित हृदय के मनुष्यों के विरुद्ध आवाज उठाना यह महात्माओं का ही काम है। लोक कल्याण के लिए सदैव विष पीने के लिए उद्यत रहना और नाना यातना (कसनी) तथा सूली पर चढ़ाये जाने पर भी परमार्थ-पथ से विचिलित न होना महात्माओं ही का काम है। संसार में ऐसी कौन शक्ति है जो कि महात्माओं को अपने लक्ष्य से हटा सके। ऐसे ही महात्माओं की गणना में प्रातः स्मरणीय परम-पूज्य सद्गुरु कबीर साहब का नाम है। जिनके वचनामृत से ज्ञान-सागर यह 'बीजक ग्रन्थ' भरा हुआ है; जिसके पान करने का यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है।

कबीर साहब के अगाध ज्ञान-रत्नाकर का परिमित शब्दों में वर्णन करने के लिए मेरे जैसे साधारण बुद्धि वाले का धृष्टता पूर्वक उद्यत हो जाना ठीक वैसा ही है, जैसा कि कविकुल-चूड़ामणि कालिदास जी ने अपने विषय में कहा है कि "मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्राँशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥" [अर्थात् स्वल्प बुद्धि होते हुए भी महाकवि सुलभ यश को चाहनेवाला मैं (कालिदास) ठीक उसी प्रकार हँसा जाऊँगा, जिस तरह लम्बे आदमियों से तोड़े जाने वाले फल को तोड़ने के लिए हाथ उठानेवाला बावना आदमी हँसा जाता है]। मैं अपने बुद्धि-दारिद्र्यादिकों को जानता हुआ भी इस सूक्ति के अवलम्बन से इस कार्य में

प्रवृत्त हुआ हूँ । "विरोधि वचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते । जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाचः कृतिनां गिरः" ॥ [अर्थात् महात्मापुरुषों की वाणी की यह महिमा है कि उससे प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार कथन करनेवाला जड़मति भी अपने वक्तव्य में सफलता प्राप्त कर लेता है । और उनके वचनों से विरुद्ध सिद्धान्त के प्रतिपादन करने वाले वृहस्पति को भी अन्ततः मौन ही होना पड़ता है]

परिचय

कबीर साहब का परिचय कराना मानों सूर्य को दीपक से दिखाना है । आप दीनबन्धु और पतित पावन थे । परिणाम हितकारी तथा आपाततः विरस भासने वाले आपके वचन आडम्बर-प्रिय तथा मिथ्या अहंकारियों के अहंकार रूपी ज्वर को दूर भगाने के लिए शतशः अनुभूत कड़वे काढ़े के समान हैं । जीर्ण शीर्ण अनादि [आर्य सनातन] सत्यधर्मरूपी मन्दिर के जीर्णोद्धार में ही आपने अपना सारा जीवन समय समर्पित किया था । दलित जातियों के साथ सहानुभूति रखने के लिए—जो कि त्रैवर्णिकों (द्विजातियों) की समुन्नति में परम सहायक है—आप उच्च जातिवालों को बराबर सचेत करते रहे । अत्याचारियों के अत्याचार का घोर विरोध करने के कारण दुरात्माओं के द्वारा दी हुई कठिनातिकठिन यातनाओं को आप अखिन्न-चित्त से बराबर सहते रहे । दया की तो मानों आप मूर्ति ही थे । इसी कारण धर्म की आड़ लेकर हिंसा करनेवाले धर्मध्वजी हिन्दू और मुसलमानों को आप समुचित कड़े शब्दों से फटकारा करते थे । जैसे कि "माटी के करि देवी देवा काटि काटि जिव देइया (जी) । जो तुहरा है साँचादेवा खेत चरत क्यों न लेइया (जी) ॥" और " हिन्दु कि दया मेहर तुरकन की दोनों घट से

त्यागी। ये हलाल वै झटके मारै आग दोनों घर लागी ॥ ऐरे मूरख ! नादाना तैनें हरदम रामहिं ना जाना। बरबस आनि के गाय पछारिन गला काटि जिव आप लिया। जीते से मुरदा कर डारा तिसको कहत हलाल हुआ ॥ तथा, धरम कथे जहाँ जीव बधे तहाँ अकरम करे मोरे भाई। जो तुहरा को ब्राह्मन कहिये तो काको कहिये कसाई ॥" इत्यादि।

लक्ष्य

"केवल ज्ञान कबीर का बिरले जन जाना" इसके अनुसार कबीर साहब ने अन्तिम लक्ष्य कैवल्य पद (आत्यन्तिक मुक्ति) प्राप्त कराने के उद्देश्य से उत्तम अधिकारियों को सम्बोधित करके बहुधा आत्मदृष्टि से तत्वोपदेश दिया है। और उस पद की प्राप्ति में प्रतिबन्धकी भूत नाना प्रपंच और पाखण्डों का व्यक्तरूप से (खुले शब्दों में) खंडन करते हुए हिन्दू और मुसलमानों के परम्परा मुक्ति के साधक तीर्थ और व्रत, रोज़ा, और नमाज़, वेद और कितेब के सदुपयोग के लिए बार बार उपदेश दिया है। कबीर साहब की दृष्टि से वह धर्म धर्म नहीं है, जो चेतनात्मा के प्रतिकूल है। आत्मयाजिता और आत्म-तुष्टि ही इनके मत से सच्ची भक्ति और उपासना है। उनका यह वचन है कि "जीव दया अरु आतम पूजा। इन्ह सम देव अवर नहीं दूजा"। समय और पात्र की दृष्टि से नरम और गरम सभी प्रकार के शब्दों से उक्त तत्व के अनुसरण करने के लिए आपने बराबर शिक्षा दी है। जैसे कि "दादा भाई बाप के लेखे चरणन होइ हौं बन्दा। अब की पुरिया जो निरुवारे सो जन सदा अनन्दा ॥ "किते मनाऊँ पांव परि, किते मनाऊँ रोय। हिन्दू पूजें देवता तुरक ना काहू होय ॥" इत्यादि।

निर्मूल शंका

ऐसी स्थिति होते हुए भी कबीर साहब के विषय में यह शंका करना किसी प्रकार समीचीन नहीं है कि—उनने किसी मत विशेष की स्थापना के लिए वैदिक सिद्धान्त और उसके प्रवर्तक एवं पालक ऋषि और महर्षि तथा अवतारादिकों के विषय में निष्कारण आक्रमण किया है। यद्यपि कबीर साहब ने मुक्ति का साक्षात् साधन निर्विशेष आत्मतत्व-ज्ञान को ही माना है। जैसा कि उनका वचन है "अमरलोक फल लावै चाव। कहँहिं कबीर बूझै सो पाव॥" तथापि परम्परा मुक्ति के साधक सात्विक पूजा तथा अतरोपासना, योग, जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत दानादिकों की व्यर्थता उन्होंने कहीं पर नहीं लिखी है। किन्तु धर्म ध्वजी पाखंडियों के द्वारा की हुई इन्हीं की दुरुपयोगिता का ही खंडन किया गया है। जैसे कि उनके वचन हैं कि–' राम क्रिस्न की छोड़िन्हि आसा। पढ़ि गुनि भये क्रीतम के दासा॥" बी. पृ. ३०१। अवतारोपसना के विषय में आपके ये विचार हैं। दसरथ सुत तिहुँ लोकहिँ जाना। रामनाम का मरम है आना॥ जिहि जिव जानि परा जस लेखा। रजु का कहै उरग सम पेखा॥ जदपी फल उत्तिम गुन जाना। हरि छोड़ि मन मुकुती उनमाना॥ हरि अधार जस मीनहिं नीरा। अवर जतन किछु कहँहिँ कबीरा॥" बी. पृ. २७६। तथा "सन्तो! आवै जाय सो माया। है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया। दस अवतार ईसरी माया करता करि जिन पूजा। कहँहिँ कबीर सुनहुहो सन्तो! उपजै खपै सो दूजा॥ बी. पृ. १२०। तथा "झूठे जनि पतियाउ हो, सुनु सन्त सुजाना! तेरे घट ही में ठग–पूर है मति खोहु अपाना॥ झूँठे का

मंडान है धरती असमाना। दसहुँदिसा वाकी फन्द है, जिव घेरे आना। जोग, जाप, तप, संजमा, तीरथ व्रत दाना। नौधा वेद कितेब है झूठे का बाना॥ काहु के बचनहिं फुरे काहू करमाती। मान बड़ाई ले रहे हिन्दू तुरुक जाती। कहँहिँ कबीर कासों कहौं, सकलो जग अन्धा सांचा सों भागा फिरै, झूठे का बन्दा॥ इत्यादि बी. पृ. २८६। तीर्थों के विषय में आप के ये विचार हैं "तीरथ गये तीन जन, चित-चंचलमन-चोर। एकौ पाप न काटिया, लादिन मन दस और"॥ इसके आगे की यह साखी है "तीरथ गये ते बहिमुये, जूड़े पानि नहाय। कहँहिँ कबीर सन्तो सुनो, राच्छुस ह्वै पछिताय॥ तीरथ भई विष बेलरी, रही जुगन जुग छाय। कबिरन ॐ मूल निकंदिया, कौन हलाहल खाय॥ बी० पृ० ४०१।

ईश्वर या खुदा को एकदेशी मानने वाले पाप कर्म से उतना नहीं डर सकते, जितना कि उसको सर्व व्यापक समझने वाले डर सकते हैं; इसी कारण से ईश्वर को सर्व व्यापक बताते हुए एकदेशी समझने वालों के भ्रम को दूर करने के लिए यह कहा है कि "जो खुदाय महज़ीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा। तीरथ मुरत रामनिवासी दुहु में किन हुं न हेरा॥ पूरुब दिसा हरी को बासा. पच्छिम अलह मुकामा। दिल में खोजु दिलहि में खोजो यहीं करीमा रामा॥" । अतः इस वचन पर यह आपत्ति लगाना कि यह उपासना स्थलों पर निष्कारण

ॐ सूचना—यहाँ पर कबिरन शब्द इस (बीजक) ग्रन्थके संकेत से अज्ञानियों का वाचक है, कबीर-मतानुयायियों का नहीं; जैसा कि समालोचना कर्त्ताओं ने समझ लिया है। यह आगे 'बीजक संकेत' प्रकरण में लिखा जायगा।

आक्रमण है, कहाँ तक संगत है। यदि हिंसाकारी हिन्दू और मुसलमान अपने २ उपासना गृहों की तरह निरपराध पशुओं के हृदयों को भी राम और खुदा के सच्चे मन्दिर और मस्जिद समझते तो उनके गले पर तलवार और छूरी चलाने का दुःसाहस वे कभी नहीं करते। इसी अभिप्राय से सद्गुरु ने यह बार २ कहा है कि 'ऐरे मुरुख नादाना ! तैंने हर दम रामहिं ना जाना" । तथा, "घटघट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख़ ! "। ❀

सिद्धान्त

कबीर साहब ने निर्विशेष (निरुपाधिक) आत्मतत्त्व शुद्ध चेतन का तात्पर्यतः इंगन (सूचन) किया है। क्योंकि 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्जातिर्द्रव्यं गुणः क्रियाश्चेति' (महाभाष्य) अर्थात् जाति द्रव्य (रूढ़ि) गुण और क्रिया इन चारों को आश्रयण करके शब्द किसी अर्थ को कहने में समर्थ होता है। इस नियम के अनुसार उक्त निर्विशेष—तत्त्व में शब्द मुख्य वृत्ति से प्रवृत्त नहीं हो सकता है " यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह " उस तत्त्व को कहने में असमर्थ वाणी मन सहित उपरत हो जाती है। " अवचनेनाह मौनमेवोत्तरं ददौ " इत्यादिक वचन भी इसी रहस्य को

❀ सूचना—विधर्मियों के लेखों के आधार से जिन शेखतकी और ऊँजी के पीर आदि कों को कबीर साहब के गुरु बताने का दुःसाहस कतिपय समालोचक कर रहे हैं, उनको सम्बोधन करके कबीर साहब ने उक्त बचन कहे हैं। इन बचनों से किसकी शिष्यता और किसकी गुरुता प्रकट होती है इसका विचार विज्ञ पाठक स्वयं कर लें।

लिए हुए हैं। यदि उस तत्व के विषय में कुछ भी न कहा जाय तो अज्ञानियों को बोध किस तरह हो सकता है; अत बोध की सिद्धि के लिए वेद ने उस तत्व का अभिधान अतद्व्यावृत्ति रूप से किया है। अर्थात् वह तत्व ऐसा (जैसा कि अज्ञानी लोग समझ रहे हैं वैसा) नहीं हैं। इस बात को पुष्पदन्ताचार्य ने भी कहा है कि "अतद्व्या वृत्या यं चकित मभिधत्ते श्रुतिरपि। स कस्य स्तोतव्यः कति–विध-गुणः कस्य विषयः। पदे त्ववर्चीने पतति न मनः कस्य न वचः॥ इस प्रसंग में कबीर साहब ने भी कहा है कि "बेदौ नकल कहै जो जाने। जो समुझै सो भलो न माने॥ इत्यादि। निस्तत्व के परिचायक सद्गुरु के ये बचन हैं कि—

शब्द

पंडित ! मिथ्या करहु विचारा, न वहाँ सिस्टि न सिरजन हारा।
थूल (अ) स्थूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा॥
जोति सरूप काल नहिं उहवाँ, वचन न आहि सरीरा।
करम धरम किछुवो नहिं उहवाँ, न वहँ मंत्र न पूजा॥
संजम सहित भाव नहिं उहवाँ, सो धौं एक कि दूजा।
गोरख राम एको नहिं उहवाँ, ना वहँ वेद विचारा॥
हरिहर ब्रह्मा नहिं सिव सक्ति, ना वहँ तिरथ अचारा।
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो (धौं) दूजा कि अकेला॥
कहँहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोइ गुरु हम चेला।

तथा— बी. श. ४२ पृ. १७४।

पंडित ! देखहु हिरदय विचारी, को पुरुषा को नारी ?
सहज समाना घट घट बोलै, वाके चरित अनूपा ।
वाको नाम काह कहि लीजै ?, (ना) वाके बरन न रूपा ॥
तैं मैं काह करसि नल बौरे ! का तेरा का मेरा ।
राम खोदाय सकति सिव एकै, कहुधौं काहि निहोरा ॥
बेद पुरान कोरान किताबा, नाना भाँति बखाना ।
हिन्दू तुरुक जइनि औ जोगी, येकल काहु न जाना ॥
छव दरसन महँ जो परवाना, तासु नाम मन माना ।
कहँहि कबीर हमहीं पै बौरे, ई सभ खलक सयाना ॥

बी. श. ४८ पृ. १८१

एक ही तत्व के अनेक नाम और गुणादिकों का वर्णन भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के लोगों ने किया है, जैसा कि इस पद्य से बोधित होता है कि "यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो । बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ॥ अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोऽयं वो विदधातु मोक्षपदवीं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥ परस्पर नाम रूपादि में औपाधिक भेद, तथा सरलता कठिनता प्रयुक्त साधनों में भेद होने पर भी सबही ज्ञानियों का लक्ष्य एकही रहा करता है ! जैसा कि साहब ने कहा है कि "समझे की मति एक है जिन समझा सब ठौर । कहहिं कबीर ये बीच के बलकहिं और की और । 'अनाथ सुज्ञानी कोटि को निश्चय निजमति एक । एक अज्ञानी के हिये, बरतत मतो अनेक । उसी 'तत्व' का श्रुतियों ने अन्तर्यामी, अन्तर्ज्योति, आत्मज्योति अक्षर, आत्मा आदिक नाना अभिधानों से वर्णन किया है ।

जैसा कि 'य आत्मा अपहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽ पिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छान्दोग्य उपनिषद्)। जो आत्मा पाप, मृत्यु, क्षुधा और पिपासा से रहित है। और सत्यकाम और सत्य संकल्प है, उसी को ढूँढ़कर जानना चाहिये। "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरोयं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणिभूतान्यन्तरोयमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृहदारण्यक अन्तर्यामि ब्राह्मण)। सबों के अन्तर वर्तमान होते हुए भी जिसको प्राणी नहीं जानते हैं, और जिसके सब प्राणी शरीर हैं, क्योंकि वह (अन्तर्यामी) भीतर रहकर सबों को स्फूर्ति देता है; वही अविनाशी आत्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है]। "अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैषत आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोन्यऽदार्तम्।" [इस अन्तर्यामी को न कोई देख सकता है न सुन सकता है न मन और बुद्धि से जान सकता है; क्योंकि इसके अतिरिक्त देखने वाला सुनने वाला जानने वाला कोई नहीं है। इसलिए यही आत्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है इससे भिन्न (ईश्वरादिक) मिथ्या हैं। "सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल मनण्व-ह्रस्वम-दीर्घमलोहित मस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाश मसङ्ग मरसमगन्ध मचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनो ऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्त-रमवाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। (बृहदारण्यक, अक्षरब्राह्मण)। याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि हे गार्गी ! तुम्हारा पूछा हुआ अक्षर अविनाशी आत्मा यही है, जिसका कि आगे वर्णन

किया जायगा। वह स्थूलादि परिमाण लोहितादि गुण आकाशादितत्व तथा चक्षु आदिक इन्द्रियों से भिन्न है। वह अन्दर है न बाहर और न उसको कोई खाता है न वह किसी को खाता है। अथात् भोग्य और भोक्ता दोनों से रहित है।

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"। (हे गार्गी ! इसी अक्षर के अधीन निश्चित रूप से सूर्य और चन्द्रमा रहते हैं। "अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवती त्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति" । (वृहदारण्यक कूर्च ब्राह्मण) । [जनक महाराज पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य जी ! सूर्य और चन्द्रमा के अस्त होने पर अग्नि के बुझ जाने पर और किसी मार्ग दर्शक शब्द के न आने पर भी (घोरान्धकार में) यह मनुष्य किसके प्रकाश से व्यवहार करता है ? । मुनि कहते हैं—ऐसी दशा इसका प्रकाश कर्त्ता आत्माही है। (अपने) आत्मा ही के प्रकाश से यह बैठता है, जाता है, सब कामों को करता है. और लौटकर चला आता है। "कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः"। [वह आत्मा पुरुष कौन है ? उत्तर—जो यह ज्ञान रूप से इन्द्रिय और प्राणों के समीप रहता हुआ हृदयस्थ बुद्धि में स्वयं प्रकाश रूप से वर्तमान है। इसी निरुपाधिक स्वयं ज्योति का सद्गुरु ने भी सबसे प्रथम "अन्तर जोति शब्द एक नारी" इत्यादि रमैनी से बोधन कराया है। यद्यपि आत्मा सर्व व्यापक है, तथापि हृदय में उसकी उपलब्धि होने के कारण वह 'अन्तर्ज्योति' कहा गया है। यही आत्मा कार्य कारण संघात

का द्रष्टा (साक्षी) है, तथा अविनाशी होने के कारण सुषुप्ति का भी साक्षी है। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टे विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। ननु तद् द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् "।

माया की रचना

जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि है। दोनों ही अनादि होते हुए भी चेतनात्मा अनादि अनन्त है। और माया अनादि सान्त है। "तम आसीत्तमसा गूढ़ मग्रे" इत्यादि बचनों से माया का अभिधान श्रुति ने किया है। कबीर साहब ने भी माया की अनादिता का वर्णन "तहिया गुपुत थूल नहिं काया। ताके न सोग ताकि पै माया॥ तथा, नारि एक संसारहिं आई। माय न वाके बापहिं जाई॥ गोड़ न मूँड न प्राण अधारा। ता महँ भभरि रहा संसारा॥" इत्यादि पद्यों से किया है। यही माया चेतन की सत्ता से कार्य कारण रूप संघात की जननी होने के कारण "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" इसके अनुसार प्रकृति भी कही जाती है। और यही माया सत्वगुण की अप्रधानता से अविद्या रूप को धारण कर लेती है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामी का कथन है कि "चिदानन्दमयब्रह्म प्रतिबिम्बससन्विता। तमोरजःसत्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा। सत्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। माया बिम्बंवशी कृत्य तां स्यात सर्वज्ञ ईश्वर"॥ एकही तत्व माया रूप उपाधि के कारण ईश्वर, और अविद्या उपाधि से जीव, कहा जाता है। चेतनता में दोनों की समानता होते हुए भी उपाधि की शुद्धता और अशुद्धता के कारण सर्वज्ञता और अल्पज्ञता आदिक गुणों का महान् अन्तर होगया है। इस प्रसङ्ग में सद्गुरु ने भी कहा है कि "नारी एक पुरुष दोय जाया, बूझहु पण्डित ज्ञानी"। और

अविद्या का वर्णन जुलाहिन के रूप से किया है, जैसे कि "खुर खुर-खुर खुर चाले नार। बैठि जुलाहिन पलथी मार" ॥

इसी माया से रज सत्व और तमोगुण की प्रधानता के कारण ब्रह्मा विष्णु और महादेवजी की सृष्टि हुई है। उपाधि दृष्टि से भेद होते हुए भी वस्तुत: ये सब उस 'तत्व' से भिन्न नहीं है, जैसा कि कैवल्य श्रुति का यह वचन है कि "स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रश्चेति" सद्गुरु ने भी कहा है कि "रजगुन ब्रह्मा तमगुन संकर सत्त गुना हरि सोई। कहँहिं कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुरुक न कोई " इसी प्रकार जीवों के भोगोन्मुख कर्मों के अनुसार बार २ सृष्टि और प्रलय हुआ करता है। माया के अघटित–घटना–पटीयसी पने के कारण चिदाकाश में किसी प्रकार का शंका–पंक नहीं लग सकता है। बीजांकुरन्याय से पूर्व २ कर्मों से उत्तर २ शरीरादिकों का निर्माण, तथा नाना शरीरों से नाना जन्म–दायक कर्म–समूह होता ही रहता है। जिसके कारण सात्विक राजस और तामस कर्मों के फलानुरूप देव मानव और दनुजादि शरीरों को धारण करता हुआ यह जीवात्मा चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया करता है।

बन्धन और उसकी निवृत्ति

इसके बन्धन का एक मात्र कारण अध्यास है जिसको कि जड़ चेतन की ग्रन्थि भी कहते हैं। बात यह है कि अज्ञान—वश जीवात्मा अपने (चेतन के) धर्म आनन्दादिकों को जड़ के [विषयों के] धर्म मान लेता है। अर्थात् यह सुख भोग मुझको विषयों से मिला है, ऐसा जान लेता है। और जड़ के धर्म वर्ण, आश्रम, अवस्था, आधि, व्याधियों को अपने (चेतन के) धर्म मान लेता है। इसलिये परमानन्द स्वरूप

होता हुआ भी अपार दुःख सागर में डूबा रहता है। इसके दुःख का एक मात्र कारण अज्ञान जन्य भ्रम है। जैसा कि सद्गुरु ने कहा है कि—

अपन पौ आपुही बिसरो।
जैसे सुनहा काच-मंदिल में भरमतें भूँसि मरो।
जौं केहरि बपु निरखि कूप-जल, प्रतिमा देखि परो॥
वैसेही गज फटिक-सिला पर, दसनन्हि आनिअरो।
मरकट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिरो॥
कहँहिँ कबिर ललनी के सुगना, तोहि कौने पकरो।

जिस प्रकार प्रकाश के अतिरिक्त अन्धकार की निवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती है।। इसी प्रकार अपने शुद्धानन्द स्वरूप के साक्षात् ज्ञान के बिना अन्यान्य उपायों से अज्ञान की भी निवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसा कि श्रुति का वचन है कि "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय" [अपने शुद्ध स्वरूप को जानने से ही जीवात्मा मृत्यु रहित हो सकता है; क्योंकि मुक्ति का मार्ग दूसरा नहीं है] इसी बात को सद्गुरु ने भी कहा है कि "आपु आपु चेते नहीं (औ) कहौं तो रुसवा होय। कहँहिँ कबीर जो सपने जागे, अस्ति निरास्ति न होय"। तथा "सुख बिसराय मुकुति कहाँ पावै। परिहरि साँच झूठ निज धावै॥ इत्यादि। अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति के लिए अपरोक्ष स्वरूप ज्ञान का होना आवश्यक है, तथा निरुपाधिक कैवल्य पद की प्राप्ति के लिए निरुपाधिक कैवल्य ज्ञान ही उपयोगी हो सकता है, सोपाधिक ज्ञान नहीं, क्योंकि सोपाधिक ज्ञान अयथार्थ है। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है। अतः निरु-

पाधिक ज्ञान से ही उसका साक्षात्कार हो सकता है । जो वस्तु जैसी हो उसका ठीक वैसा ही ज्ञान होना यथार्थ कहलाता है । जैसा यह लक्षण है कि "तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थम्" इससे जो विपरीत ज्ञान है वह अयथार्थ [मिथ्या] ज्ञान कहा जाता है। फलतः निरुपाधिक (केवल) ज्ञान से ही साक्षात् मुक्ति मिल सकती है सोपाधिक (विशिष्ट) ज्ञान से नहीं; इस विषय में श्रुति-प्रमाण ऊपर दिया जा चुका है । इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने तटस्थ ईश्वरवादी, अर्थात् अपने स्वरूप से भिन्न लोकविशेषनिवासी ईश्वर को मानने वाले, परोक्ष-ज्ञान वादी, गुणोपाधि से भिन्न नाना देवों की उपासना करने वाले तथा अनात्म भौतिक-ज्योति अनहद शब्दादिकों की उपासना से मुक्ति मानने वालों का खण्डन इस ग्रन्थ में कई स्थलों पर किया है । तत्वदृष्टि से कबीर साहब का यह कथन श्रुति से अनुमोदित है। अतः इस कथन को देवादिकों के प्रति निष्कारण आक्रमण ठहराना समालोचना कर्ताओं की अज्ञानिता है । उदाहरणार्थ कुछ वचन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं । " नियरे न खोजै बतावै दूरि । चहुँदिसि बागुरि रहलि पूरि ।"

साम्प्रदायिक नाम

इस प्रसंग में यह बात जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में कहे हुए राम, हरि, शार्ङ्गपाणि, यादव राय गोपाल आदिक साम्प्रदायिक नाम तथा साहब, राउर, खसम आदिक नाम उक्त प्रत्यक् शुद्ध चेतन को बोधन कराने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। लोक विशेष निवासी तटस्थ ईश्वर और सादि [अवतार] राम के विषय में नहीं

क्योंकि अपने राम और गोपाल को उन्होंने साक्षात् सर्वत्र वर्तमान बताया है। यह वार्ता इन पद्यों से स्पष्ट है। "दसरथ सुत तिहुँलोक बखाना। रामनाम का मरम है आना॥ गये राम और गये लछमना। तिरिबिधि रहौं सभनि मां बरतौं नाम मोर रमुराई हो। बिनुगोपाल ठौर नहिं कतहू नरक जात धौं काहे। हृदया बसे तेहि राम न जाना" इत्यादि।

अपरोक्षार्थ प्रधान उपदेश

उक्त तत्व के बोध के लिये दिये हुए कबीर गुरु के उपदेश में इतर उपदेशों से यह विलक्षणता है कि वह अपरोक्षार्थप्रधान है, जैसे "सो तो कहिये ऐस अबूझ। खसम अछत ढिग नाहीं सूझ॥ हृदया बसे तेहि राम न जाना। पूरब दिसा हंस गति होई। है समीप संधि बूझै कोई॥ एरे मूरुख नादाना तैंने हरदम रामहिं ना जाना॥ इत्यादि। इसी अस्वारस्य से "तत्व मसी इनके उपदेशा" इस स्थलपर बार २ पराभिमत सूचक 'इनके' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस रहस्य को न जानने वाले कबीर साहब के सिद्धान्त में सन्दिग्ध चित्तवाले कतिपय आग्रही पुरुष उक्त रमैनी के शब्दों को तोड़ मरोड़ कर स्वसम्प्रदाय विरुद्ध स्वाभिप्रेत की सिद्धि के लिये निष्फलप्रयत्न करते हुए कालिदास जी की इस सूक्ति को चरितार्थ करते हैं। "केवा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः" [व्यर्थ अकांड तांडव करने वाले अवश्यही पारास्त होते हैं]।

निरुपाधिक तत्व

इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक सोपाधिक का खंडन और निरुपाधिकतत्व का मंडन साद्यन्त वर्तमान है। अतः तत्व की ओर

दृष्टि न देकर केवल रामादिक नामों की समानता से कबीर साहब के विषय में यह स्थिर करना कि "कहीं पर तो भक्ति के आवेश में आकर उन्होंने अवतारों का प्रतिपादन किया है, जैसे कि—कहैं कबीर एक राम भजे बिनु बाँधे जमपुर जासी। इत्यादि। और कहीं पर अवतारों का खंडन किया है। जैसे कि 'गये राम औ गये लछमना' तथा 'जाहि राम को करता कहिये तिनहुँ को काल न राखा, इत्यादि। अत: वे असंयतभाषी (कभी कुछ और कभी कुछ कहने वाले) थे।' अपनी तुच्छ बुद्धि पर पश्चात्ताप न करके एक महाज्ञानी महापुरुष और महात्मा के विषय में इस प्रकार विष उगलना समालोचकों की हृदय हीनता और बुद्धि की दुर्बलता का परिचायक है। इस प्रसंग में विद्वज्जन—वन्दिता सीता की यह उक्ति स्मरण हो आती है—' विपुलहृदयैकवेद्ये, खिद्यति शास्त्रेन मौर्ख्ये स्वे। प्राय: कंचुकिकारं निन्दति शुष्कस्तनी नारी।' [जिस प्रकार सूखे स्तन वाली स्त्री मूर्खतावश अपने स्तनों की दशा को न समझ कर चोली बनाने वाले बेचारे दरजी की बराबर निन्दा किया करती है, इसी प्रकार शास्त्र—चक्रमण करने वाले मूर्ख लोग उदार हृदय वाले महापण्डितों से जानने योग्य शास्त्र को न समझने के कारण उस पर नाना प्रकार के मिथ्यादोषारोपण किया करते हैं। परन्तु अपनी बुद्धि की तुच्छता का वे कभी विचार नहीं करते। कबीर साहब वैष्णव सम्प्रदाय के परमोद्धारक परमपूज्य श्रीयुत स्वामीरामानन्दजी महाराज से दीक्षित हुए थे। अत: वैष्णव सम्प्रदाय के नाम राम, गोपाल, हरि, आदिकों का परमतत्त्व के स्मरण करने के लिये प्रयोग करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। सभी महापुरुषों ने साम्प्रदायिक नामों से ही तत्त्वोपदेश तथा तत्त्व-स्मरण किया है।

यथा 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी, यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयःशब्दो यथार्थाक्षरः । अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ।' इत्यादि । (अर्थात् यह महादेव तुम सबों को मुक्ति प्रदान करे जो कि वेदान्त में एक पुरुष कहा जाता है । और जिसको प्राणायाम के द्वारा मुक्ति चाहने वाले ढूंढ़ा करते हैं ।

विचार की प्रधानता

यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि मुक्ति का साक्षात् साधन आत्मबोध (निजरूप का लखना) है । 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः ।' आत्म साक्षात्कार के बिना मुक्ति नहीं हो सकती है । मुक्ति के साधन ज्ञान में सब ज्ञानी महात्माओं का एक मत होने पर भी ज्ञान के साधन आत्मविचार और उपासनादिकों में (सम्प्रदाय भेद और प्रकिया भेद से) मत भेद है । जिनको अपने अधिकारानुरूप जिस साधन से आत्मबोध हुआ है, उन्होंने इतर–मत–निरास पूर्वक उसी मार्ग का प्रतिपादन किया है । यदि साधनों में श्रेष्ठत्वाश्रेष्ठत्व का विवेक किया जाय तो आत्मविचार (निज पारख) की सर्व प्रधानता निर्विवाद सिद्ध है । विवेक वैराग्य और शम दमादि षट्सम्पत्ति वाले उत्तम अधिकारियों को केवल विचार (पारख) ही के द्वारा निजरूप का साक्षात् भान हो जाता है । जैसा कि श्रुति का वचन है, 'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनंपाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वंपाप्मानं तपति विपापो विरज इत्यादि ।' (जिससे कि आत्मा असङ्ग निर्विकार है, अतः सद्गुरु के उपदेश से आत्मा की असङ्गता जान कर

शान्ति (वाह्येन्द्रियों का निरोध) दान्ति (मन का निरोध) उपरति (सर्वैषणात्याग और निष्कामता) और तितिक्षा (शीतोष्णादि द्वन्द्वसहन) को धारण करता हुआ उत्तमाधिकारी कार्य कारण संघात में ही प्रत्यक्-चेतन (शुद्ध निजरूप) को व्यापक रूप से देखता है। उक्त रूप से अपने रूप को जानने वाला सर्वपाप और शोक मोहादि से रहित होकर जीते जी मुक्त हो जाता है।

अविचार से प्राप्त हुए बन्धन की निवृत्ति का एक मात्र उपाय विचार (पारख) ही है। आत्म-विचार (पारख-पद) मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है; अतः उसके अधिकारी भी शुद्धहृदय वाले उत्तम पुरुष ही हो सकते हैं। और जो मध्यम पुरुष देहाध्यासादिक से दूषित हृदय होने के कारण आत्मविचार रूपी कसौटी (पारख-पद) पर नहीं टिक सकते हैं; उन्हीं के लिए वेदान्त शास्त्र में ' अहंब्रह्मास्मि ' इस प्रकार प्रत्ययावृत्ति रूप निर्गुण ब्रह्म की उपासना का विधान है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामी ने 'ध्यानदीप' में कहा है। ' अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात्। यो विचरं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥ अत्यन्त मन्दबुद्धि वाले दूषित हृदय होने के कारण आत्मविचार नहीं कर सकते हैं, अत: उनको उचित है कि वे सदैव ब्रह्म की "अहंब्रह्मास्मि२" इस प्रकार उपासना किया करें। 'देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान्। ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः।' देहादि अध्यास के रहते हुए मन्दाधिकारी आत्मैकत्व ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। 'ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वे नैव वर्णितम्। महावाक्यैस्तथाप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः' (यद्यपि शास्त्रों में ब्रह्मात्मा का महावाक्यों से अभिन्नत्वेन वर्णन किया गया है, तथापि

बिना विचार के उसका साक्षात् बोध नहीं हो सकता है। " उपास्तीना-मनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् । विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः।" [ब्रह्मोपासना का विधान वेदान्त के ग्रन्थों में किया गया है। अतः जो मन्दाधिकारी अपनी बुद्धि की मन्दता के कारण विचार (पारख) करने में असमर्थ हैं उनको उचित है कि वे ब्रह्मज्ञानी गुरु से ब्रह्मोपदेश सुन कर उसको "अहंब्रह्मास्मि" 'अहंब्रह्मास्मि' इस प्रकार प्रत्ययावृत्तिरूप उपासना किया करें]। 'अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः। विचाराक्षम आत्मान मुपासीतेति सन्ततम्"। (आत्म गीता में यह वार्ता बार २ स्पष्ट रीति से कही गयी है कि जो आत्मविचार (निज रूप का पारख) करने में असमर्थ हैं वे निर्गुण–ब्रह्मोपासना करें। इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायगा।

सद्गुरु का आश्रय-ग्रहण

उक्त आत्म-विचार सद्गुरु के उपदेश के बिना नहीं हो सकता है; अतः उत्तमाधिकारी को उचित है कि वह आत्मनिष्ठ तत्व वेत्ता [परमपारखी] सद्गुरु की शरण में विधि पूर्वक उपस्थित होकर आत्मोपदेश से आत्म-लाभ प्राप्त करे। जैसा कि श्रुति और स्मृतियों के बचन हैं। "तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" तथा "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया, उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।" कबीर साहब ने भी कहा है कि "सन्तो भक्ति सतोगुरु आनी। नारी एक पुरुष दोइ जाया बूझहु पंडित ज्ञानी।" उत्तम साधन होने के कारण उत्तम अधिकारियों को 'बूझहु पंडित ! करहु विचारा।' "बुझ बुझ पंडित पद निरबान" 'सन्त महन्तो ! सुमिरहु सोई।' इस प्रकार सम्बोधन करके कबीर साहब ने आत्म-

विचार (पारख) का ही सर्वत्र उपदेश दिया है । तथा "करु विचार विकार परिहरु तरन तारन सोय । कहँहिं कबीर भगवंत भजु नल दुतिया अवर न कोय ।

आत्म-साक्षात्कार के प्रकार-भेद

यहाँ पर इस रहस्य का उद्घाटन कर देना अत्यन्त आवश्यक है । सन्त-मत के प्रवर्तक सद्गुरु कबीर साहब का उक्त आत्म-विचार में वेदांत के प्रक्रिया ग्रन्थों से सम्वाद होते हुए भी जिस अंश में मत भेद है वह दिखाया जाता है । पूर्वोक्त रीति से सत्व शुद्धि वाले उत्तम अधिकारियों को विचार द्वारा और देहाद्यासक्ति वाले मन्दाधिकारियों को ब्रह्मोपासना द्वारा आत्म साक्षात् करने का विधान किया गया है । इस विषय में सद्गुरु के ये विचार हैं कि जो मन्दाधिकारी सत्वशुद्धि के अभाव से आत्म विचार नहीं कर सकता है वह निर्गुण ब्रह्मोपासना भी न कर सकेगा, क्योंकि महावाक्य–जन्य परोक्ष ज्ञान से होने वाली ब्रह्मोपासना मन की कल्पना है । इस कारण उससे हृदय के विकार अहंकारादिक की निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महा अहंकार की उत्पत्ति होती है; जो कि वासना वाले मन्दाधिकारियों को हानि पहुँचा सकती है । वह है अपने आप को ब्रह्म मानना, यथा "यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते । तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् । [मन्दाधिकारी को उचित है कि वह तब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्मोपासना करे, जब तक अपने हृदय में ब्रह्मत्वाभिमान (मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार) न हो जाय । इस प्रकार प्रति दिन वैसे ही करता हुआ मरण पर्यन्त ब्रह्मत्वाभिमान को हृदय में धारण किये रहै] । यहाँ पर यह विचारणीय है कि

जो हृदय वासना-पंकिल है, उसमें ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है ; अतः विकारों को दूर करने के लिए भी विषयानित्यता और परिणाम विरसता आदिक विचार ही उपयुक्त है । "कुतःशाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे स्थितः ।' (उस वृक्ष में हरे हरे पत्ते किस प्रकार निकल सकते हैं जिसके खोखले में अग्नि जलती हो । इस वचन के अनुसार कामनादिक विकार वाले पुरुष पूर्वोक्त विचार के बिना ब्रह्मोपासना से आत्म साक्षात् नहीं कर सकते, अतः विकार निवृत्ति के लिए विचार करने की अनुमति सद्गुरु ने इस प्रकार दी है ॥ "करु विचार जिहि सब दुख जाई । परिहरि झूठा केर सगाई ॥" भव अति गरुआ दुख करि भारी । करु जिय जतन जो देखु विचारी" ॥ तथा " खराखोट जिन्ह नहिं परखाया ॥ चहत लाभ तिन्ह मूल गमाया । इत्यादि

वस्तुतः यमनियमादि अनुष्ठान पूर्वक किये जाने वाले संसारानित्यादि-विचार से सत्व शुद्धि हो जाने पर ब्रह्मोपासना की आवश्यकता ही नहीं रहती । जो विचार करने में असमर्थ हैं उनको विचार शक्ति प्राप्त करने के साधनों का अनुष्ठान करना चाहिये । फलतः ब्रह्मोपासना उक्ताधिकारियों के लिए उपयुक्त नहीं । इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने यह कहा है कि 'मैं तोहिं जाना तैं मोहिं जाना मैं तेहि माहिं समाना । उतपति परलय एकहु न होते तब कहु कवन ब्रह्म को ध्याना ॥ जोगिया ने एक ठाठ रचो है राम रहा भर पूरी । औषध मूल किछू नहिं वाके, राम सजीवन मूरी ॥ तथा " बुझलीजे ब्रह्मज्ञानी । घूर घूर बरषा बरखावो परिया बूंद न पानी । चिउंटी के पग हस्ती बाँधो छेरी बीगर खाया ॥ इत्यादि । भाव यह है कि काल्पनिक ब्रह्मत्वाभिमान से क्षणिक शान्ति प्राप्त होने पर भी

नाना कामनाओं की विद्यमानता से तथा ब्रह्मत्वाहंकार को स्वयं अभिमान रूप होने के कारण मन्दाधिकारियों को ब्रह्मोपासना से परमशान्ति नहीं मिल सकती है। इस बात को व्यंग्य रूप से कबीर साहब ने इस साखी में कहा है "यह मन तो शीतल भया जब उपजा ब्रह्मज्ञान। जेहि बसंदर जगजरै सो पुनि उदक समान?॥ इसका अर्थ बीजक ग्रन्थ के टीकाकार काशी कबीरचौरा के महात्मा रामरहस्य साहब ने इस प्रकार किया है। "मूढ़ सबै ज्ञानी भये आपै ब्रह्म कहाय। तथा, ब्रह्म होय सीतल भये सीतल तृप्ती रूप। अनल समानी ताहि जल परे भरम तम-कूप॥ (पंचग्रन्थी, टकसार)। दूसरा विषम्वाद यह है कि तत्वबोध के लिए दिया हुआ कबीर साहब का उपदेश प्रत्यक्षार्थप्रधान है। 'तत्व-मस्यादि' के समान [प्रत्यभिज्ञावत्] परोक्षापरोक्षार्थोभय प्रधान नहीं है। इसी अस्वारस्य से "तत्वमसी इनके उपदेसा।" इस रमैनी में पराभिमत सूचक इनके पद का प्रयोग किया गया है।

आत्म विचार और ब्रह्मोपासना में यह भी एक अन्तर है कि विचार वस्तु के अनुरूप होता है, अतः वह कर्त्ता के अधीन नहीं। और ब्रह्मोपासना कर्त्ता के अधीन होती है; तथा ध्यान की निवृत्ति से बिलीन हो जाती है। यह वार्ता वेदान्तों के ग्रन्थों में स्पष्ट है। इसी अभिप्राय से सद्गुरु ने विचार की श्रेष्ठता बताते हुए कहा है कि 'ताजी तुरकी कबहुँ न साधेउ चढ़ेउ काठ का घोरा हो'। उक्त आत्म-विचार में अतीत विषय-चिन्तन, वर्तमान विषयासक्ति तथा भावी स्वर्गादिकों की इच्छा ये तीन प्रतिबंधक होते हैं। इन्हों की निवृत्ति प्रयत्न पूर्वक करना अत्यन्त आवश्यक है।

षड्लिङ्ग-विचार

कबीर साहब के निर्दिष्ट तात्पर्य के निर्णय के लिए उपक्रमादक षड्-लिंगों का विचार भी आवश्यक है। जिस प्रकार आलंकारिक आदिकों ने शब्दार्थ सन्देह स्थल में " संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः । सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे । विशेषस्मृतिहेतवः" ॥ (वाक्यपदीयेभर्तृहरिः । उक्त प्रकार से अर्थनिर्णायकतया संयोगादिकों को माना है । इसी प्रकार वेदान्तादि स्थलों में तात्पर्य निर्णय के लिये षडलिङ्ग माने गये हैं । यथा " उपक्रमोपसंहारावभ्यासोपूर्वता फलम् । अर्थऽवादोपपत्तीच लिंगं तात्पर्य निर्णये" । प्रकरण–प्रत्तिपादित अर्थ का ग्रन्थ के आदि और अन्त में वर्णन करना 'उपक्रमोपसंहार की एकता' रूप लिंग है। जैसे कि बीजक के आदि में जिस निर्विशेष सर्वादिरूप आत्मतत्व का अन्तरजोति और रामरूप से वर्णन किया है" उसी का ग्रन्थ की समाप्ति में " जासो नाता आदिका बिसर गया सो ठौर " तथा ' साखी आँखी ज्ञान की समुझु देखु मन मांहि । बिनु साखी संसार का झगरा छूटत नाहिं ।" साक्षी [अन्तर्यामी] रूप से वर्णन किया है। और प्रतिपादित अर्थ का पुनः २ कथन 'अभ्यास' कहलाता है। यथा " रहहु सँभारे राम बिचारे कहता हौं जो पुकारे हो ।" "राम बिना नल होइ हो कैसा, बाट मांझ गोबरौरा जैसा ॥" आदि को ऊदेस जाने तासु वेष बाना " तथा प्रतिपाद्य–वस्तु की प्रमाणान्तर–अविषयता 'अपूर्वता' कहलाती है। यथा "रूप निरूप जाय नहिं बोलो। हलुका गरुआ जाय न तोली ॥ तथा प्रतिपाद्यवस्तु के ज्ञान से परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि को 'फल' कहते हैं। यथा "बहुत दुःख है दुःख की खानी। तब बचिहो

जब रामहिँ जानी ॥ रामहिँ जानि जुगति जो करई । जुगतिहि ते फंदा नहिं परई ॥ तथा प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशंसा को 'अर्थवाद' कहते हैं। यथा 'राम नाम का सेवहु बीरा, दूर नाहिं दुरि आसा हो। आन देवका सेवहु बौरे ई सभ झूठी आसा हो। तथा नाना दृष्टान्तादिकों से प्रतिपाद्य की सिद्धि को 'उपपत्ति' कहते हैं। यथा "इच्छा के भवसागरे बोहित रामअधार। कहहिँ कबिर हरिसरण गहु, गोबछ्-खुर--विस्तार ॥ इत्यादि ।

अन्तिम लक्ष्य एक है

उक्त षड्विध लिंगों के पर्यालोचन से कबीर साहब का तात्पर्य विचार द्वारा शुद्धात्म-बोध कराने में ही है। मंदाधिकारियों के लिए प्रतिपादित ब्रह्मोपासना में नहीं। इसी ब्रह्मोपासना के निरास में सबके सब सन्त मतानुयायी तथा सम्प्रदायी एक मत हैं। इसका एक मात्र कारण उस ब्रह्मोपासना के द्वारा अशुद्ध हृदय वालों को—जो कि ब्रह्मोपासना के अधिकारी बताये गये हैं-पहुँचने वाली हानि की सम्भावना ही है। जैसा कि बहुधा देखने में आता है। सद्गुरु के इस उच्च सिद्धान्त को नहीं जानने वाले कतिपय संशयात्माओं ने "ई निश्चै इन्ह के बड़ भारी। वाहिक बरनन करु अधिकारी ॥ "कहाँ लौं कहौं जुगन की बाता, भूले ब्रह्मन चीन्हें बाता ॥' इत्यादि अनेक स्थलों में परस्पर विरुद्ध असंगत और मूल कारके आशय के विरुद्ध तथा पुनरुक्ति आदिक अनेक दोषों से दूषित रेखाङ्कित पाठ-भेदों की तरह अपने से कल्पित नाना पाठान्तर बना कर स्वाभीष्ट की सिद्धि के लिए सम्प्रदायोच्छेद करने का महा भयंकर और निष्फल प्रयत्न किया है। स्थाना-भाव से इस समय विस्तृत विवेचना नहीं की जाती है।

सबही कबीर पंथीग्रन्थ तथा भजनों में कुछ २ प्रक्रिया भेद होते हुए भी मंदाधिकारियों से अनुष्ठित उक्त ब्रह्मोपासना के निरास में उन सबों की एक वाक्यता है। ब्रह्मोपासना में होने वाले अहंकार का उल्लेख "यावच्चिन्त्य स्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते। यावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत्॥ इत्यादि पद्यों से पहले कर चुका हूँ। इसी बात को महात्मा श्री रामरहस्य साहब ने स्वविनिर्मित पञ्चग्रन्थी में कहा है "जमाएक—पद बहु भया कारण हंता पाय॥ हन्ता बासी जीयरा सोई ब्रह्म कहाय॥" उक्त महात्मा ने शुद्ध चेतन (निजपद) का स्मरण ' राम भूमिका, 'आतमराम, रमैया रमिता आदिक शब्दों से किया है। और विचार (पारख) द्वारा उत्पन्न होने वाले अपरोक्ष ज्ञान से उसके साक्षात्कार होने का सर्वत्र वर्णन किया है, जो कि सद्गुरु के वचनों के सर्वथा अनुकूल है। कतिपय टीका-कार अविद्योपाधिक जीव रूप को ही परमार्थ और स्थिर पद (जमा) बताते हैं। उनका यह सिद्धान्त "साखी सब्दी गावत भूले आतम खबरि न जाना"। इत्यादिक सद्गुरु के बचनों के अनुरूप नहीं है। क्योंकि जो कर्म परतन्त्र संसरण शील सोपाधिक चेतन है, उसी की जीव संज्ञा है 'कर्महि के बस जीव कहतु है कर्महि को जिव दीन्हा" (बीजक)। "जीवोवै प्राणधारणात्" जो प्राणों को (सूक्ष्म शरीर को) भरकर संसार में भ्रमण करता रहै, उसी को 'जीव' कहते हैं। ऐसी दशा में वह जमा पद [स्थिरपद, या निजपद।] कैसे कहा जा सकता है। मुक्त होने पर तो प्राणोपाधिकी निवृत्ति से उसकी जीव संज्ञा ही नहीं रहती, अतएव सद्गुरु ने " ठाढे देखैं हंस कबीर " इत्यादिस्थलों में मुक्तात्माओं को लक्ष्य करके ' हंस कबीर ' पद का प्रयोग किया है। जीव का तो यह लक्षण है

कि " जीव होय सो जुग २ जीवै। उतपति परलय माहीं, देह धरै भुगतै चौरासी निरभय कबहूं नाहीं ।।' श्रीयुत गोस्वामी जीने भी कहा है कि 'परबस जीव स्वबस भगवन्ता'। जीवात्मा की दुःख दशा का वर्णन सद्गुरु ने रमैनियों में विस्तार पूर्वक किया है। यथा' जियरा आपन दुखहिं संभारू। जे दुख व्यापि रहल संसारू॥ उपजि विनसि फिर जो इनि आवै। सुख को लेस न सपनेहु पावै॥ इत्यादि।

बिना परिचय उपासना अपूर्ण है

यहाँ तक यह कहा गया कि विचार द्वारा निरुपाधिक (शुद्ध) स्वरूप के साक्षात्कार से ही कैवल्य पद (मुक्ति) प्राप्त हो सकता है। सोपाधिक (साकेतादि लोक विशेष निवासी) ईश्वरादि के ज्ञान से नहीं। इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने अपने स्वरूप से भिन्न लोक विशेष निवासी परोक्ष तटस्थ ईश्वरादिकों का खंडन किया है। " यथा-चाचिक कहाँ पुकारो दूरी। सो जल सकल रहा भर पूरी॥ औ, कहहु हो अंमर! कासो लागा ? चेतन हारे चेत सुभागा ॥" तथा "नियरे न खोजै बतावै दूरि, चहुँ दिसि बागुरि रहलि पूरि॥" इसी प्रकार राम के परिचय बिना केवल रामनाम की उपासना करने वाले अन्ध श्रद्धालु उपासकों को लक्ष्य करके इस पद्य में उनकी उपासना की अपूर्णता बतायी गयी है। 'हरि मोरा पिउ मैं राम की बहुरिया। राम बड़ो मैं तनकि लहुरिया॥ अन्त में कहा है—कहहि कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुकुति को दाता'। बीजेश्वर वादियों का यह मत है कि बीज वृक्ष-न्याय से यह संसार ईश्वर का परिणाम है। उसका खंडन कबीर साहब ने इस प्रकार किया है। " जोपै बीज रूप भगवान तो पंडित का पूछहु आन॥

माया और गुण त्रयरूप उपाधि के आश्रयण से नाना अवतार और नाना देवताओं का आविर्भाव हुआ करता है। यह वार्ता "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" इत्यादि बचनों से प्रतिपादित होने के कारण सर्व सम्मत है। और सोपाधिक उपासना से निरुपाधिक (प्रत्यक्चेतन) की प्राप्ति नहीं हो सकती (यह पहले कहा जा चुका है) इसी आशय से कबीर साहब ने अवतारोपसना तटस्थेश्वरोपासना, तथा नाना देवोपासना में अपना अस्वारस्य प्रकट किया है। यथा "सन्तो! आवे जाय सो माया, है प्रतिपाल काल नहिँ वाके ना कहुँ गया न आया। अन्त में कहा है कि "दस अवतार ईसरी माया करता करि जनि पूजा। कहहिँ कबीर सुनहु हो सन्तो! उपजै खपै सो दूजा" ॥ तथा "रजगुन ब्रह्मा तमगुन संकर सत्त गुना हरि सोई। कहँहिँ कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुरुक न कोई ॥"

त्रिदेवोपासना

गुण त्रय प्रधान तीनों देवता सर्जन, पालन और संहार रूप कार्य को करने वाले अधिकारी पुरुष हैं। और अधिकारी पुरुषों के लिए यह नियम है कि "अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्"। अधिकारी पुरुष अपने अधिकार की समाप्ति के अनन्तर मुक्ति पद को प्राप्त करते हैं, क्योंकि सत्व, रज और तम ये तीनों गुण बन्धन कारक हैं। यह वार्ता गीता के १४ वें अध्याय में 'तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशक मनामयम्' इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है। दूसरी रमैनी की टीका में भी इस विषय में प्रकाश डाला गया है। फलत: त्रिदेवोपासना में कबीर साहब के अस्वारस्य का यही बीज है "रजगुन ब्रह्मा तम गुन संकर सत्तगुना हरि सोई।"। कहँहिँ

कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरक न कोई "इत्यादि"। अवतारोपासना को कबीर साहब ने सर्वथा निष्फल नहीं बताया है, किन्तु मायिकता के कारण उससे वे मुक्ति होना नहीं मानते हैं, यह वार्ता "जदपी फल उत्तिम गुन जाना। हरि छोड़ मन मुकुती उनमाना इत्यादि बचनों से व्यक्त है।

ज्ञान-साधक-विचारोत्पत्ति के साधन

अहिंसा

अन्तःकरण में मल विक्षेप और आवरण ये तीन दोष रहा करते हैं। कर्मानुष्ठान से मल दोष की निवृत्ति होती है। वह कर्म विहित और प्रतिषिद्ध रूप से दो प्रकार का है। जिन कर्मों के करने का विधान वेदादि सत्शास्त्रों ने तथा महात्माओं ने किया है, वे विहित कर्म कहलाते हैं "जैसे अहरहः सन्ध्यामुपासीत" तथा गुरु पूजादिक। और जिन कर्मों के करने का निषेध किया है, वे निषिद्ध कर्म कहलाते हैं। जैसे–हिंसा और असत्य भाषणादिक "माहिंस्यात्सर्वा भूतानि" (किसी प्राणी को न मारो) अवश्यमेवहि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" (किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं। "जिव जनि मारहु बापुरा सबके एके प्रान। तिरथ गये नहिं बाँचिहो कोटि हिरा दे दान।" इत्यादि श्रुति स्मृति और महात्माओं के बचनों से सर्वत्र [यागादिकों में] हिंसा सर्वथा निषिद्ध हैं। यद्यपि "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि विशेष विधि से "माहिंस्यात् सर्वाभूतानि" इस सामान्य शास्त्र का बाध होना "सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्" इत्यादि न्यायानुमोदित है। तथापि, "सतिबिरोधे बलीय

साहि दुर्बलं बाध्यते । " इस नियम से उक्त सामान्य विधि हिंसा मात्र में अनर्थ हेतुता की सिद्धि करती है। किन्तु क्रतूपकारकत्व का प्रतिषेध नहीं करती। इसी प्रकार " अग्नीषोमीयं " यह विशेष विधि भी यागीय पशुहिंसा में कृत्वर्थता का बोधन कराती है। परन्तु हिंसा में अनर्थ हेतुता का प्रतिषेध नहीं करती, अतः हिंसा मात्र में अनर्थ हेतुता सिद्ध होने से ' यज्ञेबधोऽबधः ' तथा ' वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ' इत्यादि वचन अर्थवाद मात्र हैं। अतएव " दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिः क्षयातिशययुक्त. " इत्यादि सांख्यकारिकाकार कृष्णयज्वा तथा " स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्पः " इत्यादि पञ्च शिखाचार्य. और 'मृष्यन्तेहि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाहृदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम् ।' इत्यादि वाचस्पतिमिश्र के वचन सङ्गत हैं। वस्तुतः विधिबोधित आलम्भन पद की आकारविघटन में लक्षणा है, जैसा कि शास्त्रदीपिका में मीमांसादर्शन के द्वितीयसूत्रस्थ अर्थ पद के व्याख्यानावसर में सुदर्शनाचार्य जी ने लिखा है कि–उक्तं च भाष्यकारेण–कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादिः. तत्रानर्थे धर्म उक्तो माभूदिति अर्थग्रहणम्. कथ पुनरसावनर्थः ? हिंसा हि सा, हिंसा च प्रतिषिद्धा। इति। श्रूयतेच 'मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि' इति। ननु ज्योतिष्टोमादिष्वपि हिंसायाः सत्वादनर्थत्वं स्यात्तेषामितिचेन्न, 'अग्नीषोमीयंपशुमालभेत' इत्यादि वाक्यानां पिष्टपशुविषयत्वात्। ननु पिष्टपशोरालम्भनं न सम्भवति जडत्वादितिचेत्। चेतनस्यात्मनोऽपि न सम्भवति तस्य नित्यत्वात्। शरीरस्य च तत्रापि जडत्वात्। ननु प्राणवियोजनं ह्यालम्भनशब्दवाच्या हिंसा साच जीवत्पशुवत् पिष्टपशोर्न सम्भवतीतिचेत्, आलम्भनादि शब्दानामाकार विघटने लक्षणां

वक्ष्यामः किंबहुना साक्षाद्धन्तेरप्याकार–विघटनेष्वपकारेषु च प्रयोगो भवति यथा हतोमया घटो हतोमया देवदत्त इति तत्र घटस्याकार–विघटनं कृतं देवदत्तस्यचापकारमात्रं कृतं नतु प्राणवियोजनम् ; एव मत्राप्याकारविघटने लक्षणा । आकार-विघटनं च पिष्टकृतपशोरपि सम्भवत्येव । लक्षणाश्रयणमेव दोष इतिचेन्न । माहिंस्यादिति, श्रुतिविरोधसम्पादनापेक्षया वरं लक्षणाश्रयणम् । कोहि विद्वान् वाक्यस्य गतौ सत्यामनर्थस्वरूपां हिंसामाचरेदिति परम वैष्णव सिद्धान्तः । इत्यादि ।

विधि के स्वरूप-पर्यालोचन से भी पशु–हिंसा वेद-बोधित सिद्ध नहीं हो सकती है; क्योंकि विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इस कथन के अनुसार अप्राप्त–वस्तु को बोधन कराने वाली विधि कहलाती है ।यथा 'स्वर्गकामोयजेत' यहाँ पर स्वर्ग प्रमाणान्तर से अप्राप्त है । इस प्रकार हिंसा अप्राप्त नहीं है, वरन् रागतः प्राप्त है । अतः यह विधि नहीं है, किन्तु परिसंख्या है । अर्थात् स्वभाव प्राप्त हिंसा का 'सौत्रामण्यां सुरांपिवेत्' के समान वेद ने सङ्कोच किया है । फलतः वैदिक वाक्यों का तात्पर्य हिंसादि की निवृत्ति में ही है, प्रवृत्ति में नहीं । उक्त वैदिक–रहस्य को नहीं जानने वाले रसना-लोलुप पुरुषापसदों ने अपने अनुकूल नाना स्मृति वचनों का निर्माण करके संसार को उत्पथगामी बना दिया है । ऐसे ही वेद-व्याख्याता और स्मृतिकार-ब्राह्मणों को लक्ष्य करके कबीर साहब ने ये वचन कहे हैं ।

''नष्ट गये करता नहीं चीन्हा * नष्ट गये अवरहिं मन दीन्हा ॥
नष्ट गये जिन वेद बखाना * वेद पढ़ै पै भेद न जाना ॥''
"वेद कि पुत्री है स्मृति भाई * सो जेवरि कर लेतहिं आई ॥
आपुहि बरि आपन गर बंदा * झूठा मोह काल को फंदा ॥
बन्धा बँधवत छोरि न जाई * विषय रूप भूली दुनियाई ॥'

"अन्ध सो दरपन बेद पुराना * दरबो कहा महारस जाना ॥
जस खर चन्दन लादै भारा * परिमलबासनजानु गँवारा ॥"
"रामहुँ केर मरम नहिं जाना * ले मति ठानिन बेद पुराना ॥
बेदहुँ केर कहल नहिं करई * जरतईरहैसुस्त नहिं परई ॥"

विध्यादिक के ये लक्षण हैं। 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिकेऽसति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते, इसी प्रकार देव बलि निमित्त से पशु हिंसा करके स्वोदरपूर्ति करने वाले ब्राह्मणों के निन्दित आचरणों का खण्डन इस प्रकार किया है "सुम्रिति सुहाय सभै कोइ जाने हृदया तत्व न बूझै। निरजिव आगे सरजिव थापे लोचन किछुवो न सूझै ॥ माटी के करि देवी देवा काटि २ जिव देइया जी। जो तुहरा है साँचा देवा खेत चरत क्यों न लेइया जी ॥
" सन्तो ! पांड़े निपुन कसाई।

बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिलमहँ दरद न आई।" माँस मछरिया तैं पै खइये. जो खेतन में बोइया जी। कहँहिं कबीर जिह्वा के कारन यहि बिधि प्रानो नरक परे"। इत्यादि। जीवहिंसा की तरह द्यूत कर्म और असत्य भाषणादिक भी प्रतिषिध कर्म हैं। उक्त सबही कर्म कायिक वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार के हैं। विहितकर्मों के सेवन और निषिद्ध कर्मों के परित्याग से चित्त शुद्धि द्वारा आत्मविचार का उदय होता है।

सत्संगति

चित्तशुद्धि के साधनों में मुख्य साधन सत्संगति है; क्योंकि बिना सत्सङ्ग के सार असार का ज्ञान (विवेक) नहीं हो सकता है। जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है "बिनु सतसङ्ग विवेक न होई। राम कृपा बिनु

सुलभ न सोई ॥' इसी बात को भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में अक्रूर जी के प्रति वर्णन किया है "नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्यूरुकालेन दर्शनादेव साधवः" जलमय-तीर्थ और मृत्तिकापाषाणरूप देवता निश्चय से कालान्तर में पवित्र करते हैं; किन्तु सन्तजन तो दर्शनमात्र से ही पवित्र कर देते हैं। साधवो हृदयं मह्यंसाधूनांहृदयंत्वहम् । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहंन्तेभ्यो मनागपि" । सन्त मेरे हृदय रूप हैं। और मैं सन्तों का हृदय हूँ । क्योंकि मेरे अतिरिक्त वे दूसरे को नहीं जानते हैं और मैं भी उनके सिवा दूसरों को (आत्मीय) नहीं जानता हूँ । यही उपदेश करुणासिन्धु श्री कबीर साहब ने निज-शिष्य धर्म्मदास जी साहब को दिया है । 'धर्मदास ! साधू मम नामा । साधुन माहिँ करौं बिसरामा । अन्ते खोजो पैहो नाहीँ । जब पैहो तब सन्तन माहीँ, सर्व पाप हारी सन्त जन वस्तुतः जंगम (चलते फिरते) तीर्थ हैं । जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है कि 'मुद मंगलमय संत-समाजू । जो जग जंगम तीरथ राजू । सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा । अकथ अलौकिक तीरथ राऊ । देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥ इत्यादि । उक्त प्रकार से सत्संगति के द्वारा विवेक प्राप्त करके चित्त शुद्धि के परमोपयोगी मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा रूप वृत्तियों की भावना करे । "मैत्रीकरुणा-मुदितोपेक्षाणां सुखादुःखा पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् " (योगदर्शन, समाधिपाद ३३ सूत्र) अर्थात् सुखियों में दुःखियों में धर्मात्माओं में और पापियों में क्रमशः सौहार्दभाव, दयाभाव, हर्ष भाव और तटस्थभाव की स्थापना से यथा क्रम ईर्षा, अपकार बुद्धि, असूया और क्रोध

की निवृत्ति हो जाने से मानस महोदधि प्रशान्त और निर्मल हो जाता है।

निष्काम कर्म

इसी प्रकार निष्काम-कर्मानुष्ठान से भी चित्त की शुद्धि होती है; क्योंकि कामना पूर्वक किये हुए याग दानादिक सबही कर्म बन्धन कारक हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से त्रिगुणात्मक कर्मों के विधायक वैदिक कर्म काण्ड की भगवान ने गीता में इस प्रकार समालोचना की है "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवन्दन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ। नान्यदस्तीति वादिनः। त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्। (हे अर्जुन! सकाम यागादि द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले अज्ञानी लोग लोकवञ्चना के लिए जन्मान्तर-दायक नाना प्रकार की रोचक वाणियाँ कहा करते हैं; क्योंकि वेद स्वयं त्रिगुणात्मक विषय सुख के प्रकाश करने वाले हैं। इसलिए हे अर्जुन! तू निर्द्वन्द्व निश्चल सावधान और निष्काम होकर सर्व बन्धनों से मुक्त होजा)। श्रुति ने भी कहा है कि "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनंदंति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापयन्ति" (मुण्डकोपनिषद्)। [स्वर्ग की इच्छा से किया हुआ वह यागादि कर्म, जिसमें की सोलह ऋत्विक यजमान और उसकी स्त्री ये अठारह रहते हैं जन्ममरण का देने वाला है, क्योंकि ये यज्ञ जर्जर और तुच्छ नौका (डोंगी) के समान हैं। इसलिए इनका अवलम्बन करने वाले संसार-सागर में डूब जाते हैं। इसी रहस्य को लेकर कबीर साहब ने केवल कर्म वादी ब्राह्मणों के प्रति कहा है। "यदि गुनि भये कीतम के दासा।

करम पढ़ै करमहिं को धावैं । जे पूछे तेहि करम दिढ़ावैं ।। निहकरमी की निंदा कीजै । करम करै ताही चित दीजै ।। इत्यादि ।

नामोपासना

निष्काम कर्म की तरह उपासना भी विक्षेप (चंचलता) को दूर करती हुई चित्त को निर्मल बना देती है। सब उपासनाओं में मुख्य चेतनात्म रूप सद्गुरु की उपासना है। क्योंकि "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" [जिसकी गुरु में परमात्मा के समान भक्ति है, उसके हृदय में श्रुति—प्रतिपादित आत्म-तत्त्व प्रकाशित होता है। "जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव । ताते न छूटे चरन भाव ।। अमर लोक फल लावै चाव । कहँहिँ कबीर बूझै सो पाव ।।" गुरूपासना के समान नामोपासना भी अभ्युदय और निःश्रेयस की देने वाली है। अनेक नामों में से "सत्यनाम" आत्मा (शुद्धचेतन) का निज-नाम है। क्योंकि यह आत्मा सत्य है, और सत्य का वाचक नाम 'सत्य' ही हो सकता है। "नह्यस्मादन्यत्पर मस्त्यथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति" "तस्य नाम सत्यमिति" "तानिह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति, तद्यत्सत्तदमृतमथयत्तितन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति" (छान्दोग्योपनिषद्)। कबीर साहब ने भी "सत्त सत्त कहै सुमृति वेद" इत्यादि वचनों से "सत्यनाम" की महिमा का बहुत वर्णन किया है। और इसी विशाल झंडे के नीचे समस्त सन्त–मतानुयायी उदासी, सिक्ख, सत्यनामी, दरियापंथी, कबीरपंथी आदि वर्तमान हैं। या यों कहना और भी समुचित होगा कि इसी सूत्रात्मा सत्यनाम से समस्त सन्त—मतानुयायी परस्पर सम्मिलित

हैं; क्योंकि सभी सत्यनाम के उपासक हैं। खेद है कि इस रहस्य को नहीं जानने वाले हमारे कतिपय भोले भाले कबीर पंथी भाई सर्वोत्कृष्ट "सत्य-नाम" से विमुख होते चले जा रहे हैं।

अंतःकरण के उक्त तीन दोषों में से आवरण (अज्ञान) दोष की निवृत्ति स्वरूप ज्ञान से होती है। (यह पहले कहा जा चुका है)। इसी प्रकार सहज योग और भक्ति योग [ईश्वरप्रणिधान] का भी सत्व-शुद्धि में उपयोग होता है। कबीर साहब ने केवल हठ योग का खंडन किया है। जो कि कामना मूलक होने के कारण अनर्थ कारक है। "कच्चे सिद्ध न माया पियारी।" "योगिया के नगर बसो मति कोय। जोरे बसे सो जोगिया होय॥" पूर्वोक्त प्रकार से तीर्थ जप तप आदिकों की आड़ में होने वाले पाखंडों का ही कबीर साहब ने लोकोपकार के लिए खंडन किया है। मुसलमानों के आसमानी ख़ुदा और नाना अत्याचारों का भी बड़े जोर शोर से खंडन किया है। "कहँ तब आदम कहँ तब हव्वा। कहँ तब पीर पैगम्बर हूवा॥ जिन्हि दुनियाँ में रची मसीद। झूठा रोजा झूठी ईद। कहुधों भिस्त कहाँ ते आई। किसके कहे तुम छुरी चलाई।" इत्यादि।

जातिवाद और छुआछूत

जाति वाद में कबीर साहब के ये विचार हैं—प्राक्तन शुभा शुभ कर्मों के अनुरोध से जीवात्मा उत्तमाधम शरीरों को धारण करता है। और वर्तमान जीवन में भी उन्नति और अवनति निजकृत कर्मों पर ही निर्भर है। एवं " जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः। शुक्याः शुकः कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्॥" [भविष्य पुराण]। (मल्लाह

की लड़का से व्यासजी, श्वपाक की लड़की से पराशर जी, शुकी से शुकदेव जी, और उलूकी से कणाद जी हुए। अर्थात् अधम कुलों में उत्पन्न होने पर भी दिव्य गुणों के कारण ये सब ब्राह्मण कहलाये)। इत्यादि इतिहास पुराणादि के पर्यालोचन से गुण कर्म ही ब्राह्मण्यादि के सम्पादक प्रतीत होते हैं, केवल जन्म नहीं; अतएव "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः" इत्यादि वचन भी संगत होते हैं। क्योंकि "आकृतिग्रहणा जातिः" जो आकृति (आकार) के देखते ही जान ली जाय वही जाति है। वार्तिककार के बताये हुए इस जाति के लक्षण के अनुसार मनुष्य जाति ही सच्ची जाति है। इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने मनुष्य जाति की प्रधानता, और इतर [कल्पित] जातियों की—गौणता मानी है। 'जो तू करता बरन विचारा। जन्मत तीन दड अनुसारा॥ जनमत शूद्र मुये पुनि सूद्रा। कीतिम जनेउ घालि जग दुन्द्रा॥ इत्यादि। छूवाछूत के विषय में सद्गुरु के ये विचार हैं कि --जन्म से कोई मनुष्य अछूत नहीं, हाँ मलीनता के कारण वह दूर रखा जा सकता है॥ इसके अतिरिक्त अन्तः शौच रहित मिथ्या आचार महा अनर्थ का करने वाला है। "छूतहि जेवन छूतहि अचवन छूतहि जगत उपाया। कहँहि कबीर ते छूत विवर्जित जाके संग न माया॥" इत्यादि।

बीजक के सांकेतिक शब्द

राम शब्द जहाँ तहाँ सोपाधिक (अवतार राम) का और बहुधा निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप (चैतन्य) का बोधक है। इसी प्रकार हरि, जादव राय, गोविन्द, गोपाल आदिक हैं। मन के बोधक मच्छ, माँछ, मीन, जुलाहा,

साउज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरंजन आदिक हैं। और पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूस, भँवरा योगी आदिक शब्द जीवात्मा को सूचित करते हैं। और माया के बोधक शब्द–माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया आदिक हैं। और सायर, बन, सीकम आदिक शब्द संसार के बोधक हैं। तथा यौवन दिवस और दिन आदिक शब्द नर—तन के बोधक हैं। सखी, सहेलरी, आदिक सांकेतिक शब्द इन्द्रियों के बोधक हैं। स्थानाभाव से सब संकेतों का उल्लेख नहीं किया जाता है। इस ग्रन्थ में १–"हंस कबीर" २—"कहहिँ कबीर" ३ "कहैं कबीर" ४–'कबीर' ५ दास कबीर' ६—"कबीरा" और ७—"कबिरन" इन शब्दों का भी विशेष अर्थ में संकेत है। जो कि गुरु परंपरा से ज्ञात होता है। बीजक के अर्थ का यथार्थ ज्ञान इन्हीं संकेतों पर निर्भर है। पहला संकेत मुक्तात्मा का सूचक है। दूसरा स्वोक्ति [गुरु वचन] का तीसरा और चौथा अन्योक्ति का। [औरों के वचनों का अनुवाद]। पांचवां लोक विशेष निवासी ईश्वर के उपासकों का। और छठा सातवाँ कर्मी, अज्ञानी, तथा वंचक गुरुओं का बोधक है। खेद है कि इन संकेतों को न जानने के कारण कबीर गुरु की तथा उनके ग्रन्थों की समालोचना करने वालों ने "अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदेपदे" के अनुसार पैण्ड २ पर धोका खाया है। कोई "कबिरन" का अर्थ 'कबीर पंथी' बतलाते हैं, और कोई 'जुलहा दास कबीर' का अर्थ जुलहा कबीर लगाते हैं। इसी प्रकार कबीरा आदि शब्दों का भी मनमाना अर्थ किया है। ठीक ही है। मर्मज्ञ (भेदू) के बताये बिना वस्तु नहीं मिल सकती है। 'वस्तु कहीं ढूँढ़े कहीं, केहि विधि आवै हाथ। कहहिँ कबीर तब पाइये भेदू लीजै साथ।'

कबीर-साहब और उनके ग्रन्थ

कबीर साहब ने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है, जैसा कि उनका वचन है—'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ, चारों जुग महातम, (कबिर) मुखहि जनाई बात।' सद्गुरु की शिक्षा मौखिक हुआ करती थी जो कि शिष्यों के द्वारा ग्रन्थ रूप में परिणत की गयी है; यह वार्ता सर्वसम्मत है। इस विषय को सूचना रूप से मैंने पृ० ३६४ में लिखा है। सद्गुरु के वचनों के संग्रह रूप 'अखरावती' आदिक कई ग्रन्थ हैं यह वार्ता कबीर पन्थी इतिहास के ज्ञाताओं को विदित ही है। जो लोग यह कहते हैं कि कबीर साहब के बचन केवल इतने ही हैं जो कि इस [बीजक] ग्रन्थ में वर्तमान हैं; वे लोग 'छ लाख छानबे सहस रमैनी एक जीव पर होय' तथा पंच ग्रन्थी में सत्य शब्द टकसार नाम से दिये हुए 'सन्तो ठहारिके करहु बिचार' इत्यादि बचनों के रहस्य से अपरिचित हैं।

बीजक और उसकी भाषा

इस ग्रन्थ का नाम 'बीजक' है। गुप्त धन को बताने वाले साँकेतिक लेख को 'बीजक' कहते हैं। जैसे कि कहीं २ धन के सूचक शिलालेख पाये जाते हैं। प्रकृत में आत्मधन अत्यन्त गुप्त है। "एको देवः सर्व भूतेषु गूढः" (श्वेताश्वतरोपनिषद्) एक चैतन्य आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों में छिपा हुआ है। तं दुर्दर्श गूढ़ मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' वह धन अत्यन्त प्राचीन और सबों के हृदय निकेतन में वर्त्तमान है। तथा उसकी प्राप्ति से बढ़ कर दूसरा लाभ नहीं है। उस गुप्त धन को बताने वाला यह बीजक ग्रन्थ

है। इसलिये इसको बीजक कहते हैं। कबीर साहब ने स्वयं कहा है। "बीजक बतावै वित्त को, जो वित गुप्त होय। सब्द बतावै जीव को बूझै विरला कोय ॥

इस ग्रन्थ को कबीर साहब ने पूर्वी भाषा में कहा है जैसा कि उनका बचन है। 'बोली हमारी पूर्व की हमें लखे नहिँ कोय। हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय ॥' इसके अनुसार इस ग्रन्थ में संयुक्तप्रान्तीय अवधी भाषा का बनारस, मिर्ज़ापुर और गोरखपुर आदि जिलों की भाषा का अधिक समावेश है। इसकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है, जिसको सर्व साधारण हिन्दी जानने वाले भी नहीं समझ सकते हैं। 'यह तो गति है अटपटी, चटपट लखै न कोय। जो मन की खटपट मिटै, चटपट दरसन होय ॥' प्रथमतः गम्भीरार्थ की प्रतिपादक होने से कबीर गुरु की वाणी अत्यन्त गूढ़ है, तिसपर प्राचीन पूर्वी भाषा ने उसको इस समय और भी क्लिष्ट और जटिल बना दिया है। प्राचीन समय में यह सर्व साधारण की भाषा थी और इस समय भी इसके बहुत से शब्द उक्त प्रान्तों में ज्यों के त्यों प्रचलित हैं। जैसे जहँडे, धूर पवाँरिन, नाधे, असगर, बिरधा, भिस्त, एकसर आदिक। अपने भावों को सर्व साधारण तक पहुँचाने का एक मात्र उपाय साधारण बोल चाल की (ठेठ) भाषा का प्रयोग ही है। इसी अभिप्राय से अध्यात्मज्ञान के शिक्षक प्रायः सभी महात्माओं ने अत्यन्त सरल (वर्तमान) भाषा में अपने विचार प्रगट किये हैं। और कभी साहित्य के नियम और बन्धनों में नहीं पड़े हैं, अतः कवि और काव्य की दृष्टि से महात्मा और उनकी वाणियों को जो (समालोचक) देखते हैं, तथा उसी दृष्टि से कवि श्रेणी में उनको हीन अथवा उत्तम स्थान

देतेहैं, वे भूल करते हैं, क्योंकि आत्म-भाव-दृष्टि वाले महात्माओं को काव्य-शब्दार्थरूप शरीर-दृष्टि नहीं रहती है । 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्' (साहित्यदर्पण) । यही कवि और महात्माओं में विशेषता है । उनकी रचनाओं में जो कुछ अलंकार आदिक आजाते हैं (जैसे कि इसमें कहीं २ पर हैं । देखिये बी० पृ० ११५ आदिक, वे स्वाभाविक हैं. उनके लिये ऊहा पोह या आवापोद्वाप उनको नहीं करना पड़ता है । बीजक पहले कैथी लिपि (अक्षरों) में लिखा गया था । उक्त लिपि के नियमों का दिग्दर्शन मैंने 'ज्ञानचौंतीसा' की टिप्पणी में कराया है । उसी नियम के अनुसार इसकी मातृका (वर्णमाला) है । गोस्वामी तुलसीदास जी की असली रामायण इन्हीं अक्षरों में लिखी हुई बतलाई जाती है । काशी 'नागरी-प्रचारणी सभा' से उसका प्रकाशन हो चुका है । भाषा की रूढ़ि के अनुसार 'श, य, ण, क्ष,' आदिक के स्थान में क्रमशः स, ज, न, छ, आदि लिखे जाते थे । रामायण आदिक सारे प्राचीन ग्रन्थों में इस नियम का बराबर पालन हुआ है । संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् महात्मा निश्चल दास जी ने भी अपने विचार सागर आदिक ग्रन्थों में इस नियम का अक्षरशः पालन किया है । और सर्व साधारण के परिज्ञानार्थ लिख भी दिया है कि यह भाषा की सम्प्रदाय है ।

दोहा---"लघु गुरु गुरु लघु होत है, वृत्ति हेत उच्चार ।

रु है अरु को ठौर में अवको ठौर बकार ॥

संयोगी क्ष कपर ख न, नहिं टवर्ग णकार ।

भाषा में ऋ ऌ हु नहीं, अरु तालव्य शकार ॥

टीका—इतने अच्छर भाषा में नहीं। कोई लिखे तो कवि असुद्ध कहैं 'क्ष' के स्थान में छ। 'ख' के स्थान में 'ष'। णकार के स्थान में नकार 'ऋलृ' के स्थान में 'रिलि' है। शकार के स्थान में सकार भाषा में लिखने योग्य हैं। [विचार सागर षष्ट तरंग, संस्करण शाले अहमद। पीताम्बरी टीका सहित]

बीजक की सब लिखित पुस्तकें इसी नियम के अनुसार हैं। बीजक की वर्णमाला लिपि आदि के विषय में होने वाली संशय की निवृत्ति तो इसमें दिये हुए 'ज्ञान चौंतीसा' के विवेक पूर्वक परिज्ञान से ही हो जाती है। उसमें 'य' के स्थान में 'ज' का प्रयोग किया है। 'जाजा जगत रहा भरपूरी, जगतहु ते है जाना दूरी' और 'श' की जगह 'स' का प्रयोग इस प्रकार है। 'सासा सर नहिं देखै कोई। सर सीतलता एकै होई॥ इत्यादि*

इन सब बातों को जानते हुए भी बीजक के शोधन कर्ता संस्कृत प्रेमियों ने इस ग्रन्थ को अपने पाण्डित्य प्रकट करने को ध्वजा बनाकर अत्यन्त सरल बिरध, बिरछ, छेव, अछत, मच्छ, लछ जोजन, जोति, या जोत, भिस्त आदिकों के स्थान में क्रमशः वृद्ध, वृक्ष, चेव, अच्छत, मत्स्य लच्छ योजन ज्योति बिहिश्त आदिक संस्कृतादि शब्द लिखकर और उक्त प्राचीन शैली को मिटा कर लोकोपकार के लिए बहती हुई दयालु महात्मा की बचनामृत गंगा के पान से सर्व साधारण को वञ्चित कर दिया है। आज तक मुद्रित

---

* सूचना—इहाँ पर संस्कृत प्रेमियों ने 'याया जगत रहा भरपूरी। तथा- शाशा सर नहिं देखे कोई।' इस प्रकार बल पूर्वक महात्मा की वाणी को तोड़ मरोड़ दिया है। स्थानाभाव से स्थलान्तर नहीं दिखाये जाते हैं।

हुए सभी बीजकों की यही दशा है। दिनों दिन इसको संस्कृतमय बनाने का और मन माने पाठ बना लेने का प्रबल प्रत्न किया जा रहा है। एक असाधारण महात्मा की अनुपम वाणी को इस प्रकार अङ्ग-भङ्ग करके विकृत बना देना विवेकियों को शोभा नहीं देता है।

आक्षेप—परिहार

कबीर साहब के पूर्व निर्दिष्ट सिद्धान्त और उच्चादर्श से अनभिज्ञ समालोचकों ने उन पर और उनकी बाणी पर नाना प्रकार के दोषारोपण किये हैं। स्थानाभाव से उन सबों की विवेचना यहाँ पर नहीं की जाती है। एक महाशय लिखते हैं "मेरा विचार यह है कि उनका यह संस्कार मुसलमान धर्म मूलक है। वैदिक काल से उपनिषद् और दार्शनिक काल पर्यन्त आर्य धर्म में भी कहीं अवतार वाद और मूर्ति पूजा का पता नहीं चलता। पौराणिक काल में ही इन दोनों बातों की नीव पड़ी है, अतएव यदि ऊँचे उठा जाय तो कहा जा सकता है कि कबीर साहब ने प्राचीन आर्य धर्म का अवलम्बन करके ही अवतार वाद और मूर्ति पूजा का विरोध किया है। किन्तु यह काम स्वामी दयानंद सरस्वती का था। कबीर साहब का नहीं। अपठित होने के कारण उनको वेद और उपनिषद् की शिक्षाओं का ज्ञान न था इस लिये इतनी दूर पहुँचना उनका काम न था" इत्यादि। इन पक्तियों के लेखक महात्माओं के द्वेषी और दार्शनिक ज्ञान से नितान्त ही शून्य मालूम पड़ते हैं, अन्यथा कबीर साहब के 'प्रातिभाज्ञान' में उनको संशय न होता। यह तो सर्व सम्मत ही है कि कबीर साहब एक सिद्ध महात्मा थे। वह सिद्धि भी उनको जन्म ही से प्राप्त

थी। "जन्मौषधिमंत्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।" (योग दर्शन कैवल्य पाद १ सूत्र) जन्मसे औषधिसे, मंत्र से, तपसे और समाधि से सिद्धि प्राप्त होती है। सत्व गुण की उद्रिक्त दशा में योगियों को "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" इसके अनुसार ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होती हैं। जिस बुद्धि-दर्पण में केवल सत्य ही का प्रस्फुरण हो, उस प्रज्ञा को "ऋतंभरा" कहते हैं। कबीर साहब की प्रज्ञा ऋतंभरा थी उसी के बल से उन्होंने सत्य सिद्धान्त को प्रकट किया है। प्रातिभ ज्ञान वेदों का स्वयं जनक है, अतः प्रातिभ ज्ञान वाले महात्माओं को वेदों के पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती है "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृगवेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति" चारों वेद महान आत्मा की स्वासा रूप है। "ब्रह्म रूप अहि ब्रह्मवित् ताकी वाणी वेद; भाषा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रम छेद।" इसके अतिरिक्त महाशय जी के उक्त आक्षेप का समाधान तो स्थानान्तर में दिये हुए उन्हीं के इन वचनों से हो जाता है, खेद है कि द्वेष वश अपने ही असंयत और परस्पर व्याहत वचनों को वे न समझ सके। "जब वे किसी अवसर पर मुसलमान धर्म पर आक्रमण करते हैं तो उन्हीं ऊपरी बातों को कहते हैं, जिनको एक साधरण हिन्दू भी जानता है, किन्तु हिन्दू धर्म—विवेचन के समय उनके मुख से वे बातें निकलती हैं जिन्हें शास्त्रज्ञ विद्वानों के अतिरिक्त दूसरा नहीं जानता है!" यदि श्रीमान् वेस्कट साहब के परम भक्त उक्त महाशय जी हिन्दुओं के जमान्तर वाद को मानते होते तो भी कबीरगुरु के जन्मान्तर-अर्जित ज्ञान में उनको विप्रतिपत्ति नहीं होती, क्योंकि नूर अली जोलाहे के औरस पुत्र न होने से उन्हों के हृदय में मुसलमानी संस्कार कैसे आसकते थे। इसी प्रकार महाशय जीने एक आदर्श महात्मा की

अमृतमय वाणी पर निष्कारण विष उगल कर साधारण जनता को सत्य ज्ञानामृत के पान से वंचित करने का महाभयंकर प्रयत्न किया है। ऐसे ही मनुष्य महात्माओं के कल्याण कारक मार्ग से संसार को विचलित कर देते हैं, इसी कारण इसकी होनातिहीन दशा होती चली जाती है। कोई २ महाशय एक प्रक्षिप्त साखी के प्रमाण से कबीर साहब का विवाह होना सिद्ध करते हैं. जो कि उनके सर्व वचन और ग्रन्थों से विरुद्ध है।

कबीर साहब की शिक्षा से लाभ

कबीर साहब ने परस्पर विरोधी नाना धर्म और मज़हबों से फैली हुई अशान्ति को दूर करने के लिये सर्वधर्मानुमोदित "सनातन आर्य-मानव-धर्म" (आत्म-धर्म. राष्ट्रीय-धर्म) का सारे संसार को उपदेश देकर अनेकता में एकता स्थापन करने का अविश्रान्त प्रयत्न किया है। "शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः" "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" तथा "उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्" इत्यादि आत्म-धर्म का आदर्श कबीर गुरु के इन पद्यों में पूर्णतया वर्तमान है। इन पद्यों के पर्यालोचन से तो स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि राष्ट्रधर्म के सर्व प्रथम प्रचारक कबीर गुरु ही थे। कितनी सरल भाषा में कल्याणकारी सर्वोच्च सिद्धान्त रख दिया है।

"भाइ रे! दुइ जगदीस कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया।
अलह राम करीमा केसो, हरि हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना इनि महँ भाव न दूजा।

कहन सुनन को दुइ करिथापिनि एक निमाज़ एक पूजा ॥
वही महादेव वही महम्मद ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमींपर रहिये ॥
बेद कितेब पढ़ैं वै कुतबा वै मोलना वै पांड़े।
बेगरि बेगरि नाम धराये एक मटिया के भांड़े ॥
कहँहिँ कबीर वे दूनों भूले रामहिं किनहु न पाया।
वै खँस्सी वै गाय कटावैं बादहि जनम गँवाया ॥"
तथा "लख चौरासी नाना बासन सो सब सरि भौ माँटी।
एकै पाट सकल बैठाये छूत लेत धौं काकी।" इत्यादि।

"धर्म्मो यो बाधते धर्मं न स धर्मः कुधर्म तत्। धर्माविरोधी यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः ॥ जो धर्म दूसरे धर्म का बाधक है वह धर्म नहीं कुधर्म है। और जो धर्म दूसरे धर्म का अविरोधी है वह पराक्रम शील सत्य धर्म है। इस कथन के अनुसार कबीर साहब का बताया हुआ उदार–धर्म 'सत्य धर्म" है। और सत्य ही के आश्रयण से "सत्यमेव विजयते नानृतम्" के अनुसार परम शान्ति और परम सुख (सच्चा स्वराज्य) मिलता हैं; अतः जब तक संसार इस निष्कंटक सत्य-पथ का अनुसरण नहीं करेगा तब तक एकता और शान्ति के लिए किये हुए प्रयत्न कदापि सफल न होंगे।

परिशिष्ट

इस पुस्तक का शोधन अति प्राचीन पाँच प्रतियों के आधार से किया गया है, जो कि स्थान कबीर चौरा के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। उनमें एक प्रति अत्यन्तजीर्ण शीर्ण और अनेक दफा की जीर्णोद्धारित, (मरम्मत) की हुई मालूम पड़ती है। उन पुस्तकों में प्रान्तीय भाषा के अनुरोध से वर्तमान पाठान्तरों का मैंने क पुस्तक ख पुस्तक आदिकों के बोधक 'क० पु०, ख० पु०, आदि संकेतों से टिप्पणी के नीचे उल्लेख कर दिया है। पाठान्तर और टिप्पणी का 'पाठा०' और टि० से सूचना किया है। पाठकों को ज्ञात हो कि टीका की तरह टिप्पणी को धारा प्रवाह (सरपट) नहीं बाचना चाहिये किन्तु; मूल पाठ के ऊपर दिये हुये १, २, आदि अङ्कों के अनुसार नीचे अर्थ देखना चाहिये। इस ग्रन्थ में पाठकों के सुभीते के लिये सरल पद्यों पर टिप्पणी और कठिनों पर साद्यन्त टीका कर दी गई हैं। सबसे प्रथम पद्यार्थ का संक्षिप्त दिग्दर्शन, अनंतर टीका या टिप्पणी और अन्त में भावार्थ, यही क्रम [सिलसिला] आदि से अन्त तक रखा गया है।

जिन सज्जनों ने इस पवित्र कार्य में अपना अमूल्य समय आदिक देकर मेरी सहायता की है, उनका मैं चिरकृतज्ञ रहूँगा।

निवेदन

विज्ञ पाठकों और समालोचन कर्त्ता महोदयों से विनम्र निवेदन है कि इस रूप में मातृभाषा [हिन्दी] की यह मेरी पहली ही सेवा है ; अतः अनेक त्रुटियों का होना सम्भव है । इसके अतिरिक्त इसके सम्पादन और मुद्रण में अत्यन्त त्वरा की गयी है । अतः मानव शुलभ बुद्धि-दोष, दृष्टि-दोष मुद्रण-दोषादिकों से होने वाली त्रुटियों को आप लोग अपने उदार हृदय से क्षमा करके कृपया मुझको सूचित करियेगा । जिससे कि अगले संस्करण में उनका सुधार हो सके । इस पुस्तक से यदि पाठकों को थोड़ा भी लाभ पहुंचेगा तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा । मैंने केवल यह महात्माओं की आज्ञा का पालन किया है ।

"मों में इतनी शक्ति कहँ, गाऊँ गला पसार ।
बन्दे को इतनी घनी; पडा रहै दरबार ॥"
आत्मधर्मपथः सोऽयं, धर्माय गुरुणोदितः ।
सुविचारेण सम्प्राप्तो, जगन्नाथपदाम्बुजात् ॥

कबीर–जयन्ती (बरसाइत)
ज्येष्ठ शु० १५ सं० १९८३ ।

विनयावनतः—
विचारदास ।

सूचना

उदार समालोचक वृन्द तथा सम्पादक महोदयों से आशा है कि इस ग्रन्थ के विषय में अपनी उदार सम्मति देकर मुझको कृत कृत्य करेंगे यदि पाठक गण (तथा हमारे कबीर पंथीमहोदय) इसकी टीका और टिप्पणियों से सन्तुष्ट होकर मुझको उत्साहित करेंगे, तो मैं इसकी आदि से अन्त तक कुछ विस्तृत टीका बनाने के शुभ कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लूँगा ।

समर्पण

पतितपावनाद्यनेकविरुदावलीविभूषितकरुणावरुणाऽऽ

लयप्रातःस्मरणीय श्री १०८ सद्गुरुकबीर-

चरणाम्बुजेषु बीजकग्रन्थस्यास्य

टीकाटिप्पण्यादिरूपपुष्पाञ्जलिं

भक्तिनम्रः समर्पयति ।

सद्गुरो !

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझ को सौंपते, का लागत है मोर ॥

चरण किङ्कर—

विचारदास ।

बीजक-सार सिद्धान्त, बीजक-माहात्म्य, तथा पाठ-फल।

बीजक कहिये साखि धन, धन का कहै संदेस।
आतम धन जेहि ठौर है, बचन कबिर उपदेस ॥१॥
देखे बीजक हाथ ले, पावे धन तेहि सोध।
याते बीजक नाम भो, माया मन का बोध ॥ २ ॥
आस्ति आतमाराम है, माया मन कृत नास्ति।
याकी पारख लखे जथा, बीजक गुरु मुख आस्ति ॥३॥
पढै गुने अति प्रीति जुत, ठहरि के करै बिचार।
थिरताबुधि पावै सही, बचन कबिर निरधार ॥ ४ ॥
सारसब्द टकसार है, बीजक याको नाम।
गुरु कि दया से परख भा, बचन कबीर तमाम ॥५॥
पारख बिनु परखै नहीं, बिनु सतसंग न जान।
दुबिधा तजि निरभै रहै, सोई संत सुजान ॥ ६ ॥
नीर क्षीर निरनय करे, हंस लच्छ सहिदान।
दयारूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान ॥ ७ ॥
देहमान अभिमान के, निरहंकारी होय।
बरन करम कुल जाति ते, हंस निनारा होय ॥ ८ ॥
जग बिलास है देहको, साधो करो बिचार।
सेवा साधन मन करम (ते) दया भक्ति उरधार ॥९॥

श्रीसद्गुरुस्तुतिः संक्षिप्तजीवनचरितञ्च ।

आदौ फुल्लकुशेशयप्रविलसत्कासारमध्येऽभव
त्काश्यां शैशवरूपिणोऽवतरणं श्रीमत्कबीरस्य वै ।
लीलामानुषविग्रहस्य नयनं नीरूनिमाभ्यां कृतम्,
रामानन्दमनस्विनःपुनरभूच्छिष्यत्वमस्यप्रभोः ॥१॥

पश्चाद्वादिकदम्बकुञ्जरहरे राश्चर्यमय्योऽभव
ल्लीलाःशक्तिविकाशनञ्च पुरतो माहम्मदक्षोणिपः ।
पश्चाज्जीवनमद्भुतं कृतमभूत्कम्मालिकम्मालयोः
पश्चाद्देवलकस्य रक्षण महो दूरात्कृतंवह्नितः ॥२॥

पारावारविघट्टनं मुररिपो रावाससंस्थापनम् ।
गोरक्षस्य ततः स्वयोगकलया दर्पोपसम्मर्दनम् ॥
संसाराम्बुधिसेतुरूपमचलं संस्थाप्यधर्मं निज-
मन्तर्धानमजन्मनो मगहरे जातश्चरित्रं गुरोः ॥३॥

वक्तव्य

सद्गुरु के अपार अनुग्रह से इस ग्रन्थ की शीघ्र ही द्विरावृत्ति हो गयी। प्रेमी पाठकों ने जिस प्रेम से इसको अपनाया, वह अवर्णनीय है। सम्मानित विद्वानों की सम्मतियों में से कुछ सम्मतियां अन्यत्र प्रकाशित की जाती हैं। मिथ्या आडंबरों को दूर करने वाली गुरु कबीर की वाणियों का (अधिक मात्रा में) सर्वत्र प्रचार होना चाहिये। कबीर साहब निर्भीक कवि और महात्मा दोनों थे; इसी कारण उनके उपदेश से संसार को अधिक प्रकाश और शान्ति मिल कसती है।

गत पौष की 'माधुरी' में श्रीमान् अवध उपाध्याय जी ने यह आक्षेप प्रकाशित किया है कि मैं कबीर साहब को कवि नहीं मानता। भूमिका के जिस अंश का उन्होंने अधूरा उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह अंश तो कवि और महात्माओं की विशेषता दिखलाने के लिए लिखा गया था। यह वार्ता उस के शेषांश से स्पष्ट है "यही कवि और महात्माओं में विशेषता है। उनकी रचना में जो कुछ अलंकार आदिक आ जाते हैं, वे स्वाभाविक हैं। उनके लिए ऊहापोह या आवापाद्वाप उनको नहीं करना पड़ता है" (भू० पृ० ४३) अन्यत्र भी मैंने यह कहीं नहीं लिखा है कि वे कवि नहीं थे; प्रत्युत कबीर साहब को मैं एक स्वयं सिद्ध (नैसर्गिक) सर्वोत्तम कवि मानता हूँ, कृत्रिम कवि नहीं।

वर्ण-मैत्री, अनुप्रास-प्रयास तथा अलंकारादिकों के प्रलोभन में पड़े हुए कृत्रिम कवियों को स्वयंसिद्ध कवि-सुलभ आत्मालोक नहीं प्राप्त हो

सकता है। उस के लिए तो आत्म-संस्कृति की आवश्यकता है। शुद्ध हृदय का वर्णन ही कविता है, उसमें कृत्रिमता (काव्याङ्गरीति-आदिकों) को मुख्यतः स्थान ही कहाँ ; इसी अभिप्राय से श्रीयुत गोस्वामी जी ने कहा है- "कवि न होउं नहिं चतुर कहाऊं। मति-अनुरूप राम-गुन गाऊं" । अतः जो स्वयं सिद्ध कवि महात्माओं को केवल कवि समझ कर उनकी समालोचना करते हैं, वे भूल करते हैं। कबीर साहब के कवि होने में किस को सन्देह हो सकता है; क्योंकि "कवित्वबीजं प्रतिभानम्" वामनाचार्य के इस सूत्र के अनुसार कबीर साहब में वह प्रतिभा थी जिसके कारण उन्होंने ऐसी धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी जो कि संसार को सत्पथ पर लाने के लिए दिनों दिन अधिकाधिक प्रगति कर रही है। किमधिकम्।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ।

प्रथम श्रा० शु० ७
सं० १९८९ ।

विचारदास
काशी

बीजक की प्रकरण-सूची

संक्षिप्त विषय-सूची

रमैनी प्रकरण

विषय	पृष्ठ संख्या	पद्य संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या	पद्य संख्या
माया और वाणी की दशा	९९	७९
विवेक की आवश्यकता	१००	८०
शील सुधार और माया की प्रबलता	१००	८१
माया—नाटक	१०१	८२
क्षत्रिय-कर्तव्य-विचार	१०२	८३
उद्बोधन चेतावनी	१०४	८४

शब्द प्रकरण

सद्गुरु भक्ति	१०६	१
उद्बोध महिमा	१०९	२
घरका झगड़ा	११४	३
भ्रम भूत विचार	११५	४
माया की प्रबलता वर्णन	११७	५
माया का लीला विहार	११८	६
चेतन की सत्ता व्यापकता तथा प्रकाशता का वर्णन	११९	७
मायिक अवतारों का वर्णन	१२०	८
कठिन समस्या	१२१	९
हिन्दू और मुसलमानों के मतों की आलोचना	१२३	१०
पुरोहितों की समालोचना	१२४	११
प्रेम प्रपा और आत्म-तुष्टि	१२५	१२
माया की प्रबलता और उससे छूट ने का उपाय	१२६	१३
अध्यास-फाँस	१२७	१४

वेषय	पृष्ठ संख्या	पद्य संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या	पद्य संख्या
बन्ध्याज्ञानी (वाचक ज्ञानी) और हठ योगियों की दशा	२०४	५७
कामना–अग्नि विचार	२०७	५८
माया विचार	२०८	५९
अहिंसा–विचार	२०९	६०
अन्त दशा विचार	२१०	६१
सहज-भावना विचार	२११	६२
कल्पना–विचार	२१२	६३
नाम सुमिरन का उपदेश	२१३	६४
हठयोगियों की गति	२१६	६५
अमृत वल्ली	२१८	६६
बीजेश्वर वादियों के मत की आलोचना	२२०	६७
मन की कल्पना	२२१	६८
शब्द और शब्दी विचार	२२५	६९
मांसभक्षण विचार	२२६	७०
चेतन की व्यापकता का विचार	२२८	७१
शरीर की असारता और विनाशिता का वर्णन	२२९	७२
भारी भ्रम	२३०	७३
जीवात्मा के स्वरूप का परिचय	२३१	७४
एक जाति (मनुष्य जाति) वाद	२३३	७५
निज-भ्रम-विचार	२३५	७६
स्वावलम्बन-विचार	२३५	७७

ज्ञान चौंतीसा

कहरा

बसन्त

चाचर

बेली

बिरहुली

हिंडोला

———

सत्यनाम *

अथ कबीर-साहब का बीजक

रमैनी

(१)

[1]

अंतर जोति सबद एक नारी * हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी।

ते [2] तिरिये भग लिंग अनंता * तेउ न जाने आदि औ अंता।

---

* सत्यनाम की व्याख्या— सत्यन्त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' 'एतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यंसआत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो' 'नह्यस्मादन्यत्परमस्त्यथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति' 'तस्यनाम सत्यमिति' (छान्दोग्योपनिषद्) । पूर्वोक्त आत्मतत्वका नाम = वाचकशब्द 'सत्य' है, अतः वह आत्मतत्व 'सत्यंनाम यस्यतत्सत्यनाम' अर्थात् 'सत्य' यह है नाम वाचक शब्द जिसका ऐसा है, क्योंकि 'सत्यस्य सत्यमिति' सत्य को स्मरण करने के लिये या कहने के लिये यदि किसी नाम [वाचकशब्द] का प्रयोग करना चाहें तो सत्यही नाम का प्रयोग कर सकते हैं ; क्योंकि सत्य का 'सत्य' ही नाम है।

फलितार्थ—'सत्यनाम' यह उक्त विधया परम उपदेश है, और सद्गुरु उपदेशक हैं अतः उपदेशक को याद करते रहने की अपेक्षा औषध-स्मृति की तरह उसके उपदेश का स्मरण रखना अधिक फल दायक है। हां, कृतघ्नता की निवृत्ति के लिये सद्गुरु का स्मरण रखना भी अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु तत्वोपदेश को भूलकर नहीं।

बाखरि[3] एक बिधाते कीन्हा * चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।
हरि[4] हर ब्रह्मा महतो नाऊँ * तिन्ह पुनि तीनि बसावल गाऊँ।
तिन्ह[5] पुनि रचल खंड ब्रह्मंडा * छव दरसन छानवे पाखंडा।
पेटे[6] काहुन बेद पढ़ाया * सुनति + कराय तुरुक नहिं आया।
नारी[7] मो चित गरभ-प्रसूती * स्वांग धरे बहुतै करतूती।
तहिया[8] हम तुम एकै लोहू * एकै प्रान बियापै मोहू।
एकै[9] जनी जना संसारा * कवन ज्ञान ते भयउ निनारा।
भौ[10] बालक भग-द्वारे आया * भग × भोगी के पुरुष कहाया।
अबिगति[11] की[12] गति काहु न जानी * एक जीभ कित कहौं बखानी।
जो मुख होय जीभ दस-लाखा * तो कोइ आय महन्तो भाखा।
साखी—कहँहिं[13] कबीर पुकारिके, ई ले † ऊ व्यवहार।
राम-नाम जाने बिना, बूड़ि मुवा संसार॥

* टीका *

संसारदावानलदह्यमानान्, विलोक्य जीवान् करुणार्णवो द्राक्।
वचोऽमृतं यो विमलं ववर्ष, तं वारिवाहं कमपि प्रणौमि।
यद्भवीभानुभाभिन्नाः, प्रयान्ति तमसश्छटाः।
अमन्दानन्दसन्दोह, मीडे तं सद्गुरुं परम्॥
यत्कृपालेशतो[1] जातो, विचारोऽयं सताम्मतः।

+ सुनति कराये इ तुरुकन आया।

× भग भोगेते। † ई लयऊ। ई वो इली।

१ श्लेष को महिमा से इसके दो अर्थ होते हैं। कैवल्य-पदासीन (लीन) परम-हंस-प्रवर गुरुवर श्री६जगन्नाथदास जी साहब। दूसरे पक्ष में अन्तर्यामी। विचार=ग्रन्थकी टीकादिक सम्पादन रूप। दूसरे पक्षमें यह तुच्छ विचारदास।

कृपालुन्तमहं वन्दे, जगन्नाथं गुरुं वरम् ॥
क्वायं दुस्तरपाथोधिः क्वाहं भीरु रसाधनः ।
जगन्नाथपदध्यानं तरीभवतु मेऽधुना ॥
अमूर्तेनापि मूर्तेनाऽक्रमं रामेण नोदितः ।
विदध्ये पाठकप्रीत्यै, बीजकार्थप्रबोधिनीम् ॥

'ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण से शिष्टाचार का परिपालन तथा आस्तिकता का द्योतन होता है' इस बात की शिक्षा देते हुए कबीर साहब ने भी अंतर जोति पद से प्रत्यक्चेतन (अन्तरात्मरूप परमात्मा) का स्मरण करके सृष्टि-कथन रूप वस्तु निर्देशात्मक मङ्गल का अनुष्ठान किया है । इस ग्रन्थ में पहली दूसरी और तीसरी रमैनी में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन विशेष रूप से किया गया है । सृष्टि-वर्णन का तात्पर्य आत्म-कैवल्य प्रतिपादन में ही है, और यही 'आत्म-कैवल्य' इस ग्रन्थ का विषय है । 'केवल ज्ञान कबीर का विरले जन जाना ।' और सर्वानर्थ निवृत्ति तथा परमानन्द (परम शान्ति) की प्राप्तिरूप परम प्रयोजन है । एवं उसका साक्षात्साधन आत्म-कैवल्य-ज्ञान है । और विवेक (पारख) वैराग्यादि साधन-सम्पत्ति वाले इसके अधिकारी हैं । और निरूप्य निरूपक भाव तथा बोध्य-बोधक भाव रूप सम्बन्ध हैं ।

सूचना—यह बीजक का संक्षिप्त अनुबन्ध चतुष्टय है । ग्रन्थ-विस्तर भय से इन सबों की लक्षणादि द्वारा विस्तृत विवेचना नहीं की गयी है, इसी प्रकार आगे भी अन्यान्य पदार्थों के निरूपणादिक में उक्त भय से संक्षिप्तता का ही अनुसरण किया गया है ।

यद्यपि मुक्ति का साक्षात्साधन आत्म-कैवल्य ज्ञान (आत्मासङ्गता ज्ञान) ही है, सृष्टि (रचना) ज्ञान नहीं, इस कारण प्रथमतः लोकादि

रचना का वर्णन आपाततः असंगत सा मालूम पड़ता है, तथापि सूक्ष्म विचार करने से यह असङ्गति-ज्ञान दूर हो जाता है क्योंकि निजपद के साक्षात् वेत्ता महात्माओं का यह मत है कि 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते । शिष्याणां सुखबोधाय तत्वज्ञैर्विहितः क्रमः' ॥ अर्थात्—अध्यारोप (प्रपञ्चारोप) तथा अपवाद (प्रपंच का बाध) द्वारा ही प्रपञ्चाभाव का बोध कराया जा सकता है अतः सर्व प्रथम किया हुआ जगदुत्पत्ति का वर्णन भी 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः।' अर्थात् प्रकृत) [इष्ट] की सिद्धि के लिये की हुई चिन्ता को उपोद्घात कहते हैं ।) इस लक्षण से लक्षित उपोद्घात रूप सङ्गति से संगत (समीचीन) ही है । यहाँ पर आत्म कैवल्य ज्ञान कराना अभिमत है, और यह सृष्टि का वर्णन उसका साधक है, इसलिये उपोद्घात का स्वरूप बन जाता है । इस ग्रन्थ में 'अंतर जोति' इत्यादिक सृष्टि प्रतिपादक पद्यों से अध्यारोपका तथा "बिनसै नाग गरुड़ गलि जाई ।" इत्यादिक पद्यों से अपवाद का विधान वाहुल्येन किया गया है ।

उपक्रम

कबीर साहब के मत में भी आत्मा, (चेतन-पुरुष) और अनात्मा (जड़, प्रकृति, माया) ये दो पदार्थ अनादि माने गये हैं । उनमें से चेतन आत्मा तो अनादि अनन्त और प्रकाश रूप है । जैसा कि श्रुति का वचन है, कि 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमाविद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।' अर्थात् चैतन्य में सूर्य, चन्द्र, तारे और बिजली भी प्रकाश नहीं कर सकती तब अग्नि की तो कथा ही क्या है प्रकाशमान उस चैतन्य के पीछे सर्व प्रका-

शित होते हैं, उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होता है। और प्रकृति माया अनादि सान्त और अप्रकाश रूप है, जैसा कि यह श्रुति का वचन है कि 'तमआसीत्तमसागूढ़मग्रे', इत्यादि ऋग्वेद मं० १०। इसी बात को मनुभगवान् ने भी कहा है कि 'आसीदिदं तमोभूतम प्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' ॥ अ० १२श्लो०५। इस प्रकार चेतन और अचेतन के विवेक करने का फल स्मृति ने वर्णन किया है कि 'यएवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न सभूयोऽभिजायते। (गीता)–अर्थात् जो इस प्रकार से गुणों के सहित प्रकृति और पुरुष को जानता है वह सब प्रकार से रहता हुआ भी फिर उत्पन्न नहीं होता हैं, अर्थात् मुक्त हो जाता है। यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है,कि जीव और ईश्वर में वास्तविक भेद नहीं है क्योंकि एकही चेतन उपाधि–भेद से जीव और ईश्वर रूप होकर भिन्न २ प्रतीत होता है, वास्तव में एकही पदार्थ है। इस बात को श्रुतियों ने स्पष्ट कर दिया है। 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। सर्वाध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' तथा 'आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् तथात्मैकोह्यनेकस्थो जलधारास्विवांशुमान्' तथा 'एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।' स्मृति का भी वचन है कि 'इदं शरीरं कौन्तेय-क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्योवेत्ति तंप्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः, क्षेत्रज्ञं-चापि मां विद्धिसर्व क्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम' भगवद्गीता अ० १३। १–२। और जो चेतन आत्मा में द्वैत की सिद्धि के लिये प्रमाण रूप से 'द्वाविमौ पुरुषौ लोकेक्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो

लोकत्रय माविश्यविभर्त्यव्यय ईश्वरः, इत्यादिक भेद-प्रतिपादक-वचन उपस्थित किये जाते हैं वे वस्तुतः भेद के साधक नहीं हैं। यह वार्ता इसी स्मृति के कूटस्थ पद के व्याख्यान से स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि भगवान् शंकराचार्य ने गीता भाष्य-में वर्णन किया है। 'कौतौ पुरुषावित्याह स्वयमेव भगवान् क्षरः सर्वाणि भूतानि समस्तविकार जातमित्यर्थः। कूट-स्थःकूटोराशी राशिरिवस्थितः। अथवा कूटो माया वञ्चना जिह्मं कुटिलं वेति पर्य्यायाः। अनेकमायादिप्रकारेणस्थितः कूटस्थः संसार बीजानन्त्या न्नक्षरतीत्यक्षर उच्यते। आभ्यां क्षरा क्षराभ्यां विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वय दोषेणास्पृष्टोनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुष-स्त्वन्योऽत्यन्तविलक्षण आभ्याम्। परमात्मेति परमश्चासावात्मा च देहाद्यविद्याकृतात्मभ्योऽन्नमयादिभ्यः पञ्चभ्य आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्युदाहृत उक्तो वेदान्तेषु स एव विशिष्यते' इत्यादि। इसी प्रकार 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं, वृक्षंपरि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।' [मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषद्] इत्यादि स्थलों में भी यही रहस्य समझना चाहिये। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवात्मा से परमात्मा वस्तुतः भिन्न नहीं है अतः चेतन और माया दोही पदार्थ अनादि हैं। माया के विषय में यह भी जान लेना चाहिये कि उसकी सत्ता चेतन से पृथक् नहीं है, क्योंकि वह स्व (चेतन) आश्रिता है, अतः देवदत्ताश्रित देवदत्त की शक्ति की तरह माया आत्मा में भेद की साधक नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा केवल तथा निर्लेप है, अतएव आत्म-कैवल्य ज्ञान से ही मुक्ति होती है, विपरीत इसके जो आत्मा में वस्तुतः भेद बुद्धि करते हैं वे अज्ञानता के कारण जन्म मरण रूप क्लेश को प्राप्त होते हैं, यह वार्ता भेद निषेधक

श्रुति समुदाय से स्पष्ट है। 'यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेऽभयंप्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति । यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इसी प्रकार भेद-बुद्धि-पूर्वक तटस्थेश्वरोपासकों की निन्दा भी श्रुति ने की है यथा "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽवसान्योऽहमस्मीति न सवेद यथा पशुः" इत्यादि । इससे यह सिद्ध हुआ कि जगदुत्पत्ति के पूर्व एक आत्मा ही था जैसा कि श्रुति का वचन है कि 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत।' इसके पश्चात् शुद्ध सत्व प्रधान माया में चेतन के प्रतिबिम्ब से उक्त चेतन को ईश रूपतापत्ति हुई। और वह ईश्वर माया की सत्त्व शुद्धिता के कारण सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् तथा न्यायकारी और दयालु हुआ। अनन्तर चेतनाश्रित माया के गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने से हिरण्यगर्भ=समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी मन (निरञ्जन) की उत्पति हुई जैसा कि वर्णन किया है कि 'गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूवह । मनोमहाँश्च विज्ञेय एकं तद्वृत्तिभेदतः' अनन्तर माया में प्रतिबिम्बित चेतन रूप ईश्वर ने इच्छा की कि मैं बहुत रूप से प्रकट होऊँ, जैसा कि श्रुति—वचन है कि 'सऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' तथा 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इद ँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' महदादि, की उत्पत्तिका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि 'गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूवह । मनो महाँश्चविज्ञेयएकं तत्वृत्ति भेदतः।' इस प्रकार ईश्वरेच्छा से होने वाली रचना में प्रथम त्रिगुण प्रधान ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः मायोपाधिक ईश्वरही गुण-त्रय की उपाधि से त्रिदेव रूप होकर सर्जन पालन और संहार रूप कार्यों को किया करता है जैसी कि

कैवल्य श्रुति है कि "स ब्रह्मा, स विष्णु स रूद्रः।' तथा 'एकैव मूर्ति विभिदे त्रिधासौ।' इत्यादिक वचन हैं। इस प्रकार सूक्ष्म भूत क्रम से त्रिदेव सृष्टि के अनन्तर स्थूल भूत सृष्टि पूर्वक भौतिक सृष्टि हुई। जैसा कि वर्णन किया है कि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भयः पृथ्वी, पृथिव्या औषधयः, औषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, सवा एष परुषोऽन्नरस मयः।"

शब्दार्थ

१—प्रपंचोत्पत्ति के पूर्व भी अंतरजोति = प्रत्यक्चेतन अन्तरात्मा विद्यमान था। चेतन आत्मा निर्पेक्ष प्रकाशशील होने के कारण अन्त-र्ज्योतिः, परमज्योतिः, और स्वयं ज्योतिः, आदिक अन्वर्थ नामों से ज्ञात होता है जैसाकि श्रुति और स्मृतियों ने वर्णन किया है कि 'परंज्योति-रुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्हो-पासतेऽमृतम्। यदतः परोदिवोज्योतिर्दीप्यते, तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः,। इसी बात को गीता स्मृति ने भी कहा है कि 'ज्योतिषामपि तज्ज्योति-स्तमसः परमुच्यते।' श्रीमद्भागवत के एकादश-स्कन्धस्थ श्लोक में भी यही वार्ता कही गयी है कि 'एष स्वयं ज्योतिरजोऽप्रमेयो महानुभूतिः सकलानुभूतिः एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे येनेपिता वागसवश्चरन्ति'॥ यद्यपि ज्योतिः शब्द से जहाँ तहाँ मन आदिकों का भी अभिधान किया गया है (इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायगा) तथापि वे स्वयं ज्योतिः अर्थात् निर्पेक्ष प्रकाश वाले नहीं है किन्तु प्रकाशकों के भी प्रकाशक आत्मा से प्रकाशित होकर प्रदीप की तरह दूसरों को प्रकाशित करते रहते हैं, यह

वार्ता "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादि उपनिषद् वचनों से स्पष्ट है। इस प्रसंग में यह रहस्य प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि अनात्मोपासक लोग भ्रम से उक्त ज्योतिः स्वरूप, मन (पारिभाषिक निरंजन) आदिकों की आत्म भाव से उपासना करते हैं। इसी अध्यास के कारण वे आत्म-साक्षात्कार से वंचित होकर संसृति-चक्र में पड़े हुए सदैव घूमा करते हैं; क्योंकि मन साक्षात् यमराज है, इसी अभिप्राय से परतो ज्योतिः स्वरूप मन की उपासना का निषेध 'जोति सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा हो। करम की वंसी लाय के पकर्यो जग सारा हो॥ अमल मिटावो तासुका पठवौं भव पारा हो। कहँहिं कबीर निरभय करौं परखो टकसारा हो' (टकसार=स्वरूप, सत्यपद; चेतन) इत्यादिक वचनों से किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त केवल शुद्ध चेतन पुरुष (आत्मा) ही सत्य पुरुष है, और मन आदिक बन्धन कारक असत्य पुरुष हैं, इस प्रकार विवेक (पारख) द्वारा सत्य पुरुष के स्वरूप को समझकर उसके साक्षात्कार के लिये निरन्तर और आदर पूर्वक उपासना (आत्मचिन्तन) करनी चाहिये। अब प्रकृत बात पर आता हूँ। वही स्वयं ज्योति शुद्ध-चेतन शुद्धसत्वप्रधान माया रूप उपाधि से ईशरूपता को प्राप्त होकर पुनः गुणत्रयोपाधि से ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम से प्रसिद्ध होता है अनन्तर वही ईश्वर स्वनिर्मित नाना शरीरों में प्रवेश करता हुआ प्राणों के धारण करने के कारण जीव शब्द से व्यपदिष्ट होता है, अतः जीव और ईश में औपाधिक भेद के अतिरिक्त वस्तुतः भेद नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिये कि ईश्वर ही जीव रूप से स्थित होकर सम्पूर्ण व्यवहारों को सिद्ध करता है। जैसा कि श्रुतियों में वर्णित है 'अनेनजीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' तथा 'योऽयंवि-

ज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' अर्थात् जो यह विज्ञान रूप है, और प्राणों के मध्य हृदय के बीच में प्रकाशमान है वही परमात्मा है । तथा 'स ब्रह्मा, स विष्णुः, स रुद्र इति । यह अन्तर जोति पद का अर्थ हुआ, अब नारी पद का अर्थ किया जाता है । यद्यपि अन्तर जोति पद की व्याख्या के अनन्तर शब्दों के क्रम से क्रम प्राप्त शब्द पद की व्याख्या करनी चाहिये, "तथापि अग्निहोत्रं जुहोति, यवागु' पचति' इस स्थल में कहे हुए 'शब्द क्रमादर्थक्रमो बलीयान्' अर्थात् शब्दों के क्रम से अर्थों का क्रम बलवान् होता है । इस मैमांसिक अर्थक्रम न्याय के अनुसार यहाँ पर अर्थ—क्रम के अनुरोध से प्रथमतः नारी पद का अर्थ बताना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि शब्द नियमतः संयोगज, विभागज और शब्दज हुआ करते हैं, इस कारण 'दो बिनु होय न काजिका काजा । दो बिनु होय न अधर अवाजा ॥' इस लौकिक आभाणक के अनुसार केवल असंहत चेतन से ॐ-कार रूप शब्द की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि शब्दोत्पत्ति का यह क्रम है कि 'आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छतियः स शब्दः" अर्थात् जब बोलने की इच्छा होती है तब प्रयत्न विशेष से प्रेरित हुआ नाभिस्थ-वायु आकाश से संयुक्त होकर नाद रूप को धारण करता है, अनन्तर ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठादि स्थानों में विभक्त होकर ककारादि वर्ण भाव को जो प्राप्त होता है वह शब्द कहाता है । "नयति संसृति मिति नारी" अर्थात् जो अज्ञानियों को संसार में भ्रमण करावे वह नारी है इस निरुक्ति से नारी पद से यहाँ माया विवक्षित है । और सदैव चेतन पुरुष के आश्रित रहने के कारण भी माया नारीवत् नारी है । 'न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति ।' (मनु) यहाँ पर पूर्व कथित इस वार्ता का स्मरण रखना आवश्यक है कि 'चेतन'

और माया दोनों अनादि हैं। माया की अनादिता का वर्णन चौहत्तरवीं रमैनी में इस प्रकार किया गया है कि 'तहिया गुपुत थूल नहिं काया, ताके न सोग ताकि पै माया।' इत्यादि। अनन्तर माया प्रतिबिम्बित चेतन की ईश्वरापत्ति के कारण शब्द ब्रह्म का प्रादुर्भाव हुआ इसके पश्चात् ब्रह्मा ने इसी शब्द की सहकरिता से 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इस कथन के अनुसार भूर्भुवादि निखिल लोकों की रचना की 'सभूरिति उक्त्वा भुवम सृजत्' तथा 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्चनिर्ममे।' यह शब्द–ब्रह्म संज्ञा ॐ-कार की भी है यह वार्ता 'आकाशवायु प्रभवः' इसके अवशिष्टांश 'स वै शब्दो ब्रह्मोच्यते ओमित्येतत्' अर्थात् वह शब्द ब्रह्म निश्चय से ॐ ऐसा कहा जाता है। और यहाँ सृष्टि प्रकरण में शब्द पद से ॐ-कार संज्ञक शब्द ब्रह्म ही प्रकृतोपयोगी होने से विवक्षित है। ॐ कार संज्ञक एक महा अंड से विश्वोत्पत्तिका वर्णन कबीर साहब ने भी आगे इसी ग्रन्थ में किया है कि 'एक अंड ॐकार ते सब जग भया पसार'। इस रमैनी के प्रथम चरण में 'एक' शब्द दिया गया है जिसका मध्यमणि न्याय से शब्द और नारी दोनों के साथ अन्वय है। पूर्वोक्त शब्द–ब्रह्म 'लोकान्नु सृजा' तथा 'बहुस्यां प्रजायेय' इस प्रकार की इच्छा से प्रेरित हुए महाभूत के निःश्वास से प्रादुर्भूत होता है। अब त्रिदेव सृष्टि का वर्णन किया जाता है। पूर्वोक्त मायोपाधिक ईश्वर ही सत्व, रज, और तमोगुण रूप उपाधि से हरि, ब्रह्मा और त्रिपुरारी नाम से कहा जाता है। 'स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रश्च।'

२—उन तीनों देवताओं ने अनन्त ऐश्वर्य और अनेक आकृतियों (चिन्हों) को धारण किया। और यह भी किसी तरह अर्थ हो सकता है कि उन्हों से अनेक नारी और नर उत्पन्न हुए। ऐश्वर्यादिक भग शब्द से

बोधित होते हैं। जैसे कि ' ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानविज्ञानयोश्चैवषरणां भग इतीङ्गना,। पूर्व वर्णित गुणोपाधिक तीनों देवताओं ने अपनी उत्पत्ति और प्रलय को नहीं जाना क्योंकि कार्य्य अपने कारण को पूर्णतः नहीं जान सकता है ।

३—अनन्तर रजःप्रधान होने के कारण क्रियाशील ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड रूप एक विशाल-गृह का निर्माण किया, तथा प्रतिपादक तया यागादि धर्मों का आश्रय भूत वेद-त्रयी रूप एक पवित्र सर्व-श्रेष्ठ और सुन्दर भवन का निर्माण भी किया। इस प्रकार खनि=स्थान, और वाणी की उत्पत्ति हुई। अनन्तर वह खनि और वाणी रूप बाखरी (भवन) चौदह ठौर से पाटी गयी। भाव यह है कि चौदह भुवन और चतुर्दश विद्याओं का विस्तार हुआ। चतुर्दश विद्याएं ये हैं " पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्ग मिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।

४—हरि हर और ब्रह्मा ये तीनों नाम अधिकार त्रय-प्रयुक्त होने के कारण " हरति-असुरानिति हरिः " तथा हरति प्रलयेन विश्वमितिहरः" एवं "बृहत्वात् ब्रह्मा" इस प्रकार तीनों देवताओं के महत्व के सूचक है। अनन्तर तीनों देवताओं ने प्रातिस्विक रूपेण तीनों लोकों की रचना की—

५ अनन्तर व्यष्टिरूप से खण्ड ब्रह्माण्डों की रचना की गयी और तद-न्तर्गत जङ्गम और स्थावर-सृष्टि हुई। इस प्रकार सृष्टि के अनन्तर मनुष्य नाना प्रकार के कर्मों में लग गये। इसके पश्चात् जब स्वार्थी नास्तिकों ने देहात्म वादादिक नाना प्रकार के पाखण्ड फैला दिये तब हमारे प्रातः स्मरणीय परम दयालु महर्षियों ने छ आस्तिक दर्शनों का निर्माण किया। षड् दर्शन ये हैं " साङ्ख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा न्याय और वैशेषिक।

६—इस प्रकार अनेक पाखण्ड–खंडन षड् दर्शनारम्भ के अनन्तर भी जन्म-जातिवाद और कर्मजाति वाद रूप जन्मना कर्मणा का बड़ा भारी बखेड़ा लगा ही रह गया, जिसके कारण अहंकार मूलक मिथ्या कलह में पड़कर अविवेकी लोग आत्म-तत्व से विमुख हो गये । और अपनी २ कल्पित अनन्त जातियों उपजातियों और धर्मों की मिथ्या श्रेष्ठता में पड़कर सब जातियों और धर्मों के सच्चे जन्मदाता श्री नर नारायण देव के, तथा मानव धर्म के भी घातक हो गये । इस प्रकार अज्ञान-प्रभञ्जन-विवर्धित-विद्वेषाग्नि से सारे संसार को जलते हुए देखकर उसको प्रशान्त करने की शुभेच्छा से परम कारुणिक श्री सद्गुरु कबीर साहब ने तत्वोपदेशामृत की वर्षा का आरम्भ इस प्रकार किया कि ' पेटे न काहू बेद पढ़ाया, सुनति कराय तुरुक नहिं आया ' अर्थात् इतर जातियों का निर्माण मनुष्यों ने कर्मानुसार किया है, अतः ईश्वरीय जाति एक है और वह मनुष्य जाति है । ब्राह्मणों का यह स्वाभिमान कहाँ तक सम्मान्य है कि हम सब ' ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् । ' इस श्रुति के अनुसार ईश्वर के मुख से प्रकट हुए हैं, और ईश्वरीय वेदों को पढ़ा है इस लिये स्वभावतः उच्च वर्ण होने के कारण ब्राह्मणेतरों से श्रेष्ठ हैं । इसी प्रकार क्षत्रियादिक द्विजातिवर्ण भी अपने आप को जन्मना ऊँच और हरि के चरणों से उत्पन्न हुए भाइयों को जन्मना नीच मानते हैं । यही दशा मुसलमानों की भी है वे भी कहते हैं कि हम मुसलमानों [ईमानदारों] को खुदा ने पैदा किया है इस वजह से हम लोग गैर मुस्लिम काफिरों से हर तरह पाक क़ौम हैं । ऐ भाइयो हिन्दू और मुसल्मानो ! आप लोग अपनी २ जाति की बड़ाई में पड़कर इस बात को भूल गये हैं, कि हम सबों को एकही ईश्वर मालिक ने पैदा किया है इस कारण हम सबों के शरीर समान ही

हैं न कोई सोने का है न कोई मिट्टी का, और हमारे आराम के लिये बिछाये हुए एकही बिछौने [पृथ्वी] पर ईश्वर ने हम सबों को बैठाया है। और एकही पिता से उत्पन्न होने के कारण हम सबों का वस्तुतः एकही खून है, अतः हम लोग एकही लोक [घर] के रहने वाले सबके सब औरस भाई हैं। सुनिये ' जो तुम करते वरन विचारा, जनमत तीन डंड अनुसारा ॥ जनमत सूद्र मुये पुनि सूद्रा । क्रितिम जनेउ घालि जग दुद्रां ॥ जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि (के) जाये। अवर राह ते काहे न आये ॥ जो तुम तुरुक तुरुकनी जाये। पेटेहिं काहे न सुनति कराये ॥ कारी पियरी दूहहु गाई । ताकर दूध देहु बिलगाई। छाँडु कपट नर अधिक सयानी। कहहिं कबीर भजु सारंग पानी ॥' और यह भी सुनिये " भाई रे दुइ जगदीस कहाँ ते आया। कहु कौने वैाराया ॥ अल्लह राम करीमा केसव, हरि हज़रत नाम धराया ॥ गहना एक कनक ते गहना, या में भाव न दूजा । कहन सुनन को दुइ करि थापे एक नमाज एक पूजा ॥ वही महादेव वही महम्मद ब्रह्मा आदम कहिये। को हिन्दू को तुरुक कहावे एक जमीं पर रहिये ॥ बेद कितेब पढ़ैं वे कुतबा वे मोलना वे पाँड़े । बेगर २ नाव धराये एक मिटिया के भाँड़े ॥ कहहिं कबीर वे दोनौं भूले रामहिं किनहुं न पाया। वै खँसी वै गाय कटावैं बादहिं जन्म गमाया ॥" ज़रा सोचिये तो सही कि—" माटी के घट साज बनाया नादे बिन्द समाना। घट बिनसे का नाम धरहु गे अहमक खोज भुलाना ॥ एकै तुचा, हाड़ मल मूत्रा एक रुधिर एक गूदा । एक बून्द से सिष्टि रची है को ब्राह्मन को सूद्रा ॥ रज-गुन ब्रह्मा, तमगुन संकर सत्तगुना हरि सोई । कहहिं कबीर राम रमि रहिये हिंदू तुरुक न कोई " ॥

७—यहाँ पर नारी शब्द से स्त्री और माया [प्रकृति] कनक और

कामिनी दोनों विवक्षित हैं, उनमें से माया की प्रतीति के लिये किया हुआ नारी शब्द का प्रयोग भाक्त है, क्योंकि माया [प्रकृति] नारीवत् नारी है जैसा कि प्रकृति का लक्षण है कि "अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रिया त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते ॥ व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः ॥" कनक और कामिनी में लिप्त रहने वाले मनुष्य सदैव अनेक दुष्कर्म किया करते हैं, इस कारण कर्म फलों को भोगने के लिये अनेक प्रकार के शरीर रूप स्वाँगों को यम की आज्ञा से पहन २ कर विशाल संसार-अजिर में चिर-काल तक उनको नाचना पड़ता है। कभी बैठने नहीं पाते। दूसरा अर्थ यह है, कि माता के पुत्र उत्पत्ति से समान होते हुए भी अपने २ कर्मों के अनुसार अनेक दशा वाले हो जाते हैं।

८—ऐ भाइयो हिन्दू और मुसलमानो! सृष्टि के पूर्व हम सब पितामह (आदम) के एकही खून और एकही प्राण वाले थे, जैसा कि मनु भगवान् का उपदेश है कि "द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः।" अर्थात् एक ही ईश्वर रूप ब्रह्मा ने अपने शरीर से सबों को पैदा किया है। आश्चर्य और खेद है कि इस बात को जानते और मानते हुए भी अपने को ऊँच और दूसरों को निष्कारण नीच ठहराते हुए विद्वेषाग्नि से जल रहे हैं।

९—और एक ही माया ने सारे संसार को पैदा किया है, तो भला बतलाइये कि आप लोग किस समझ से अपने को स्वभावतः ऊँच और दूसरों को जन्म ही से नीच ठहरा कर उनके साथ कुछ भी सहानुभूति नहीं रखते हैं। यह काम ईश्वर के पुत्रों को शोभा नहीं देता है।

१०—इस प्रकार मिथ्या अहंकार के कारण निजरूप को भूलकर अबोध

बालक के समान जो अज्ञानी हो गया वह निश्चय जन्म रूप संसार के द्वार पर भोगभिक्षा माँगने के लिये चला आया। यहाँ पर भगशब्द उत्पत्ति का बोधक है 'उत्पत्तिञ्च विनाशञ्च भूतानामागतिंगतिं वेत्ति विद्याम-विद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति।' और षडैश्वर्य को भोगने वाले इन्द्रादिक अधिकारी पुरुष कहलाये, परन्तु इन सबों में से अविगत = निश्चल जैसा का तैसा आत्मतत्व ईश्वर की गति (रहस्य) को किसी ने नहीं जाना।

११,१२–अब मैं अनन्त महिमा वाले निजरूप आत्मा का वर्णन एक जीभ से कहाँ तक करूँ। यदि किसी के मुख में दश लाख जीभ हों तो वह आकर ईश्वर की महिमा का वर्णन करे। भाव यह है कि मिथ्या अहंकारी संसारी लोग न्यायकारी होने के कारण कर्मफलों को भुगाने वाले ईश्वर से भी नहीं डरते हैं, मानों उन्होंने ईश्वर को भगा कर सारे संसार पर अपना अधिकार जमा लिया है। 'यदि किसी के मुख में दश लाख जीभ हों तो वह ईश्वर का वर्णन करे' यहाँ पर संभावना अलङ्कार कैसा फबता है, जिसका यह लक्षण है कि 'संभावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये. यदि शेषोभवेद्वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव।' जौ यौं हो तौ यौं कहें सम्भावना विचार। वक्ता हो तो सेस जौ तौ लहतौ गुनपार (भाषा–भूषण)

१३-कबीर साहब पुकार २ कर मिथ्याभिमानियों को यह कह रहे हैं, यह संसार लय का भी व्यवहार रखता है। अर्थात् इसी प्रकार तुम्हारा दौर दौरा और स्वाश्रितों पर अत्याचार सदैव न चल सकेगा क्योंकि यह संसार सदैव करवटें बदला करता है। इस कारण अपने को ऊपर मानने वाले नीचे और नीचे पड़े हुए ऊपर होते रहते हैं। इसने बड़े २ चक्रवर्ती अभिमानियों को धूल में मिला दिया है, ईश्वर के अतिरिक्त

कोई स्थिर हो कर रहने वाला नहीं है ' सर्वे भावा विपरिणामिन ऋते चिति शक्तेः, (सांख्यदर्शन)। दूसरा यह भी अर्थ है, ये मनमाने आडम्बर बीच में स्वार्थियों ने खड़े किये हैं। न आदि ही में थे, और न अन्त में ही रहेंगे। राम, रमैया ' रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः ' अर्थात् सबों के हृदय-मन्दिर में निवास करने वाला चेतन देव, आत्मा, राम शब्द से बोधित होने वाला, राम है नाम जिसका अर्थात् पूर्वोक्त अनादि रमैया राम सर्व भूतनिवासी को साक्षात् रूप से (हाजिर नाजिर) जाने बिना अज्ञानी लोग इसी प्रकार लड़ते झगड़ते हुए ज्ञानरूपी नौका के उलट जाने से संसार-सागर में डूब जाते हैं। यहाँ पर संसार पद से 'मञ्चाः क्रोशन्ति' की तरह लक्षणा से संसारी लोगों का बोध होता है। इस रमैनी के उपक्रम में चेतन-आत्मा का निरूपण और मध्य में मायिक-सृष्टि का वर्णन और उपसंहार में प्रपञ्चोपसंहार-कथन-पूर्वक एकात्मतत्व (रमैया राम) की ही अवस्थिति का प्रदर्शन कराया गया है। इस से यह बात स्पष्ट ही मालूम होती है कि यह संसार न पहले था और न अन्त में ही रहेगा, केवल बीच में झूल रहा है। इसका यह बीच २ में रहना भी सत्यरूप से नहीं है। यह वार्ता 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (अर्थात् जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी नहीं है) इस गौड़-पादीय-कारिकांश का यह भाव है कि, संसार की मध्य में (अर्थात् वर्तमान में) प्रतीति भी मिथ्या है, अतः एक आत्मा ही सत्य है और उसी के साक्षात्कार से मुक्ति-पद प्राप्त होता है। उक्तआत्मा के साक्षात्कार का अधिकारी वही हो सकता है जिसका हृदय विकारों से रहित हो। इस प्रकार अध्यारोप और अपवाद के द्वारा इस रमैनी में निष्प्रपञ्च का निरूपण किया गया है जिससे कि आत्म-कैवल्य-ज्ञान के द्वारा अमर-पद को प्राप्त करें।

इस रमैनी के प्रथम-चरण के अर्थ में यह भी एक प्रकार हो सकता है कि, सृष्टि के आदि में एक अन्तर् (अन्तरात्मा प्रत्यक्चेतन और एक नारी) माया थी। 'एषोऽन्तः पुरुषः'। अनन्तर मायोपाधिक शबलचेतन ईश्वर से ज्योतिः शब्द से बोधित होने वाला—अर्थात् समष्टि-सूक्ष्म शरीराभिमानी जिसका नाम उपनिषदों में मन भी है—वह उत्पन्न हुआ। मन भी ज्योतिःस्वरूप है, परन्तु परतो ज्योतिः है। स्वयं ज्योतिः स्वप्रकाश-चेतन नहीं है। मन की ज्योतिः स्वरूपता का वर्णन यजुर्वेद में अ० ३४ मं० १, ३ में किया गया है। यथा "यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मेमनः शिव-सङ्कल्पमस्तु" ॥ १ ॥ ज्योतिषां ज्योतिः = विषय प्रकाशक इन्द्रियों का प्रेरक। तथा "यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरममृतम्प्रजासु। यस्मान्न ऋतेकिञ्चनकर्म क्रियते तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु" ॥ ३ ॥

इसी मन की आत्म-बुद्धि से उपासना करने वालों का संसार सागर में डूब जाने का वर्णन इस ग्रन्थ में कई जगह विद्यमान है। इस प्रसंग में कुछ पारिभाषिक-अर्थ-रहस्य को स्पष्ट कर देना आवश्यक है जिससे कि "शब्दमात्रान्न भेतव्यम्" यह सूक्ति अन्वर्थ हो जाय। पदार्थ-प्रतिपादक सब ही ग्रन्थों में प्रायः कुछ शब्द पारिभाषिक होते हैं, जिनका कि प्रयोग ग्रन्थकार विशेष अर्थ में करते हैं जैसे व्याकरण में (घिसंज्ञा) घि शब्द नदी शब्द और वृद्धि शब्दादिक हैं। उक्त शब्द लौकिक-अर्थ के बोधक नहीं है, किन्तु पारिभाषिक "इ" और 'उ' आदि के ही बोधक है, यह वार्ता विना ननु और नच के सर्व सम्मत है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में भी निरञ्जन शब्द का ग्रन्थ की परिभाषा से तथा निरुक्ति-बल से भी मनोऽभिमानी देवता—जिसको मन भी कहते हैं–अर्थ है। क्योंकि समष्टि

सूक्ष्म शरीर में मन ही की प्रधानता है। निरञ्जन शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है " अञ्जु व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु " एतदर्थक अञ्जु धातु से बाहुलकात् भाव में ल्युट्प्रत्यय करने से अञ्जन, व्यञ्जन और व्यञ्जनादिक शब्दों की सिद्धि होती है, जिनका अर्थ " व्यक्त होना " होता है। फिर निर् के साथ " निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या " इस वार्तिक से समास होता है। उक्त शब्द का विग्रह यह है " निर्गतो व्यञ्जनात्, व्यक्तेः = व्यक्ततायाः इति निरञ्जनः " अर्थात् जो व्यक्तता प्रकटता से रहित हो (गुप्त हो) अव्यक्त हो उसको निरञ्जन कहते हैं। उक्त अञ्जु धातु के व्यक्ति रूप अर्थ को लेने से निरञ्जन शब्द का यह अर्थ होता है। इसी प्रकार व्यक्ति और म्रक्षण अर्थ को लेने से 'अञ्जना' माया रूप अर्थ की प्रतीति होती है, जैसा कि ९ वीं रमैनी में प्रयोग है कि "जम बाँधे अँजनी के पूता"। इसी प्रकार कान्ति और गति अर्थ को लेकर "निरञ्जनः परमंसाम्यमुपैति" इत्यादि स्थलों में निरञ्जन शब्द के दूसरे २ अर्थ हो जाते हैं। यह शब्द-शास्त्र की कामधेनुता है। " इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः प्रक्रियां तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्।

मन ज्योति स्वरूप है यह वार्ता पहले हो चुकी है, और मन सबों को भटकाने वाला तथा यम रूप होकर अनेक कष्ट देने वाला है, यह भी सर्व सम्मत है।

भावार्थ—मिथ्या-प्रपंचरूप मरु-प्रदेश की ओर बहते हुए प्रेम-प्रवाह को मोड़ कर अखण्डानन्द-परिपूर्ण विश्वात्म-सागर की ओर ले जाना चाहिये ॥ इति ॥ १ ॥

(२)

जीवरूप[1] एक अंतर बासा * अंतर जोति कीन्ह परगासा।
इच्छा-रूपि[2] नारि अवतरी * तासु नाम गाइत्री धरी।

तेहि[३] नारी के पुत तीनि भाऊ+ * ब्रह्मा विस्नु महेसुर नाँऊ।
फिर[४]* ब्रह्मा पूछल महतारी * को तोर पुरुष केकरि तुम नारी।
तुम हम हम तुम अवरन कोई * तुमहिं से पुरुष हमहिं तोरि जोई।

साखी—बाप[५] पूत † की एकै नारी, एकै माय बियाय।
ऐसा पूत सपूत न देखा, बापहिं चीन्है धाय।

उपक्रम

पूर्व रमैनी में समष्टि और व्यष्टि भाव से भूत और भौतिक सृष्टि का वर्णन किया गया है, और इस रमैनी में केवल व्यष्टिरूप से जीव-रूपतापत्ति तथा माया के त्रिगुणात्मक फाँस में जीवात्माओं के फँस जाने का वर्णन किया गया है। अतः ईश-रूपतापत्ति-पूर्वक जीव रूपतापत्ति का बोध कराने वाली इन दोनों रमैनियों का पौर्वापर्य भी सुसङ्गत होता है। पूर्व रमैनी में यह वर्णन हो चुका है कि शुद्ध-सत्व-प्रधान माया में प्रतिबिम्बित होने से चेतन को ईशरूपता की प्राप्ति होती है, जैसा कि विद्यारण्य स्वामी जी ने पञ्चदशी में वर्णन किया है—"सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते, मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः।" अब पूर्वोक्त चेतन की जीव रूपतापत्ति का वर्णन किया जाता है। इस रमैनी में अलंकाररूप से माया की त्रिगुणात्मक फाँसी का वर्णन किया गया है। अतः इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये शब्दार्थ करने के पूर्व कुछ कहना आवश्यक है। उक्त प्रकार से ईश्वर ने भूत-सृष्टि-पूर्वक भौतिक-शरीरों का निर्माण

पाठान्तर + पूत तीनि नारी तिहि भाऊ।
*तब। † छन्द "हरिपद"।

करके व्यवहार-सिद्धि के लिये नाम और रूपों की व्याख्या करने के हेतु जीवरूप से उनमें प्रवेश किया जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णन किया है—"असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत । तदात्मानँ् स्वयमकुरुत । तस्मात्सत्सुकृतमुच्यते इति " तथा "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत । अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।" शरीरों में प्रवेश करके प्राणों को धारण करने ही के कारण आत्मा की जीव ऐसी संज्ञा हुई "जीवोवै प्राणधारणात् " तथा "जीवोभूत्वा जीवमाविशत" इत्यादि । अनन्तर अनेक कार्यों को करने के लिये जीव के हृदय में (स्फुरण) इच्छा का संचार हुआ। उक्त इच्छा विकृतिरूप होती हुई भी कार्य और कारण की अभिन्नता से प्रकृति के तुल्य त्रिगुणात्मिका तथा त्रिगुणात्मक–प्रपंच को स्वयं उत्पन्न करने वाली हुई । अनन्तर सूक्ष्मेच्छा से राजस, सात्विक और तामस रूप वाले अभिव्यक्त विचारों का प्रादुर्भाव हुआ । ये विचार मन और प्रकृति के सम्बन्ध से हुए हैं । अतः त्रिगुणात्मक होने के कारण शब्दान्तरित रज, सत्व और तमोगुण रूपही हैं, और इनका भी सम्भव प्रकृति ही से हुआ है जैसा कि गीता का वचन है—" सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः । " इन तीनों गुणों के स्वरूप का वर्णन सांख्यकारिका में इस तरह किया है । "सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्चरजः । गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।" तथा इन गुणों के कार्यों का वर्णन गीता में इस प्रकार है—" सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च, प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।" इन्हीं तीनों गुणों से तीनों लोकों की तथा त्रिगुणात्मक समस्त प्रपंच की उत्पत्ति होती है, और इसी त्रिगुणात्मक फाँसी को हाथ में लेकर माया सबको बाँधती है, जैसा कि गीता के १४वें अध्याय में वर्णन किया है—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्रसत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ! ॥
रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसंगेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥

इन तीनों गुणों के हिंडोले में बैठ हुए प्राकृत जन कभी स्वर्ग कभी मर्त्य और कभी नीचे के लोकों में घूमा करते हैं। अनन्तर आत्मानात्मा का विवेक (पारख) हो जाने से गुणातीत होकर आत्मकैवल्य को प्राप्त हो जाते हैं। इस बात को भगवान् ने स्वयं वर्णन किया है—"नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।" "गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरा दुखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।" प्रकृति के किये हुए नाना प्रकार के कर्मों को अहं बुद्धि से अपना किया हुआ मानना ही बन्धन का कारण है। और इसी गुणाभिमान रूप फाँसी से माया अविवेकियों को बाँधा करती है। " माया महाठगनी हम जानी। त्रिगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी। अन्त में कहा है कि "कहैं कबीर सुनो भाइ साधो ये सब अकथ कहानी।" इससे यह सिद्ध हुआ, कि तीनों गुण बन्धनकारक हैं, अतः मुमुक्षु को उचित है कि इन से बचकर निस्त्रैगुण्य होने का प्रयत्न करे। इस ग्रन्थ में यह वार्ता आलंकारिक रूप से अनेक जगह पर कही गयी है। जैसे कि "रजोगुन ब्रह्मा तमोगुन संकर, सत्तगुना हरि होई। कहैं कबीर राम रमि

रहिये हिन्दू तुरुक न कोई" । इसी प्रकार "ब्रह्मा पूछै जननि से कर जोरि सीस नवाय" इत्यादिक ब्रह्मा का माया से अपने पिता के विषय में प्रश्न करना और उत्तर पाकर ध्यान-द्वारा उसका साक्षात्कार करना इत्यादि वर्णन भी रूपकातिशयोक्ति-घटित है। और इसी तरह उक्त गुण-प्रधान नाना देवताओं की उपासना का निषेध करना भी इसी रहस्य से पूर्ण है, क्योंकि बधनकारक गुणत्रय ही है। लोक विशेष निवासी और चतुर्मुखादि विग्रह-धारी देवता आकर अविवेकियों को नहीं बाँधते, अतः गुण-त्रयाभिमान की निवृत्ति और आत्म-विवेक की प्राप्ति के द्वारा जिज्ञासु अनायास ही मुक्ति को प्राप्त कर लें, यही महात्माओं का सदभिप्राय है। खेद है कि इस अभिप्राय को न जानने के कारण स्वयं त्रिगुण-फाँस में पड़े हुए भी देवापवाद करते हुए लोकापवाद के महापात्र बन जाते हैं।

व्याख्या

१—उक्त मायोपाधिक ईश्वर ने ही शरीरादिकों का निर्माण करके उनमें जीवरूप से प्रवेश किया, तथा हृदय-रूपी गुहा में ज्योति (चेतनता) का प्रकाश किया। "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ज्ञानं ज्ञेयंज्ञान गम्यं हृदि सर्वस्यधिष्ठितम्। (गीता) तं दुर्दर्शं गूढ़ मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" तथा "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" इसी बात को स्मृति ने भी कहा है कि—"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"

२—अनन्तर नाना कार्यों को करने के लिये उक्त जीवात्मा के हृदय में प्रथम मायारूप सूक्ष्म इच्छा की उत्पत्ति हुई। विकृति रूपा यह सूक्ष्मेच्छा भी कार्य-कारण की अभिन्नता से त्रिगुणात्मिका तथा सात्त्विक, राजस और तामस रूप मन आदिक व्यक्त भावों की जननी हुई। त्रिगुणात्मक

भाव भी उक्त न्याय से त्रिगुण रूप ही हुए। उक्त कार्योत्पादिका इच्छा का नाम गायत्री रक्खा गया क्योंकि उक्तेच्छा गुण त्रय रूप से त्रिपदा है (अर्थात् त्रिगुणरूप से स्थित है) और गायत्री भी त्रिपदा है । इस त्रिपदत्वसाम्य से तथा कार्य-साधकत्वरूप साम्य से गौणी वृत्या उक्तेच्छा का गायत्री नाम रखा गया। गायत्री की सप्तव्याहृतियों से सप्तभुवनों के निर्माण का वर्णन वेद में सविस्तर किया गया है। उक्तेच्छा गायत्रीवत् गायत्री है, मुख्यगायत्री मन्त्र नहीं, अतः यहाँ पर अनुचित आक्षेपों को अवसर नहीं है । गायत्री वा इद ँ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वाइद ँ सर्वम्भूतं गायति च त्रायते च " छान्दोग्योपनिषद् ।

३—अनन्तर उस प्रकृति-प्रतिनिधिभूत त्रिगुणात्मिका इच्छारूपनारी से राजस सात्विक और तामस रूप भावत्रयरूपी तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई। अनन्तर त्रिराशी-भूत वे भाव क्रमशः तत्तद्गुणों की प्रधानता के कारण "सिंहो माणवकः" की तरह गौण्या ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वर नाम से बोधित हुए। उक्त तीनों गुणों में से केवल रजोगुण में ही क्रिया है, अवशिष्ट दो में नहीं, यह वार्ता "चलञ्चरजः" इस कारिकांश से स्पष्ट है। तथा त्रिगुणात्मक भाव शब्दान्तरित गुणत्रय ही हैं, अतएव सुख दुःख और मोह स्वभाव वाले बन सकते हैं, यह वार्ता पूर्व स्पष्ट कर दी गयी है। अब रूपकातिशयोक्ति से तथा समासोक्ति से अविवेकियों का माया के फन्द में पड़ना बताया जाता है। "रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णाऽऽसङ्ग समुद्भवम्" इस पूर्वोक्त कथन के अनुसार रजोगुण को अनुरागात्मक एवं स्वभावतः अज्ञानी, तथापि क्रियाशील होने के कारण राजस-मनो-भावापन्न-ब्रह्मा ने माया से पूँछा। आपका पति (अर्थात् मेरा पिता) कौन है ? भाव यह है कि जीवों के मन में ईश्वर की जिज्ञासा हुई ।

४—अनन्तर माया मन के अपने प्रेम-फाँस में फँसाने की इच्छा करती हुई तथा ईश्वर प्राप्ति से जीवों को वञ्चित करती हुई. मन से बोली कि "तुम जिस प्रकार हमारे प्रणयी हो इसी प्रकार हम भी तुम्हारी प्रणयिनी हैं, अतः अपने इस अन्योन्य प्रेम के सम्बन्ध का आश्रय तृतीय व्यक्ति नहीं है, और तुम्हारा और हमारा एकही हृदय है केवल नाम मात्र दो हैं।" इस विषय पर महात्माओं ने भी विशेष प्रकाश डाला है जैसा कि इस साखी में कहा गया है कि "मनमाया तो एक है माया मनहिं मिलाय। तीन लोक संसय पड़ा काहि कहौं समुझाय।"

५—यह बात पहले कही जा चुकी है कि जीव और ईश्वर की विभेदिका मायारूपी उपाधि है, अतः जीवापत्ति और ईशतापत्ति के औपाधिक होने पर भी जीव और ईश्वर का माया से सदैव सम्बन्ध रहता है, क्योंकि माया स्वाश्रया और स्वविषया मानी गयी है। उपर्युक्त अंश में जीव और ईश की समता होते हुए भी जीव ईश्वर का पुत्र है, और ईश्वर उसका बीजप्रद पिता है। जैसा कि वर्णन किया है "ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः तथा सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। (मनु)। इस प्रकार महा ठगनी माया के प्रतारक वचनों से सन्मार्ग से गिरे हुए अज्ञानी जीव रूप पुत्रों में ऐसा कोई सुपुत्र देखने में नहीं आया कि जो कल्मषहारी और सर्वात्म-विहारी मुक्ति-दाता त्राता पिता के चरण कमलों में भ्रमर बन कर अमृत-रस का पान करता हुआ स्वयं अमृत हो जाय "जैसे मन माया रमै वैसे राम रमाय, तारामंडल भेदिके पुनि अमरापुर जाय"। (साखी संग्रह)।

भावार्थ—बन्धनकारक नाना सकाम कर्मों के कर्त्ता अज्ञानियों को, माया बाँध लेती है, अतः चित्तशुद्धि के लिये निष्काम कर्मों को करना चाहिये । इति ।

(३)

प्रथम अरंभ कवन को भयऊ * दूसर प्रगट कीन्ह सो ठयऊ ।
प्रगटे ब्रह्म बिस्नु सिव सक्ती * प्रथमें भक्ति कीन्ह जिव उक्ती[1] ।
प्रगटे पवन पानि औ छाया * बहु बिस्तारक प्रगटी माया ।
प्रगटे अंड पिंड बरमंडा * प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नवखंडा ।
प्रगटे सिध साधक संन्यासी * ई सभ लागि रहैं अविनासी ।
प्रगटे सुर नर मुनि सभ झारी[2] * तिहि* के खोज परे सब हारी ।

साखी—जीवु सीवु प्रगटे सभै, वे ठाकुर सब दास ।
कबिर अवर जाने नहीं, राम[3] नामकी आस ।

टिप्पणी—[सूक्ष्म-सृष्टि-पूर्वक स्थूल-सृष्टि का विस्तार]

स्वोक्ति (गुरु वचन) यहाँ पर ब्रह्मशब्द ब्रह्मा का वाचक है, छन्द के अनुरोध से मात्रा का लाघव किया गया है । १—अनुमान से । २—सबके सब । ३—राम है नाम जिसका, अर्थात् सबों में रमा हुआ चेतन-पुरुष, अन्तरात्मा । भाव यह है कि सृष्टि के अनन्तर अपने २ अनुमान से कोई निर्गुण के उपासक बने और कोई सगुन के तथा कोई द्वैतवादी बने और कोई अद्वैतवादी । वस्तुतः ये दोनों रूप मन के हैं । 'निरगुन सरगुन मन की

पाठा०—* ताही खोजि परे सभ हारी ।

बाजी खरे सयाने भटके।' राम शुद्ध-चेतन इनसे भिन्न है। इसी तरह आगे भी 'राम नाम का सेवहु बीरा' इत्यादि बिधि मुख स्थलों में ऐसा ही अर्थ समझना चाहिये।

(४)

प्रथम[1] चरन गुरु कीन्ह बिचारा * करता गावै सिरजनि द्वारा।
[2]करमहिं करि करि जग बौराया * सगति-भगति लै बाँधिनि माया।
अदबुदरूप-जाति[3] की बानी * उपजी प्रीति रमैनी ठानी।
गुनि[5] अनगुनी[6] अरथ नहिं आया * बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया॥
जो चीन्हे ताको निरमल अंगा * अन चीन्हे नल[7] भये पतंगा।

साखी—चीन्हि चीन्हि का गावहू, बानी परी न चीन्ह।
आदि अंत उतपति प्रलय, आपूही[8] कहि दीन्ह।

टिप्पणी—[नाना वाणी और कर्मों का जाल]

१—प्रथमारम्भ में ब्रह्मा जी ने यह विचार किया कि, इस संसार का कर्ता कौन है जैसा कि श्रुति ने कहा है कि 'कउ देवो युनक्ति' (तलव कारोपनिषद्) 'अचर घट में ऊपजै, व्याकुल संसय सूल। किन अंडा निरमाइया, कहां अंड का मूल।' (आदि मंगल) २—अनन्तर उसकी प्राप्ति के लिये नाना सकाम कर्मों का विधान किया, जिन्होंके करने से फलेच्छा के कारण माया के द्वारा अज्ञानी लोग बाँधे गये। ३—नाना प्रकार की। ४—स्तुति। ५—सगुणोपासक। ६—निर्गुणोपासक ७—मनुष्य। ८—आपुहि = वाणी ने ही। "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एव मेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" [छान्दोग्योपनिषद्] "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।" इस प्रकार कर्मजन्य स्वर्गादि लोकों की

विनाशिता का वर्णन वाणी ने स्वयं कर दिया है। आश्चर्य है कि तो भी रोचक-वाणियों की रोचकता का रहस्य समझ में नहीं आता है।

भावार्थ—रोचक और भयानक वाणी के त्याग, एवं यथार्थ वाणी के ग्रहण से कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं।

(५)

कहँलो[1] कहौं जुगन की बाता * भूले ब्रह्म[2] न चीन्हे बाटा[3]।
हरि हर ब्रह्मा के मन भाई * बिबि[4] अच्छर ले जुगुति बनाई।
बिबि अच्छर का कीन्ह बँधाना * अनहद-सब्द[5] जोति[6] परमाना[7]।
अच्छर पढ़ि गुनि राह चलाई * सनक सनंदन के मन भाई।
बेद कितेब कीन्ह बिसतारा * फैल गयल मन अगम अपारा।
चहुँयुग भगतन बाँधल बाटी[8] * समुझि न परी मोटरी फाटी[9]।
भैं भैं[10] प्रिथमी दहुँ दिसि धावैं * अस्थिर होय न औषध पावै।
होय भिस्त जो चित न डोलावै * खसमहिं छोड़ि के दोजक धावै।
पूरब दिसा हंस[11] गति होई * है समीप संधि[12] बूझै कोई।
भगता[13] भगतिक कीन्ह सिंगारा * बूड़ि गयल सभ माँझल[14] धारा।
साखी—बिन गुरु-ज्ञाने दुंदभो[15], खसम कही मिलि बात।
जुग जुग * कहवैया[16] कहै, काहु न मानी बात।

टिप्पणी—[द्वन्द्व—फन्द]

१—कहाँ तक। २—ब्रह्मा। ३—मुक्ति का मार्ग, ४—अनाहत शब्दोपासना तथा ज्योति-दर्शन एवं निर्गुण सगुन आदिक। ५—अनाहत-शब्द [विराट् शब्द] ६—ब्रह्म-ज्योति। (ब्रह्माण्ड में प्राणों के निरोध से

पाठा०—* जुग जुग सो कहवैया।

होने वाला ज्योतिः प्रकाश)। ७–प्रामाणिक मानते हैं। ८–भक्ति मार्ग का प्रचार किया। ९–परन्तु फटी हुई माया रूपी गठरी को न जान सके। १०–भैं भैं = घूम घूम कर। ११–हंस = जीवात्मा-यदि पूरबदिसा = हृदय कमल में विहार करने लगे अर्थात् अन्तराराम हो जाय तो गति [मुक्ति] हो जाय। "दिल महँ खोजु दिलहि महँ खोजो यहीं करीमा रामा" १२-मर्म, रहस्य। १३–भक्तोंने। १४–सब के सब मायारूपी नदी की मंझधार में डूब गये। १५–जन्ममरणादिक। १६–सद्गुरु।

भावार्थ–बिना स्वरूप-परिचय के मुक्ति नहीं मिल सकती है।

(६)

बरनहुँ कवन रूप औ रेखा * दूसर कवन आहि[1] जो देखा।
वोओंकार आदि नहिं बेदा * ताकर कहहु कवन कुल भेदा।
नहिं तारागन नहिं रवि चंदा * नहिं कछु होत पिता के बिंदा[2]।
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना * को धरे नाम हुकुम को बरना।
नहिं कछु होत दिवस अरु*राती * ताकर कहहुँ कवन कुल जाती।

साखी—सुन्न[3] सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक जोति।
ताहि-पुरुष बलिहारि में, निरालंब जो होत।

टिप्पणी—[आत्मा की असङ्गता का वर्णन]

१—सृष्टि के पूर्व आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन था। २—पिता का वीर्य्य। ३—ज्योतिः पुरुष के उपासक कहते हैं कि शून्य में मन और प्राणों के निरोध से होने वाली ज्योतिः 'परम तत्त्व' है। वस्तुतः यह प्रकाश भौतिक है अतः भुतवे के पुजले भुतवै होई, तथा 'भूतानियान्ति भूतेज्याः,

---

* पाठा०—निजु। (निज रूप में)।

के अनुसार उक्त ज्योति के उपासक अनात्मसेवी ही हैं। इसके अतिरिक्त जो निरालम्ब स्वतः-प्रकाश पुरुष है, उसकी मैं बलिहारी लेता हूँ।

भावार्थ—असंग-ज्ञान से माया के संग का परित्याग होता है।

(७)

तहिया[१] होते पवन न पानी * तहिया सिष्टि कवन उतपानी[२]।
तहिया होत कली नहिं फूला * तहिया होत गरभ नहिं मूला[३]।
तहिया होत न विद्या बेदा * तहिया होत सब्द नहिं खेदा।
तहिया होते पिंड[४] न बासू[५] * नहिं धर[६] धरनि[७] न पवन अकासू।
तहिया होत गुरू नहिं चेला * गम्म[८] अगम्म[९] न पंथ दुहेला[१०]।
साखी—अविगति की गति का कहौं, जाके गाँव न ठाँव।
गुनहिं बिहूना[११] पेखना[१२], का कहि लीजे नाँव।

टिप्पणी–[पूर्व-वृतान्त]

१—सृष्टि के पहले। २—उत्पन्न की। ३—कारण, वीर्य। ४—शरीर। ५—बसना, रहना। ६—पाताल। ७—पृथ्वी। ८—सगुण ९—निगुर्ण १०—दुर्लभ, कठिन। अविगति = जो उत्पन्न न हुआ हो। ११—रहित। १२—देखना, परिचय।

(८)

तत्वमसी[१] इनके[२] उपदेसा * ई उपनिषद कहैं संदेसा।
ई निश्चै इन्हके बड़ भारो * वाहिक बरन करैं अधिकारी[३]।
परम-तत्व का निज[४] परमाना * सनकादिक नारद सुख[५] माना।
जागबलिक औ जनक सँवादा * दातात्रेय वहै रस-स्वादा।
वहै राम बसिष्ठ मिलि गाई * वहै क्रिस्न ऊधो समुझाई।
वहै बात जो जनक दिढ़ाई * देह धरे बीदेह कहाई।

साखी—कुल-मरजादा × खोय के, जीवत मुवान होय।
देखत जो नहिं देखिया, अदिष्ट कहावै सोय॥

टि०—[वेदान्त विचार]

१—वह तूँ है। २—अद्वैत-बादियों का ३—अधिकारियों, जिज्ञासुओं को। ४—स्वतः प्रमाण है। ५—सुख-देवजी। शुकदेव।

(६)

बांधे अष्ट[1] कष्ट नव सूता[2] * जम बाँधे अंजनी[3] के पूता[4]।
जम के वाहन बाँधिनि जनो[5] * बाँधे सिष्ट कहाँलौं गनो[6]।
बाँधे (व) देव तैंतीस करोरी * सँवरत[7] लोह बंद[8] गौ तोरी।
राजा[9] सँवरै तुरिया[10] चढ़ी * पंथी[11] सँवरै नाम ले बढ़ी।
अरथ[12] विहूना सँवरे नारी * परजा[13] सँवरै पुहुमी भारी।

साखी—बंदि[14] मनाय*फल पावहीं, बंन्दि दिया सो देय।
कहँ कबीर ते ऊबरे, निशु दिन नामहिं लेय।

टि०—[माया के बन्धनों का कथन]

कामना सहित किये हुए अष्टाङ्ग योग और नवधा भक्ति बंधन कारक हैं।

१—पञ्च क्लेश और तीन गुण, ये आठ-कष्ट बन्धन-कारक हैं। २—कामना सहित नवधा भक्ति। ३ माया। ४—जीवों को। ५ माया अपराविद्या और अविद्या रूप से सबों को बाँधती है। ६ कहाँ तक गिना जाय। ७—स्मरण, आत्मचिंतन से। ८—लोहे की बेड़ी के समान माया के दृढ़ बन्धन टूट जाते हैं। ९—ज्ञानी। १०—तुरीया अवस्था। ११ जिज्ञासु। १२—

× पाठा०—कुल अभिमाना।

* पाठा०—बंदि मनावै ते फल पावै।

धन को चाहने वाला । १३–पीड़ित, दुखिया लोग । १४-उक्त प्रकार से—बन्धन में पड़े हुए मनुष्य भी नाम स्मरण के बल से मुक्ति फल पाते हैं ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ गी० अ० ७ ।

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यवान् जन मुझको भजते हैं आर्त = पीड़ित, जिज्ञासु = आत्मज्ञान की इच्छा वाला । अर्थार्थी = धन चाहने वाला और ज्ञानी ।

भावार्थ—कामना और अहंकार ही बन्धन कारक है ।

(१०)

राही[1] लै पिपराही[2] बही * करगी[3] आवत काहुन कही

आई करगी भौ[4] अजगूता[5] * जनम जनम जम पहिरे बूता[6]।

बुता[7] पहिरि जम कीन्ह समाना * तीनि लोक में कीन्ह पयाना।

बाँधे ब्रह्मा विस्नु महेसू * सुर नर मुनि औ बाँधि गनेसू

बँधै पवन पावक औ नीरू[8] * चाँद सुरज बंधै दोउ बीरू ।

सांच मंत्र[9] बांधे सभ झारी * अम्रित[10] वस्तु न जानै नारी[11]।

साखी—अम्रित वस्तु जानै नहीं, मगन भये सब लोय ।

कहहिं कबिर कामो नहीं, जीवहिं मरन[12] न होय।

टिप्पणी—[बन्धन और उससे छूटने का उपाय]

१–रास्ता चलने वाले, कर्म तथा उपासना करने वाले । २–पीपल के पत्ते की तरह चञ्चल चित्त वाले वञ्चक गुरु और मन माया कामना । ३–बन्धन, पास । ४–हुआ । ५–अचरज । ६–पराक्रम, दण्ड, बालात्कार । यम यातना का शरीर । ७–शरीर, पराक्रम धारण करके । ८ निरू=जल ।

९—मंत्रों को सत्य समझकर उन्हीं के जाप में बँध गये। १०—निजरूप। ११—परतन्त्र, अज्ञानी। १२—जो कामना रहित हैं वे जन्म मरण रूप बन्धन में नहीं आते हैं।

(११)

आँधरि-गुष्टि[1] सिष्टि भई बौरी * तीनि लोक महँ लागि ठगौरी[2]।
ब्रह्मा ठगो नाग सँहारी * देवतन सहित ठगो त्रिपुरारी।
राज-ठगौरी[3] विस्नुहि परी * चौदह-भुवन केर चौधरी[4]।
आदि अंत जाकि जलकन[5]*जानी * ताकर डर तुम काहेक मानी।
वै उतंग[6] तुम जातिपतंगा * जम-घर कियउ जीव को संगा।
नीम-कीट जस नीम पियारा * विषको अम्रित कहत गँवारा।
विषके संग कवन गुन होई * किंचित-लाभ मूल[7] गोखोई।
विष अम्रित गौ एकहि सानी * जिन जाना तिन विष करिमानी।
कहा भये नर सुध बे सूझा[8] * विनु परिचय जग मूढ़ न बूझा।
मति के हीन कवन गुन कहई * लालच लागे आसा रहई।
साखी—मूवा है मरि जाहुगे, मुये कि बाजी[9] ढोल।
सपन-सनेही[10] जग भया, रहि सहिदानी[11] बोल।

टि०—[चेतावनी]

१—अन्धों कीसी बात चीत [अनिश्चित वार्ता] २—ठगाई। ३—त्रिलोकीराज्य रूप। ४—मुखिया। ५—जिस मन की उत्पत्ति और विनाश जलकण के समान है। ६—ऊँची (अग्निज्वाला)। ७—पूंजी (ज्ञान) ८—बुद्धि हीन होने से। ९—मरने का ढोल बज रहा है। १०—स्वप्न के समान। ११—केवल वाणी रूप स्मारक रह जाता है। नाग=शेष।

* पाठा० —जनक न जानी। काहुन जानी। [जनक=ब्रह्माजी]

भावार्थ—भोगों की वासना बन्धनकारक है ।

(१२)

माटि[1] के कोट पषान का ताला * सोई[2] बन सोई रख वाला ।
सो बन देखत जीव डेराना * ब्राह्मन वैस्नव एकहि[3] जाना ।
जौंरे किसान किसानी करई * उपजे खेत बीज नहिं परई ।
छाँड़ि देहु नर झेलिक-झेला[4] * बूड़े दोउ गुरू औ चेला ।
तीसर बूड़े पारथ[5] भाई * जिन बिन डाह्यो[6] दाह लगाई ।
भूँमि भूँकि कूकुर[7] मरि गयऊ * काज न एक सियार[8] से भयऊ ।
साखी—मूस[9] बिलाई[10] एक सँग, कहु कैसे रहि जाय ।
संतो अचरज देखहू, हस्ती[11] सिंघहि[12] खाय ।

टि—[भ्रमजाल—कथन]

१—मिट्टी के किले में पत्थर का ताला लगा हुआ है । शरीरस्थ-मन में भ्रम दृढ़ हो गया है । २—वही भ्रम ३—एकही दशा है । ४—नाना प्रपंच ५—यह शब्द पारधी का रूपान्तर है, और जगह भी (पारथ ओटा लेई, उलिटा बान पारधी लागे) यह पारधी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । पारथ=पारधी (बहेलिया) झूठे नेता । ६—संसार में अशांति फैला दी । ७—अज्ञानी-वक्ता ८—कायर लोग । यहाँ पर "सिंहो माणवकः" की तरह गौणीलक्षणा जानना चाहिये । ९—अज्ञानी जीव । १०—माया । ११—मन । १२—जीवात्मा को ।

भावार्थ—भ्रम भूत से बचो । "यह भ्रम-भूत सकल जग खाया । जिन २ पूजा तिन डहकाया" (बीजक) ।

(१३)

नहिं परतीति जो यह संसारा * दरब[1] कि चोट कठिन कै मारा ।
सो[2] तो सेसै[3] जाइ लुकाई[4] * काहू के परतीति न आई ।

चले लोग सभ मूल गँवाई * जम की बाढ़ि[5] काटि नहिं जाई ।
आजु[6] काज जिव कालिह अकाजा * चले सु लादि डिगंतर-राजा ।
सहज[7] विचारे मूल गँवाई * लाभ ते हानि होयरे भाई ।
ओछी--मति चन्दा गौ अथई * त्रिकुटी संगम सामी[8] बसई ।
तबहीं विस्नु कहा समुझाई * मिथुन[9] आठ तुम जीतहु जाई ।
तब सनकादिक तत्त विचारा * जौं धन पावहिं रंक[10] अपारा ।
भौ[11] मरजाद बहुत सुख लागा * यहि लेखै सब संसय भागा ।
देखत उतपति लागु न बारा * एक मरै एक करै विचारा ।
मुये गये की काहु न कही * झूठी आस लागि जग रही ।
साखी—जरत जरत से बाँचहू, काहेन करहु गोहारि[12] ।
बिष[13] बिषया के खायहू, राति दिवस मिलि झारि[14] ।

टि०—[मिथ्या आशा]

१—धन की इच्छा । २--वह धन । ३—अन्त में । ४—छिप जाता है । ५—आक्रमण । ६ --'आज' नरतन अपने हाथ में है और 'कल' (जन्मान्तर) कालके । ७—सोचते २ पूँजी खोदी, विचारे ने मुफ़्त में पूंजी खोदी । ८—ज्योति—पुरुष । ९ आठ प्रकार के मैथुन ये हैं ।

'दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिर्वृत्तिरेवच ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः' ॥

अर्थात्—'सरवन सुमिरन कीरतन, चिंतन बात इकंत ।
दृढ़ सङ्कल्प प्रयत्न-तन प्रापति अष्ट कहंत' ॥

१०—दरिद्र । ११—संसार में मर्यादा, प्रतिष्ठा हुई। १२—पुकार प्रार्थना । १३—विषय-भोग रूप विष, जहर । १४—पूरी तरह । त्रिकुटी भृकुटी से आगे का स्थान है ।

(१४)

बड़ सो पापी आहि गुमानी * पाखंड-रूप छले नर जानी ।
बावन-रूप छलेउ बलि राजा * ब्राह्मन कीन्ह कवन को काजा ।
ब्राह्मन ही सब कीन्ही चोरी * ब्राह्मन ही को लागल खोरी[1] ।
ब्राह्मन कीन्हो ग्रंथ पुराना + * कैसहु[2] के मोहि मानुष जाना ।
एक से ब्रह्मै पंथ[3] चलाया * एक से हंस गोपालहिं[4] गाया ।
एक से सिंभू पंथ[5] चलाया * एक से भूत-प्रेत मन लाया ।
एक से पूजा जैनि बिचारा * एक से निहुरि[6] निमाज गुजारा ।
कोइ काहू का हटा न माना * झूठा खसम कबीरन[7] जाना ।
तन मन भजिरहु मोरे भक्ता * सत्त-कबीर सत्त है वक्ता ।
आपुहि देवा आपुहि पाती * आपुहि कुल आपुहि है जाती ।
सर्व-भूत संसार-निवासी * आपुहि खसम आपु सुख-बासी ।
कहइत मोहि भयल जुग चारी * काके आगे कहौं पुकारी ।

साखी—साँचहिं कोइ न मानई, झूठा के संग जाय ।
झूठहि झूठा मिलि रहा, अहमक[8] खेहा[9] खाय ।

टि०—[अभिमान और अनेकता]

१—बुराई । २—किसी प्रकार । ३—कर्म—काण्ड । ४—उपासना-काण्ड । ५—योग—मार्ग । ६—झुक कर । ७—अज्ञानियों ने । ८—मूर्ख । ९—धूलि. राख ।

+इस स्थल पर "वेद पुराना" ऐसा पाठ किया गया है ।

(१५)

उनइ[1] बदरिया[2] परिगौ[3] संझा * अगुआ[4] भूले बन-खँड मंझा[5]।
पिय[6] अंते[7] धनि[8] अंते[9] रहई * चौपरि[10] कामरि[11] माथे गहई।
साखी—फुलवा[12] भार न ले सकै, कहै सखिन सों रोय।
जौं जौं भीजे कामरी, तौं तौं भारो[14] होय।

टि०—[अज्ञान अन्धकार और कर्मों का भार]

१—झुकि आई। २—अज्ञान-घटा। भजन—" जामें चंदा दरसे नांहि माया रँग बादली "। ३—होगई। ४—आगे चलने वाले। ब्रह्मादिक। ५—बीच में। ६—प्रिय, पति। ७—और जगह (स्वरूप में) ८—प्रिया, जीवात्मा। ९—अविद्या में। १०—चार तह की हुई। ११—कमली (अविद्या) १२—जीवात्मा। १३—इन्द्रियों से। १४—अविद्या के साथ २ दुःख भी बढ़ता जाता है।

भावार्थ—बिना ज्ञान के सुख नहीं मिल सकता।

(१६)

चलत चलत अति चरन पिराना[1] * हारि परै तहँ अति-रिसियाना*।
गन गंध्रप मुनि अंत न पाया * हरि अलोप[2] जग धंधे लाया।
गहनी बंधन बान[4] न सूझा * थाकि परै तब किछुवो न बूझा।
भूलि परे जिय अधिक डेराई * रजनी अंध-कूप होइ आई।
माया मोह उहाँ भरिपूरी * दादुर दामिनि (पवनहुँ) पूरी।
बरसै तपै[6] अखंडित-धारा * रैनि भयावनि किछु न अधारा +

पाठा०—* अति रे सुजाना। + लिखित पुस्तकों में ' अहारा ' ऐसा पाठ है।

साखी—सभै लोग जहँड़ाइया,[6] अंधा सभै भुलान।
कहा कोइ ना मानहीं, एकै[7] माहिं समान।

टि० —(अविद्या-रात्रि)

१—दुख गये। २—गुप्त होकर। ३—कड़ा, कठिन। ४—स्वभाव, (रागादिक) अपना दुष्ट स्वभाव ही माया-रचित बन्धन है, अज्ञानियों को ऐसा नहीं सूझा। ५—चित्त को संताप होता है। ६—ठगा गये। ७—माया में।

भावार्थ—ज्ञान-भानु के बिना-अज्ञान-अन्धकार नहीं हटता।

(१७)

जस[1] जिव आपु मिलै अस[2] कोई * बहुत धर्म !! सुखहिदया होई।
जासो बात राम[3] की कही * प्रीति न काहू सों निरबही[4]।
एकै-भाव[5] सकल-जग देखी * बाहर[6] परै सो होय बिबेकी।
विषय मोह के फंद छुड़ाई * जहाँ जाय तहँकाल* कसाई[7]।
अहै[8] कसाई छूरी हाथा * कैसहु आवै काटौं माथा।
मानुष बड़ा बड़ा होय आया * एकै पंडित[9] सभै पढ़ाया।
पढ़ना[10] पढ़हु धरहु जनि[11] गोई[12] * नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई।

साखी—सुमिरन करहू राम[13] का, छाँड़हु दुख की आस।
तर ऊपर धरि चापिहैं, कोल्हू[14] कोटि पचास।

टि०—(गुरूपदेश)

१—जैसे अधिकारी तुम हो। २—ऐसा। ३—स्वरूप-परिचय। ४—निबाही गयी। ५—एक ही दशा, हालत। ६—संसार से मन को हटावे। ७—बधिक—

पाठान्तर—* काट।

(भ्रम में डालने वाले वञ्चक) ८–है। ९–ब्रह्म । १०–पढ़ने के योग्य (आत्मविद्या) ११–मत । १२–छिपाकर । १३–आत्म-चिन्तन । १४–नहीं तो माया के अनेक कोल्हुओं में पेरे जाओगे, अर्थात् नाना योनियों में भटकते रहोगे। बिगोई=नष्ट होना । दु:ख की आश=भोगों की आशा ।

(१८)

अद्[1]बुद-पंथ[2] बरनि नहिं जाई * भूले राम[3] भूलि दुनियाई ।
जो चेतहु तो चेतहु रे भाई * नहिं तो जीवहिं जम ले जाई ।
सब्द न मानै कथई ज्ञाना * ताते जम दीयो है थाना[4] ।
संसै सावज[5] बसै सरीरा * तिन[6] खायो अनबेधल[7] हीरा ।
साखी—संसय सावज देह में, खेलै संग जुआरि[9] ।
ऐसा घायल बापुरा[10], जीवहिं मारै झारि ॥

टि०—[कठिन-मार्ग]

१–अद्भुत, विचित्र । २–निर्विशेषात्मक-मार्ग । ३–सादि-राम (अवतार) बिधि-मुख-स्थलों में राम-शब्द से रमैया-राम, शुद्धचेतन ही बोधित होता है, अवतार राम नहीं, यह वार्ता "दसरथ–सुत तिहुँ लोक बखाना रामनाम का मरम है आना" इस वचन से स्पष्ट है । ४–यम का दखल हो गया । ५–जंगलीपशु, शिकार । ६–उसने । ७–बिना छेदा हुआ, अखण्ड । जीवात्मा । ९–जूआ (दाव, पेच) १०–वह घायल ऐसा है कि बेचारे सब अज्ञानियों को मारे डालता है ।

भावार्थ—संशयों की पूर्ण निवृत्ति के बिना आत्म साक्षात्कार नहीं होने पाता है ।

(१९)

अनहद[1]-अनुभव की करि[2] आसा * देखौ यह विपरीति[3] तमासा।
इहै तमासा देखहु (रे) भाई * जहँवा सुन्न[4] तहाँ चलि जाई।
सुन्नहि[5] बाँछा सुन्नहि गयऊ * हाथा छोड़ि बे हाथा भयऊ।
संसय[6]-सावज सब संसारा * काल अहेरी[7] साँझ सकारा।

साखी—सुमिरन करहु रामका, काल गहे हैं केस।
ना जानौं कब मारिहै, का घर का परदेस॥

टि०—[अनाहत-शब्द के उपासकों की दशा।]

१—अनाहत-शब्द का साक्षात्कार। २—कर रहा है। ३—उलटा तमासा-(स्वतं चेतन अचेतन की आशा करता है) । ४—शून्य-स्थान । ५—शून्य समाधि में लीन होकर विवश हो गया। स्वावलम्बन छोड़ कर निरालम्ब हो गया। ६—संशय-रूप-शिकार सारे संसार को मार रहा है। ७—पारधी, शिकारी। संशय ही काल है 'संसय काल सकल-घट छाया। जिन्ह २ पुजा तिन्ह डँहकाया।' (बीजक)

भावार्थ—आत्माकार-वृत्ति से परम-पद की प्राप्ति होती है।

(२०)

अब कहु राम-नाम अबिनासी * हरि तजि[1] जियरा[2] कतहुँन जासी[3]।
उहाँ जाहु तहाँ होहु पतंगा * अब जनि जरहु[4] समुझि विपसंगा[5]।
राम-नाम लौलाय[6] सु लीन्हा * भ्रिंगी कीट समुझि मन दीन्हा।
भव अति-गरुवा दुख करि भारी * करुजिय[7] जतन जु देखु विचारी।
मनकि बात है लहरि[8] बिकारा * तुहि नहिं सूझै वार न पारा।

साखी—इच्छा[9] के भव सागरे, बोहित[10] राम अधार।
कहैं कबिर हरि सरण[11] गहु, गो-बछ[12]-खुर-विस्तार॥

टि०—[नाम उपासकों का कथन]

१—छोड़ कर। २—हे जीव। ३—मत जा। ४—मत। ५—विषयों का संग ६—प्रेम, लगन। ७—जी में, हृदय में। ८ विषय-तरंग, विषय-विकार। ९—वासना से उत्पन्न हुए संसार सागर में १०—जहाज। ११—पकड़ो। १२—संसार का पसारा गाय के बछड़े के खुर के समान हो जायगा।

(२१)

बहुत दुःख है दुख[1] की खानी * तब बचिहो जब रामहिं जानी।
रामहिं जानि जुक्ति[2] जो चलई * जुक्तिहि ते फंदा नहिं परई।
जुक्तिहि[3] जुक्ति चला संसारा * निस्चय कहा न मानु हमारा।
कनक[4] कामिनी[5] घोर[6] पटोरा[7] * संपति बहुत रहै दिन थोरा[8]।
थोरिहि संपति गौ बौराई * धरम-राय की खबरि न पाई।
देखि त्रास[9] मुख गौ कुँभिलाई * अम्रित धोखे[10] गौ विष खाई।

साखी—मैं[11] सिरजौं[12] मैं मारहू. मैं जारौं मैं खाँव।
जल थल में ही रमि रह्यों, मोर[13] निरंजन नाँव॥

टि०—[चेतावनी]

गुरुवचन १—दुख की खानी = संसार में। २—गुरुमति। ३—अपनी २ बुद्धि से। ४—धन। ५—स्त्री। ६—घोड़ा। ७—रेशमी कपड़े। ८—थोड़े दिन रह गये हैं। ९—भय से। १०—विष रूप विषयों को अमृत समझ कर खा गया। ११—यम कहता है मैं निरञ्जन। १२—पैदा करता हूँ। १३—मेरा।

(२२)

अलख-निरंजन लखइ न कोई * जेहि[1] बंधे बंधा सभ लोई।
जिहि[2] झूठे बँधा सो अयाना * झूठा बचन साँच करि माना।
धन्धा[3] बन्धा किन्ह बेवहारा * करम बिबरजित बसै निनारा।

षट-आश्रम षट-दरसन कीन्हा * षट रस वस्तु❀ खोट सब चीन्हा ।
चारि[४]-विरिछ छव[५]-साख बखानै * विद्या अगिनित गनै न जानै ।
औरो[६] आगम करै बिचारा * ते[७] नहि सूझै वार न पारा ।
जप तीरथ ब्रत कीजे पूजा * दान पुन्न कीजे बहु दूजा ।
साखी—मंदिल[८] तो है नेह का, मति कोइ पैठे धाय ।
जो कोइ पैठे धाय के, बिन सिर सेती जाय ।

टि०—[कर्म-बन्धन ।]

१–जिसके बनाये हुए कर्म बन्धनों से सब लोग बँधे हुए हैं । २–अज्ञानी । ३–जिसने व्यवहार किया वह धन्धे से बँध गया । ४–चार वेद । ५–छः शास्त्र । ६–पुराणादि । ७–कर्म-बन्धन का । ८–प्रेम के मन्दिर में बिना समझे मत घुसो, क्योंकि जो विना समझे पैठता है वह मारा जाता है ।

भावार्थ—विवेक का धारण करना आवश्यक है ।

(२३)

अलप सुख दुख आदिउ अंता * मन भुलान मैगर[१] मैमंता[२] ।
सुख[३] बिसराय मुकति कहँ पावै * परिहरि साँच झूठ[४] निज धावै ।
अनल[५] जोति डाहै एक संगा * नयन[६] नेह जस जरै पतंगा ।
करु बिचार जेहि सब दुख जाई * परिहरि झूठा[७] केर सगाई ।
लालच लागे जनम सिराई[८] * जरा मरन नियरायल[९] आई ।
साखी—भ्रम करि बांधल ई जग, यहि विधि आवै जाय ।
मानुष-जन्महिं पाय नर, काहे को जहँडाय[१०] ।

❀ पाठा०—षट रस बात खटे वस्तुचीन्हा ।

टि०—[उपदेश ।]

१—हाथी । २—मस्त । ३—आनन्दरूपआत्मा को । ४—प्रपंच । ५—अग्नि की ज्वाला । (त्रितापाग्नि) ६—देखने के प्रेम से (सौन्दर्यो-पासना से) ७—संसार । ८—बीत रहा है । ९—निकट १०—ठगाता है । जरा = बुढ़ापा ।

(२४)

चंद चकौर सि[1] बात जनाई * मानुष बुधि दीन्ही पलटाई[2] ।
चारि[3] अवस्था सपनो कहई * झूठो फूरो जानत रहई ।
मिथ्या-बात न जानै कोई * यहि विधि सिगरे[4] गयल[5] बिगोई[6] ।
आगे[7] दै दै सभनि गमाया * मानुष बुधि सपनेहूँ नहिं पाया ।
चौंतिस अच्छर(से)निकलै जोई * पाप पुन्न जानैगा सोई ।

साखी—सोई[8] कहते सोइ होऊगे, निकरि न बाहर आउ ।
हो हजूर[9] ठाढ़ो कहैं, धोखे न जन्म गमाउ ॥

टि०—[संसारी गुरुओं की करनी ।]

१—जैसी । २—पलटदी । ३—बाल, कुमार, युवा और वृद्ध इन चार अवस्थाओं को स्वप्न के समान (अनित्य) कहते हैं, और स्वयं असत्य संसार को सत्य समझते रहते हैं । ४—सब के सब । ५—गये । ६—नष्ट हो गये । ७—(इस प्रकार) बढ़ा चढ़ा कर । ८—जैसा कहोगे और सोचोगे वैसे ही बन जाओगे, इस कारण इनके जाल से बाहर क्यों नहीं निकल आते । ? ९—सद्गुरु कहते हैं कि मेरे सामने चले आयो ।

भावार्थ—झूठे गुरु की पच्छ को, तजन न कीजै बार ।
द्वारा न पावै सब्द का, भटकै बारं बार ॥

(२५)

चौंतिस अच्छर(का)इहै[1] बिसेखा * सहसौ[2] नाम यही में देखा ।
भूलि भटकि[3] नर फिरि घट[4] आया * हो अज्ञान सो सभनि गमाया ।
खोजहिं ब्रह्मा विस्नु सिव सक्ती * अमित-लोग[5] खोजहिं बहुभक्ती ।
खोजहिं गन गँध्रप मुनि देवा * अमित-लोग खोजहिं बहु भेवा[6] ।

साखी—जती सती सब खोजहीं, मनहिं न मानैं हारि ।
बड़ बड़ जीव न बाँचिहैं, कहहिं कबीर पुकारि ॥

टि०—[शब्द—जाल]

१—बड़ाई । २—हजारों (अनेक) । ३—अनेक योनियों में भ्रमण करके ४ नरतन । ५—अनेक । ६—बड़े प्रयत्न से ।

भावर्थ—निजपद वाणी का विषय नहीं है ।

(२६)

आपुहि करता भये कुलाला * बहुविधि बासन[1] गढ़ै कुँभारा ।
विधि ने[2] सबइ कीन्ह एक ठाऊँ * जतन अनेक के बने कनाऊँ[3] ।
जठर--अगिनिमहँ दिय परजाली[4] * तामहँ आपु भये प्रतिपाली ।
बहुत जतन करि बाहर आया * तब सिव[5] सकती नाम धराया ।
घरका सुत जो होय अयाना[6] * ताके संग न जाहिं सयाना ।
सांची बात कही मैं अपनी * भया दिवाना[7] और कि सपनी[8] ।
गुपत प्रगट है एकै मूद्रा[9] + * काको कहिये ब्राह्मन सूद्रा ।
झूठ गरब भूलो मति कोई * हिन्दू तुरुक झूठ कुल[10] दोई ।

साखी—जिन यह चित्र[11] बनाइया, साँचा सुत्तरधार[12] ।
कहँहि कबिर ते जन भले, जे[13] चित्रवत निहार ॥

+ पाठा०—दूधा ।

टि०—[रचना-रहस्य]

१–बरतन। २—ब्रह्मा ने। ३–बरतन। ४–जलाये, पकाये। ५–पुरुष स्त्री। ६–अज्ञानी। ७ पागल। ८–औरों के सपने से (मिथ्या बातों से) ९–आकार, चिन्ह। १०–घराना, (जाति) ११–संसार। १२–सूत्रधार=सूत पकड़ने वाला कारीगर। १३–तस्वीर बनाने वाला।

भावार्थ–एक कर्त्ता पिता से सबों की रचना हुई है, अतः कुलाभिमान छोड़कर परस्पर भ्रातृ–भाव रखना चाहिये।

(२७)

ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मंडा * सात दीप पुहुमी[१] नव खंडा।
सत्त सत्त कहि बिस्नु दिढ़ाई[२] * तीनि लोक महँ राखिनिजाई।
लिंगरूप तब संकर कीन्हा * धरती कीलि रसातल दीन्हा।
तब अष्टंगी[३] रचल कुमारी * तीनि लोक मोहा सब झारी।
नाम दुतीय पारवति भयऊ * तप करते संकर कहँ दियऊ।
एकै[४] पुरुष एक है नारी * ताते रचनि खानि भौ चारी[५]।
सरमन[६] बरमन[७] देव[८] रु दासा[९] * रजसत तमगुन धरति अकासा।

साखी—एक-अंड वोअँकार ते, सब जग भयो पसार।
हैं नारी सब रामकी, अविचल[१०]–पुरुष भतार[११]।

टि०—[अधिकार–विभाग]

१–पृथिवी। २–विष्णु ने सत्य-बात कह कर विश्वास दिला दिया, अतः उनको तीनों लोकों की रक्षा का अधिकार मिला। ३–सुन्दर आठअङ्ग वाली कन्या, आद्या (प्रकृति) प्रकृति के आठ अङ्ग ये हैं–

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा"। (गीता) भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश मन, बुद्धि और अहंकार। यद्यपि प्रकृति अनादि है तथापि पृथिवी आदिक अङ्गों की रचना से उसकी रचना कही गई है। ४—ब्रह्म और माया। ५—चार खानियां ये हैं, अण्डज, पिंडज, उखमज और स्थावर। ६—शर्म्मा, ब्राह्मण। ७—वर्म्मा, क्षत्रिय। ८—वैश्य। ९—शूद्र। १०—स्थिर, अविनासी। ११—पति।

(२८)

अस-जुलहा[1] का मरमन न जाना * जिन्ह जग आनि पसारिन्हि ताना।
महि[2] अकास[3] दोउ गाड़[4] खँदाया * चाँद[5] सुरज[6] दोउ नरो[7] बनाया।
सहस[8] तारले पूरनि पूरी[9] * अजहूँ बिनब कठिन है दूरी।
कहहिँ कबीर करम से जोरी * सूत-कुसूत[10] बिनै भल[11] कोरी[12]।

टि०—[मन का ताना बाना]

अस=ऐसा। आनि=आकर। पसारिनि=फैलाया। १—मन या जीव। २—अधोभाग, पिंड। ३—ऊर्ध्व, ब्रह्माण्ड। ४—गढ़हा (करघा चलाने के लिये)। ५—ईड़ा। ६—पिंगला। ७—नरा। ८—हज़ार कुम्भक। ९—ताना तनाया। १० शुभ कर्म, तथा अशुभ कर्म, एवं विद्या और अविद्या। ११—अच्छी तरह—१२ जुलाहा। (जीव या मन)।

(२९)

बज्रहु[1] ते त्रिन खिन में होई * त्रिन ते बज्र करै पुनि सोई।
निझरू-नीरू[2] जानि परिहरिया * करमक-बाँधल लालच करिया।
करम धरम[3] मति बुधि परिहरिया * झूठा नाम सांचलै धरिया।

रज,[4] गति त्रिविधि कीन्ह परगासा * करम धरम बुधि केर बिनासा।
उदय[5] रवी तारा भा छीना * चर-बीहर[6] दोनौं में लीना[7]।
विष[8] के खाये विष नहिं जावै * गारुड़[9] सो जो मरत जियावै।

साखी—अलख[10] जो लागी पलक मों, पलकहि में डसि जाय।
विषहर[11] मंत्र[12] न मानही, गारुड[13] काह कराय॥

टि—[मन की दशा]

१—थोड़ी देर में। २ मन के संकल्प—विकल्प झरने की तरह सदैव चलते रहते हैं। ३—बिबेक बुद्धि। ४—रजोगुण ने तीनों लोकों में ऊर्ध्वादि गति कराई, अर्थात् भ्रमण कराया। ५—ज्ञानोदय होने से कर्म चीण हो जाते हैं। ६—चर, अचर। ७—छिपा हुआ (व्यापक)। ८—विषय-भोगरूप विष के खाने से बासनारूप विष नहीं जाता। ९—सर्पों के विष को झाड़ने वाला वैद्य (गुरु) १०—निरञ्जन (मन)। ११—वासना रूप विष को धारण करने वाला मन। यह शब्द संस्कृत विषधर का प्राकृत रूपान्तर है। १२—सद्गुरु के उपदेश को। १३—गुरु क्या करे।

(३०)

औ भूले षट दरसन भाई * पाखंड भेष रहा लपटाई।
जीव[1] सीव का आहि नसौना * चारिउ वेद* चतुरगुन मौना।
जैनि धरम का मरम न जानै * पाती तोरि देव-घर आनै।
दवना मरुवा चँपा फूला * मानहु जीव-कोटि समतूला[2]।
औ पृथिवी के रोम[3] उचारैं[4] * देखत जनम आपनो हारै।

---

* पाठा०—बंध।

मन्मथ-बिंदु[5] करै असरारा[6] * अलपै[7] बिंद खसै नहिं द्वारा।
ताकर हाल होय अध कूचा[8] + * छव-दरसन में जैनि बिगूचा।

साखि—ज्ञान अमर पद बाहिरे,[10] नियरे ते है दूर।
जो जानै तिहि निकट है, रहा सकल घट पूरि॥

टि॰ - [जैनादिमत-समीक्षा]

१—जीव और ईश्वर को विनाशी बताते हैं, अतः जीव के कल्याण के नाशक हैं। २—बराबर। ३—वृक्षादिक और शरीर के रोम। ४ - उखाड़ते हैं, ५—वीर्य। ६—दुष्टता अन्याय और जिद। असरारा यह शब्द दुष्ट के वाचक फ़ारसी शरीर शब्द के बहुवचन का रूपान्तर है। जैनियों के यती लोग अमरोली और वज्रौली क्रिया के द्वारा विधि—विशेष से वीर्य का आकर्षण किया करते हैं। ७—अलपै=थोड़ा भी। ८—अपूर्ण, उभय—भ्रष्ट। अदबूदा = विचित्र। ९—बन्धन में फँसे हुए, भूले हुए। १०—जो अमर पद=निज रूप के ज्ञान से बाहिरे=रहित हैं, आत्मा सदैव निकट होते हुए भी उनके लिये दूर ही है। और जो आत्मज्ञानी हैं उनके लिये सदैव निकट है क्योंकि "रहा सकल—घट पूरि" सर्वत्र विद्यमान है। अमरपद=अमर लोक, निजात्मा। श्रुति ने भी वर्णन किया है कि "तस्यायमात्माऽयं लोकः" ज्ञानी के लिये यही आत्मा लोक है। "एतमेवलोकमभीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति" इसी आत्मलोक की प्राप्ति के लिये संन्यास धारण करते हैं। "अमर लोक फललावे चाव, कहँहिँ कबीर बूझै सो पाव [बीजक]। चारिउ बन्ध=चारों प्रकार के नास्तिक बन्धन में पड़े हुए हैं, इस कारण, विवेकी गुनी उनका अनुमोदन नहीं करते हैं।

+ पाठा०—अदबूदा।

(३१)

सुम्रिति[1] आहि गुनन को चीन्हा * पाप पुन्न को मारग कीन्हा।
सुम्रिति बेद पढ़ैं असरारा[2] * पाखँड रूप करैं हंकारा।
पढ़ैं बेद औ करैं बड़ाई * संसय-गाँठि अजहुँ[3] नहिं जाई।
पढ़ि कै सास्त्र जीव-बध[4] करई * मूँड़ि काटि अगमन[5] कै धरई।
साखी—कहँहिँ कबिर पाखंड ते, बहुतक-जीव सताय।
अनुभव-भाव[6] न दरसई, जियत न आपु लखाय[7]* ॥

टि०—[शास्त्र-व्यवसायी पंडितों की दशा]

१—धर्मशास्त्र ने गुणों का निर्णय किया है। २—दुष्ट-प्रकृतिवाले दुराग्रही। ३—अभी तक। ४—मंत्र पढ़ कर बलिदान करते हैं। ५—मूर्ति के आगे। ६—आत्म-भाव। ७—जीते जी आत्म-परिचय नहीं किया।

भावार्थ—जिनने आत्म परिचय नहीं किया उनका वेदादि-पाठ व्यर्थ है।

(३२)

अंधसो[1] दरपन बेद-पुराना * दरबी[2] कहा महा-रस[3] जाना।
जस खर[4] चन्दन लादै भारा * परिमल-बास[5] न जाने गँवारा।
कहँहिँ कबिर खोजै[6] असमाना * सो[7] न मिला जिहि जायगुमाना।

टि०—[ज्ञान की आवश्यकता]

१—अज्ञानियों के लिये वेद और पुराण अन्धे के हाथ में दिये हुए-

---

* पाठा०—रखाव।

दर्पण के समान हैं। २—करछुल, चमचा। ३—बड़ा-स्वाद। ४—गदहा। ५—चन्दन की सुगन्धि। ६—(स्वर्गादि लोकों में) सातवाँ आसमान। गगन मंडल। ७—आत्म-ज्ञान।

(३३)

बेद कि पुत्री है स्मृति भाई * सो[1] जेवरि कर लेतहि आई।
आपुहि बरि[2] आपुन गर बंधा * झूठा मोह काल को फंदा।
बंधा[3] बँधवत छोरि न जाई * विषय रूप भूली दुनियाई।
हमरे लखत सकल-जग लूटा * दास-कबीर[4] राम कहि छूटा।
साखी—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगो[5] रोंस।
सूधा-जल[6] पीवै नहीं, खोदि पियन की हौंस॥

टि०—[स्मृति–विचार]

१—सकाम-कर्म-रूप रस्सी। २—स्वार्थ-सिद्धि के लिये वञ्चकों ने अपने अनुकूल नूतन स्मृति वचनों का निर्माण किया है। ३—सहज ही कर्मों के बन्धन में पड़ गये, परन्तु छूटना कठिन होगया। ४—बिना राम के जाने हुए केवल राम-नाम को जपने वाले दास कबीर=नामोपासक भक्त लोग, क्या राम नाम के कहने से बन्धनों से छूट जायँगे? । ५—घट्ठा, ठेला। ६—'निकाला हुआ पानी, साक्षात् आत्मा का परिचय तो करते नहीं वरन् लोकान्तरों में जाकर उसको पाने की इच्छा रखते हैं।

भावार्थ—भजन—सन्तो! पानी में मीन पियासी। देखि देखि आवै हाँसी हो सन्तो!। आतम ज्ञान बिना नर भटकै, क्या मथुरा क्या काशी हो सन्तो। है नियरे तेहि दूर बतावै, दूर की आस निरासी हो सन्तो॥

मिरगा के तन है कस्तूरी, सूँघत फिरै बन-घासी हो सन्तो । कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, घटहिं मिलैं अविनाशी हो सन्तो ।

(३४)

पढ़ि पढ़ि पंडित करु चतुराई * निज-मुकती मोहिं कहहु बुझाई ।
कहँ बसै पुरुष[1] कवन सो गाँऊ * पंडित मोहि सुनावहु नाँऊ ।
चारि-वेद ब्रह्मै निज ठाना * मुकतिक मरम उनहुँ नहिं जाना ।
दान-पुन्न उन बहुत बखाना * अपने मरन की खबरि न जाना ।
एक नाम है अगम गँभीरा * तहँवा आस्थिर* दास कबीरा ।

साखी—चिऊँटी ना जहँ[2] चढ़िसकै, राई ना ठहराय ।
आवा-गवन की गम नहीं, तहँ सकलौ जग जाय ॥

टि०—[प्रश्न]

१—चेतन-पुरुष (ईश्वर) । २—मनकी कल्पना में ।

भावार्थ—नियरे न खोजै बतावै दूरि । चहुँ दिसि बागुरि रहलि पूरि । (बीजक) ।

(३५)

पंडित भूले पढ़ि गुनि बेदा * आपु अपन-पौ[1] जानु न भेदा[2] ।
संझा[3] तरपन और षट करमा * ई बहु-रूप करहिं अस धरमा ।
गाइत्री[4] जुग चारि पढ़ाई * पूछहु जाय मुकति किन पाई ।
अवर[5] के छिये लेत हौ सींचा * तुमते कहहु कवन है नीचा ।
ई[6] गुन गरब करौ अधिकाई * अधिके गरब न होय भलाई ।
जासु[7] नाम है गरब-प्रहारी * सो कस गरबहिं सकै सहारी[8] ।

पाठा०—* अस्थल ।

साखी—कुल-मरजादा[1] खोयके, खोजिनि पद निरबान।
अंकुर बीज नसाय के, भये बिदेही थान॥

टि०—[मिथ्याचार]

१—अपना, निज रूप का। २—परिचय, पहिचान। ३—सन्ध्यावन्दन ? ब्राह्मणों के षट् कर्म—वेदों का पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, तथा दान देना और लेना। ४—बिना सत्व-शुद्धि के केवल गायत्री मन्त्र के जाप से मुक्ति नहीं हो सकती है। ५—पशु—हिंसादिक क्रूर-कर्म कराने वाले ब्राह्मणों से यह प्रश्न है। छिये = छूने से। सींचा=(शुद्ध होने के लिये) जल के छींटे। ६—इन हिंसादिक कर्मों को कराते हुए भी आप लोग जाति का अभिमान करते हैं। ७—जिस ईश्वर का। ८—सह सकेगा। ९—जिन्होंने मिथ्या अभिमान को छोड़ कर मुक्ति-पद को प्राप्त किया है, वे वासनाओं से रहित होकर आत्मलीन हो गये हैं।

भावार्थ—कर्मों ही से मनुष्य ऊँच और नीच होते हैं जाति से नहीं।

(३६)

ज्ञानी चतुर विचच्छन[1] लोई * एक-सयान[2] सयान न होई।
दुसर-सयान[3] को मरम न जाना * उतपति परलय रयनि बिहाना।
बानिज एक सभनिमिलि ठाना * नेम धरम संजम भगवाना।
हरि अस ठाकुर ते जिन जाई * बालन[4]* भिस्त गाव दुलहाई।
साखी—ते नर कहवाँ चलि गये; जिन दीन्हा गुरु घोंटि[5]।
राम नाम निजु जानिके, छाँड़हु बस्तू खोंटि॥

---

* पाठा०—बालम भिस्त गाव दुलहाई।

टि०—[वाणी की अविषयता]

१–सूक्ष्म–बुद्धि वाले। २–अद्वैत-वादी। अद्वैत-ब्रह्म के विधान से प्रतियोगिविधया द्वैत का भी स्मरण होता रहता है। ३–द्वैत-वादियों ने सारतत्व को नहीं जाना इस कारण वे रात दिन (सदैव) उत्पत्ति और प्रलय के चक्र में पड़े रहते हैं। ४–स्वर्गादि लोकों में ईश्वर का निवास मानने वाले तटस्थ–ईश्वर–वादी, बाल–बुद्धि वाले हैं, वे लोग सदैव स्वर्ग के गीत गाया करते हैं। इसी प्रकार मुसलमान, सातवें आसमान पर रहने वाले खुदा के गीत गायाकरते हैं। और प्रत्यक्ष ईश्वर चेतन–आत्मा को सताया करते हैं। दुलहाई = विवाह के गीत। ५–बच्चों को दी जाने वाली बाल घूंटी अर्थात् जिनको वञ्चक गुरुओं ने मन्त्र दीक्षा दी थी।

(३७)

एक[1]–सयान सयान न होई * दुसर[2]-सयान न जानै कोई।
तिसर[3]-सयान सयानहिं खाई * चौथ[4]-सयान तहाँ लै जाई।
पँचये[5]-सयान जो जानहु कोई * छठये[6] मा सभ गयल बिगोई।
सतयँ[7] सयान जो जानहु भाई * लोक बेद में देहु दिखाई।

साखी—बीजक[8] बित्त बतावई, जो वित गुप्ता होय।
(ऐसे) सब्द[9] बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥

टि०—[वादि-मत-समीक्षा]

१–अद्वैत-वादी। क्योंकि सापेक्षतया अद्वैत-सिद्धि से द्वैत की सिद्धि हो जाती है। २–माया वादी, अज्ञानान्धकार में पड़े रहते हैं। ३–जीव वादियों को अविद्या खा लेती है। ४–तटस्थ-ईश्वर वादी, भिन्न ईश्वर का लोकान्तरों में निवास मानने वाले, मृत्यु के पश्चात् नाना लोकों

में भ्रमण करते रहते हैं। ५–इन्द्रियात्मवादी, इन्द्रियाराम स्वयं नष्ट हो जाते हैं। ६–मन-आत्मवादी, मन को चेतनात्मा समझने वाले मन की धारा में बह जाते हैं। ७–देहात्मवादी लोक और वेद उभय मार्ग से भ्रष्ट होते हैं। ८–गाड़े हुये धन का साङ्केतिक लेख। ९–सद्गुरु का उपदेश (बीजक ग्रन्थात्मक) जीव के स्वरूप का परिचय कराता है। दूसरे पक्ष में शब्द= आवाज, वचन, जीवात्मा का पता देता है, परन्तु इस बात को कोई बिरले ही समझते हैं। भाव यह है कि बिना चेतन के बचन (शब्द) नहीं हो सकता हैं। रेखता–"इस बोलते का खोज करो जिसका इलाही नूर है। जिन्ह प्रान पिंड सँवारिया सोतो हाल हजूर है। गजवाजि द्वारे झूलते सो तो राज जहूर है। कहैं कबीर पुकारि के साहब घट घट पूर है।" 'मो को कहाँ ढूंढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।' अन्त में कहा है कि 'कहैं कबीर सुनो भाई साधो हरसाँसों की साँस में'।

भावार्थ—'आसमान का आसरा छोड़ दे बालका, उलटि देखु घट आपना जी। बिन देखे जो नाम जपतु हैं सो तो रैनि का सपना जी।' यहाँ पर शब्द-पद श्लिष्ट है इस लिये श्लेष-पुष्ट दृष्टान्तालंकार है।

(३८)

यहि विधि कहउँ कहा नहिं माना * मारग[1] माहिं पसारिनि ताना[2]।
राति दिवस मिलि जोरिन्हि तागा[3]*ओटत[4] कातत भरम न भागा।
भरमै[5] सभ जग* रहा समाई * भरम छाँड़ि कतहूँ नहिं जाई।
परय न पूरि[6] दिनहुँ दिन छीना[7] * जहाँ जाय तहाँ अंग बिहूना[8]।
जो मत आदि अँत चलि आया * सो मत सभ उन प्रगट सुनाया।

---

* सभ घट रहल समाई।

साखी—वह सँदेस फुरमानिकै[1], लीन्हे उ सीस चढ़ाय।
संतो है संतोष सुख, रहहु तो हिदय जुड़ाय[10]॥

टि० — [भ्रम-बन्धन]

१—रास्ता (संसार)। २—ताना बाना अनेक सकाम कर्म रूप सूत का ताना। ३—कर्म रूप सूत। ४ —कपास को ओटते हुए और सूत को कातते हुए। अर्थात् अनेक विधि-विधान करते हुए। ५—भ्रम बन्धन में। ६—पूर्णता (स्वरूपप्राप्ति) नहीं होती। ७—ज्ञान क्षीण होता जाता है। ८—मन और मन का अधिकार, तथा स्वरूप की हानि। ९—सत्य। १०—शीतल हो जाय।

भावार्थ—निजपद की प्राप्ति के विना परमानन्द नहीं मिल सकता।

(३९)

जिन कलमा कलि माहिं पढ़ाया * कुदरत[1]-खोज तिनहुँ नहिं पाया।
करिमत[2] करम करै करतूता * बेद कितेब भये सब रीता।
करमते सो जु गरभ अवतरिया * करमत सो जो नामहिं धरिया।
करमते सुन्नति और जनेऊ * हिन्दू तुरुक न जानै भेऊ।
साखी—पानी[3] पवन संजोय के, रचिया यह उतपात[4]।
सुन्नहिं[5] सुरति समानियाँ, कासो[6] कहिये जात॥

टि० —[यवन-मत-और कर्म-बन्धन]

१—प्रकृति, माया। २—स्व स्व मतानुसार कर्म करते हैं। ३—वीर्य। ४—शरीरादिक। ५—असार—कर्म-जाल में। ६—किस किस को समझाया जाय।

भावार्थ—कर्म अप्रधान अतएव परतन्त्र हुआ करते हैं, और कर्ता प्रधान एवं स्वतन्त्र हुआ करता है, अतः कर्ता (चेतनात्मा) की महिमा को समझ कर बन्धन कारक कर्मों से दूर रहना चाहिये।

(४०)

आदम[१] आदि सुधी नहिं पाई * मामा हवा[२] कहाँ ते आई।
तब नहिं होते तुरुक रु हिन्दू * माय के रुधिर[३] पिता के बिन्दू[४]।
तब नहि होते गाय कसाई * तब बिसमिल्लह[५]-किन फरमाई।
तब नहि होते कुल औ जाती * दोजक[६] भिस्त[७] कवन उतपाती[८]।
मन-मसले[९] की खबरि न जाना * मति भुलान दुइ दीन[१०] बखाना।

साखी—संजोगे का गुन रवै[११], बिनु * जोगे गुन जाय।
जिभ्यास्वाद के कारने, कीन्हे बहुत उपाय॥

टि०—[आदि-कथा]

१—मुसलमानों का आदि-पुरुष, सबों से प्रथम उत्पन्न होने वाला पुरुष। २—हव्वा, आदम की स्त्री। ३—रज। ४—वीर्य। ५—'बिस्मिल्लाह अर्रहमान अर्रहीम'। ६—नर्क। ७—स्वर्ग। ८—उत्पन्न किये। ९—मन की कल्पना। १०—धर्म (हिन्दूधर्म और मुस्लिमधर्म) ११—बढ़ना, संयम से सद्गुणों की वृद्धि होती है, और इन्द्रिय-परायणता से गुणों का ह्रास होता है।

भावार्थ—धर्म ध्वजी लोग, (स्वार्थी लोग) अपने पाखण्डों को निजधर्म बतला कर स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं।

---

* पाठा०—बिजोगे का।

(४१)

अंबुकि[1] रासि समुद्र[2] कि खाई * रवि ससि कोटी तैंतिस भाई।
भँवर जाल में आसन माँड़ा * चाहत सुख दुख[3] संग न छाँड़ा।
दुख का मरम न काहू पाया * बहुत भाँति के जग भरमाया *।
आपुहि बाउर आपु सयाना * हिदय[4] बसै तेहि राम न जाना।

साखी–तेई[5] हरि तेइ ठाकुरा, तेइ हरि के दास।
ना जम[6] भया न जामिनी, भामिनि चली निरास॥

टि०– [अज्ञानान्धकार]

१–देहादि संघात। २–संसार-सागर। ३–अहंकारादिक। ४-निज-रूप का परिचय नहीं है। ५–अज्ञानी लोग इस बात को नहीं जानते हैं कि वस्तुतः तेई=यही आत्मा हरि हैं। ६–इस प्रकार ज्ञान के हो जाने से यम ने जीवात्मा की जमानत नहीं ली। और भामिनि = माया भी निराश होकर चली गयी। जामिन = जमानत लेने वाला। भामिनी = स्त्री।

भावार्थ–ज्ञान प्राप्ति से अज्ञानादिक की निवृत्ति और आत्म-लाभ होता है।

(४२)

जब हम[1] रहल रहल नहिं कोई * हमरे मांह रहल सभ कोई।
कहहू राम कवन तोरि सेवा * सो समुझाय कहहू मोहि देवा।
फुर फुर[2] कहउँ मारु सभ कोई * झूँठहि झूँठा संगति होई।

---

* पाठा०–बौराया।

आंधर कहइ सभै हम देखा * तहँ दिठियार[3] बैठि मुख पेखा।
यहि विधि कहउँ मानु जो कोई * जस मुख तस जो हिदया[4] होई।
कहहिं कबीर हंस मुसकाई[5] * हमरे कहले छुटिहहो भाई।

टि०—[आदि-रहस्य]

१—सृष्टि से पूर्व आत्मा एकाकी था। २—सत्य सत्य। ३—देखने वाला। ४—जैसी कहै वैसी करै।—५बन्धे हुए हे जिज्ञासुओ।

भावार्थ—आत्म-कैवल्य-ज्ञान से मुक्ति होती है।

(४३)

जिन्ह जिव कीन्ह आपु[1] बिसवासा* नरक गये तेहि नरकहिं बासा।
आवत जात न लागहि बारा * काल अहेरो साँझ सकारा।
चौदह[2]-बिद्या पढ़ि समुझावै * अपने मरन कि खबरि न पावै।
जाने[3] जिव को परा अंदेसा[4] * झूंठहि आय कहा संदेसा।
संगति छांड़ि करै असरारा[5] * उबहै[6] मोट[7] नरक कर भारा।

साखी—गुरु द्रोही औ मनमुखी, नारी पुरुष बिचार।
ते चौरासी भरमिहैं, जौ लौं ससि दिनकार[8]॥

टि० —[स्वेच्छाचारिता]

१—मन के अधीन हुए। २—" पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्म्मस्य च चतुर्दश "। पुराण, न्याय, मीमांसा धर्मशास्त्र षडङ्ग सहित चार वेद ये चौदह विद्याएँ हैं। ३—चतुर। ४—शोक। ५—दुष्टता। ६—ढरकाता है। ७—चमड़े की मोट। ८—सूर्य्य।

भावार्थ—गुरु के बिना संशय नहीं मिटते।

(४४)

कबहुँ न भयउ संग अरु साथा * ऐसो जनम गमायउ आथा ।
बहुरि न पैहो ऐसो थाना[1] * साधु संग तुम नहिं पहिचाना ।
अब तोर होय नरक महँ बासा * निसु दिन बसेउ लबारे[2] पासा ।
साखी—जात सभनि कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार ।
चितवा[3] होय तो चेतिले, दिवस परतु है धार[4] ।

टि०—[उद्बोधन (चेतावनी)]

१—स्थान, जगह, नरतन । २ झूँठा, मन । ३—चेतना । ४—धाड़ा, लूट, डाका । देखते २ संसार लूटा जा रहा है ।

भावार्थ—सत्संग से सन्मार्ग मिलता है ।

(४५)

हिरनाकुस[1] रावन गौ कंसा * किस्न गये सुर नर मुनि बंसा ।
ब्रह्मा गयल मरम नहिं जाना * बड़ सभ गयल जे रहल सयाना ।
समुझि परी नहिं राम-कहानी * निरबक[2] दूध कि सरबक[3] पानी ।
रहिगो पंथ[4] थकित भौ पवना[5] * करि उजाड़[6] दसदसि भौ गवना ।
मीन-जाल[7] भौ ई संसारा * लोहकि[8] नाव पषान[9] को भारा ।
खेवैं[10] सभै मरम नहिं जानी * तहियो कहै रहै उतरानी ।
साँखी—मकरी-मुख[11] जस केंचुवा, मुसवन महँ गिरदान ।
सरपन माहिं गहेजुआ, जात सभनि की जान ॥

टि० —[संसार की अनित्यता और अज्ञानता]

१—हिरण्याक्ष । २—केवल, ख़ालिस । ३—सब । ४—कर्तव्य । ५—श्वास । ६—दशों दिशाओं को शून्य करके जीव चला गया । ७—मछलियों के फँसाने का जाल (बन्धन कारक) ८—अविद्या, अज्ञान । ९—कर्मों का बोझ । १०—स्वार्थी लोग अज्ञानियों से कहते हैं कि " हम तुम को संसार सागर से पार कर देंगे, क्योंकि नौका खेने की कला हमहीं जानते हैं" वस्तुतः अविद्या रूप नौका यात्रियों को लिए हुए डूबी जा रही है । तिसपर भी उक्त खेवैया कह रहे हैं कि " देखिये यह नौका कैसी तैरती हुई चली जा रही हैं" यह कैसा आश्चर्य है । ११—कैंचुआ = लंबे २ बरसाती कीड़े। गिरदान = गिरगट । गहेजुआ = छुछुन्दर । जान = जीव । अर्थ—उक्त वञ्चक गुरुओं की वाणी—जाल में फँसकर अज्ञानी लोग इस प्रकार मारे जाते हैं जिस तरह बंसी (काँटे) में लगाये हुए केंचुये को खाने से, मछली मारी-जाती है। और रंगीले गिरगट को सुन्दर—फल समझ कर पकड़ने वाला चूहा । अन्धा बन कर मर जाता है। तथा छुछुन्दर को पकड़ने वाला सर्प कोढ़ी बनकर प्राण दे देता है । दूसरा अर्थ यह है, गिरदान = चूहे मारने का एक—यंत्र । और गहेजुवा = झाऊ मूसा । (जिसके शरीर पर काँटे होते हैं । वह बहुत कर मारवाड़ के जंगलों में पाया जाता है ।) भाव यह है कि मुक्ति चाहने वालों को सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये ।

(४६)

बिनसै नाग[१] गरुड़ गलि जाई * बिनसै कपटी औ सत भाई ।
बिनसैं पाप पुन्न जिन कीन्हा * बिनसैं गुन निरगुन जिन चीन्हा ।

बिनसै अगिनि पवन अरु पानी * बिनसै सिष्टि कहाँ लौं गनी।
बिस्नु-लोक बिनसै छिन मांही * हौं[2] देखा * परलय की छाँही।

साखी—मच्छरूप माया भई, जवरहिं[3] खेलै अहेर।
हरिहर ब्रह्म[4] न ऊबरे, सुरनर मुनि केहि[5] केर॥

टि०—[प्रलय का दृश्य]

१—शेष। २—आत्मा, साक्षी रूप से केवल चेतन ही अवशिष्ट रहता है। ३—संग रहकर। ४—ब्रह्मा। ५—किस गिनती में हैं।

(४७)

जरासिंध सिसु-पाल संघारा * सहस अरजुनै छल सों मारा।
बड़[1] छली रावन सो[2] गौ बीती * लंका रहल कंचन की भीती।
जिरजोधन अभिमानहिं गयऊ * पंडव केर मरम नहिं पयऊ।
माया-डिंभ[3] गयल सब राजा * उत्तिम[4] मधिम बाजन बाजा।
छव[5] चकवै बित धरनि समाना * एकहु जीव प्रतीति न आना।
कहँलौं कहउं अचेतहि गयऊ * चेत[6] अचेत झगर एक भयऊ।

साखी—ई माया[7] जग मोहनी, मोहिन सब जग झार।
हरिचंद सत के कारने, घर घर सोग बिकाय॥

टि०—[माया की प्रबलता और संसार की अनित्यता]

१—बड़ाछली। २—वह। ३—माया के पुत्र। ४—सुशासन और कुशासन के द्वारा सुयश और कुयश को फैलाने वाले। ५—छः चक्रवर्ती राजाओं की विभूति धरातल में समा गई।

---

* पाठा०—यह देखो।

चक्रवर्ती–वेनु, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु, और त्रिविक्रम। ६ ज्ञानी और अज्ञानियों का कथनोपकथन, वाद विवाद होता रहता है। ७ माया ने सबों को संकट में डाला। राजा सत्य-हरिश्चन्द्र भी सत्य की रक्षा के लिये सपरिवार अपने आप को बेचने के निमित्त शोक से व्याकुल होकर काशी पुरी की गली गली और घरों घरों में भटके थे।

(४८)

मानिक-पुरहिं[1] कबीर बसेरी * मद्दति[2] सुनी सेखतकि[3] केरी।
ऊजो सुनी जवनपुर[4] थाना * झूंसी सुनि पीरन के नामा।
एक इस पीर लिखे तेहि ठामा * खतमा[5] पढ़ै पैगंबर नामा।
सुनत बोल मोहि रहा न जाई * देखि मुकरबा[6] रहा भुलाई।
नबी[7] हबीबी[8] के जो कामा * जहँलौं अमल[9] सो सबइ हरामा[10]।

साखी—सेख अकर्दि[11] (सेख) सकर्दि तुम, मानहु बचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग, देखहु दिष्टि पसार।

टि०-[यवन मत-विचार उपदेश और प्रचार]

१–जबलपुर लाइन में इस नाम का एक शहर है। कबीर साहेब ने कुछ दिनों तक वहाँ निवास किया था, यह बात पनिका जाति के लोगों में अब भी प्रसिद्ध है। सुना जाता है कि उक्त जाति के प्राचीन ग्रन्थ 'मानिकखण्ड' में कबीर साहब का ऐतिहासिक-वृत्तान्त पूरी तरह लिखा हुआ है। २–(मदहत) प्रशंसा। ३–सुप्रसिद्ध फकीर। ४–जौनपुर और झूसी में पीर लोग बहुत रहा करते थे। ५– (खुत्बा) पैगम्बरों के नाम का खुत्बा = प्रार्थना विशेष। ६ (मक़रवा) कब्र समाधि। ७-नबी = ईश्वर के दूत (मुसलमानों के अवतार) ८–हबीब = दोस्त (मित्र) हजरतमुहम्मद

साहब । ६–खुदा के मिलने के साधन (उपाय) कुरबानी वगैरह । १०–अपवित्र (पाप) । ११–इस नाम के दो मुसलमान नेता थे ।

भावार्थ—सातवें आसमान पर रहने वाले झूंठे खुदा से मिलने के लिये (हाज़िरनाज़िर) सच्चे खुदा जीवात्मा (चेतन देव) को सताना 'दीन' (धर्म) नहीं कहा जा सकता । 'जीते जी मुरदा कर डारा तासे कहत हलाल हुवा, ऐरे मूरख नादाना तैंने हरदम साहब ना जाना । (बीजक) ।

(४६)

दर[1]की बात कहौ दरबेसा[2] * बादसाह[3] है कवने भेषा ।
कहाँ कूंच[4] कहँ करै[5] मुकामा * मैं तोहि पूछौं मूसलमाना ।
लाल जरद[6] की नाना बाना[7] * कवन सुरति[8] को करहु सलामा ।
काजी काज करहु तुम कैसा * घर घर जबह[9] करावहु भैंसा ।
बकरी मुरगी किन फरमाया * किसके हुकुम तुमछुरी चलाया ।
दरद न जानहु पीर[10] कहावहु * बैंता[11] पढ़ि पढ़ि जग भरमावहु ।
कहैं कबिर एक सयद[12] कहावैं * आप सरीखा जग कबुलावैं ।
साखी–दिन[13] भर रोजा रहत हौ, रात हनत हो गाय ।
यहै खून वह बंदगी, क्यों कर खुशी खुदाय ।

टि०—[मुसलमानों से प्रश्न ।

१–पता । २–फक़ीर । ३-खुदा । ४-यात्रा । ५-पड़ाव, स्थान । ६-पीला । ७-विचित्र, बहुरूप । ८-सूरत । काजी=न्याय कर्ता । 'काजी सो जो काज बनावै नहिं अकाज से राजी । जो अकाज की बात चलावै सो काजी नहिं पाजी । [कबीर की साखी] ९–काटना, हलाल । १०–'कबीर सोई पीर है, जो जाने परपीर जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बे पीर ।'

११–शेर, शब्द, साखी । १२–शय्यद जाति के मुसलमान विशेषतया औरों को बलात्कार से मुसलमान बना लेते थे । १३–केवल सूर्योदय से सूर्यास्त तक भूँखे रह जाना कोई भारी इबादत नहीं है, तिस पर भी निरपराध खुदा की दी हुई सब से बड़ी नियामत " गाय " को मटिया मेट कर देना कितना बड़ा अपराध है, भला बतलाइये खुदा मियां खुश होवें तो कैसे होवें। भजन 'अहरन की चोरी करै अरु करै सुई का दानरे, ऊपर चढ़ि के मूरख देखै कब आवै विमान रे। गोबिंदा न गायो तैंने कहा कमायो बावरे '।

भावार्थ—सबों पर रहम करने से खुदा खुश रहता है ।

(५०)

कहइत मोहि भयल[१] जुग चारी * समुझत नाहिं मोह* सुत-नारी ।
बंस आगि लगि बंसहि जरिया * भरम भूलि नर धंधे[२] परिया ।
हस्तिनि-फंदे हस्ती रहई * म्रिगी के फंदे मिरगा परई ।
लोहै[३] लोह जस काटि सयाना * तिय के तत्त तिया पहिचाना ।

साखी–नारि रचंते पुरुष हैं, पुरुष रचंते नार ।
पुरुषहि पुरुषा जो रचै[४], ते बिरले संसार ॥

टि०—[मोह-महिमा]

१–'गर्भे एव वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवं सूर्यश्च' अर्थात् मैं मनु और सूर्य हुआ था इत्यादिक वामदेव के कथन की तरह कबीर साहब का भी यह कथन आत्मदृष्टि से है, देहदृष्टि से नहीं, ' आत्म दृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ' । (वेदान्त—दर्शन) । २–कर्म–बन्धन ।

---

* पाठा०—मोर सुतनारी ।

३—सयाने लोग लोहे से लोहे को काटते हैं। ४—रचै=प्रेम करना। आत्माराम (आत्मा में रमण करने वाले) विरले हैं।

भावार्थ—मोहान्धकार में पड़े हुए लोग परमार्थ-पथ से विचलित हो जाते हैं।

(५१)

जाकर नाम अकहुवा[1] (रे) भाई * ताकर कहा[2] रमैनी गाई।
कहेके तातपर्ज[3] है ऐसा * जस पंथी बोहित चढ़ि बैसा।
है किछु रहनि[4] गहनि की बाता * बैठा रहै चला पुनि जाता।
रहै बदन नहिं[5] स्वाँग सुभाऊ * मन अस्थिर नहिं बोलै काऊ।
साखी—तन[6] रहते मन जात है, मन रहते तन जाय।
तन मन एकै ह्वै रहै, हंस-कबीर कहाय॥

टि०—[अकथ-कथा और ज्ञानियों के लक्षण]

१—कहने में नहीं आने वाला। २—कथा, वर्णन। ३—सार—सिद्धान्त (तत्व) पर आरूढ़ होना ऐसा है। ४—यह दृढ़ धारणा की महिमा है। ५—ज्ञानियों को देहाध्यास नहीं होता है। ६—अज्ञानियों का चित्त सदैव क्षिप्तादि भूमि का वाला रहा करता है, इस कारण उनका शरीर कहीं और मन कहीं रहता है, और कभी मन कहीं और शरीर कहीं रहता है; परन्तु ज्ञानियों की दशा ऐसी नहीं होती उनकी चित्तवृत्ति तो आत्म मुख रहा करती है। ऐसी धारणावालों को ही 'हंस—कबीर' और ज्ञानी कहते हैं।

भावार्थ—'जस बाहर तस भीतर जाना। बाहर भीतर एक समाना'।

(५२)

जेहि[1] कारन सिव अजहुं बियोगी * अंग भभूति लाय भौ जोगी।
सेस सहस-मुख पार न पावै * सो अब खसम[2] सही समुझावै।
ऐसो[3] विधि जो मोकहँ धावै * छठये[4] माँह दरस[5] सो पावैं।
कवनेहु[6] भाव दिखाई देऊँ * सब सुभाव[7] गुपतहि रहि लेऊँ।
साखी—कहँहिं कबीर पुकारिके, सभका उहैं[8] बिचार।
कहा हमर मानै नहीं, किमि छुटै भ्रम-जाल॥

टि०—[आत्म-सन्देश]

१—जिस आत्म साक्षात्कार के लिये। २—इष्ट आत्म-देव। ३—पूर्वोक्त धारणा से। धावै-ध्यावै। ४—शुद्धान्तः करण रूप मुकुर में, 'दिल में खोज दिलहि में खोजो, यहीं करीमा रामा।' 'हृदय बसे तेहि राम न जाना' (बीजक) ५—चित्प्रतिबिम्ब। ६—सहज भाव। ७—संशय कर्मादिक निवृत्त हो जाते हैं। 'भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। इति श्रुति। ८—दशा मन की अधीनता।

भावार्थ--अन्तर्मुख-वृत्ति आत्म-साक्षात्कार में उपयोगिनी होती है।

(५३)

महादेव-मुनि अंत न पाया * उमा-सहित उन जनम गवांया।
उनते सिध साधक नहिं कोई * मन निश्चल*कहु कैसे होई।

पा० * अस्थिर।

जब-लग तन में आहै सोई[1] * तब-लग चेति न देखै कोई।
तब चितिहो जब तजिहो प्राना * भया अंत तब मन पछिताना।
इतना[2] सुनत निकट चलि आई[3] * मन-बिकार नहिं छूटै भाई।
साखी–तीनि-लोक में आय के, छूटि न काहुकि आस।
इक–अँधरे[4] जग खाइया, सभ का भया निपात॥

टि०–[मन की प्रबलता]

१– प्राण। २–वेद, शास्त्र, पुराणादिक। ३–मृत्यु ४–मन निरञ्जन। 'एकल निरञ्जन सकल सरीरा। तामें भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा।' (बीजक)

भावार्थ– संक्षुब्ध मनो-महोदधि में चिच्चान्द्रांशु प्रतिफलित नहीं होते। 'जब दरसन करना चाहिये, तब दरपन माँजत रहिये। दरपन में लागी काई, तब दरस कहाँ ते पाई'।

(५४)

मरि गये ब्रह्मा कासिके बासी * सीव सहीत मुये अबिनासी[1]।
मथुरा(के)मरिगये क्रिस्न गुवारा[2] * मरि मरि गये दसौं अवतारा[3]।
मरि मरि गये भगति जिन ठानी * सरगुन माँजिन निरगुन आनी।
साखी–नाथ मछंदर ना छुटे, गोरख दत्ता ब्यास।
कहहिं कबीर पुकारि के, परे काल की फाँस॥

टि०–[शरीरों की अनित्यता और कालकी प्रबलता]

१–अमर कहाने वाले, देवादिक। २-गोपाल। ३-विशेष २ गुणों के अभिमानी होने के कारण गुणों का स्वकारण में (साम्याव स्थापत्तिरूप)

मिलें तो खूब काम चले। बिढ़ै यह शब्द सं० वृद्धि या वृद्धैय का रूपान्तर है। ८-दशरथ जी या रामचन्द्र। अवरिलगि = दूसरों के लिये।

भावार्थ—संसार को असार समझ कर सार की खोज में लग जाना चाहिये।

(५६)

दिन दिन[1] जरइ जरल के पांऊ * गाड़े जाय न उमगे[2] काऊ।
कंधन[3] देइ मसखरी[4] करई * कहुधोंकवनि भाँति निस्तरई।
अकरम[5] करइ करम को धावैं * पढ़ि गुनिबेद जगत समुझावैं।
छूंछे[6] परे अकारथ जाई * कहँहिं कबिर चित चेतहु भाई।

टि०—[बञ्चक—गुरुओं की वञ्चकता]

१—त्रितापाग्नि से सन्तप्त अज्ञानी, उक्त गुरुओं के बचनानल में पड़कर दिनों दिन अधिकाधिक जलते रहते हैं। २—उभरना, निकलना। जिन २ को उन्होंने अज्ञानतारूप गढ़े में गाड़ा है, उसमें से कोई नहीं उभरा। ३-सत्योपदेशरूप सहारा। ४ प्रतारणा, ठठोली, ठट्ठा। ५—औरों को तो निष्काम रहने का उपदेश देते हैं, परन्तु स्वयं उठाये हुए प्रपंच के गट्ठरों के भार से कराहते रहते हैं। ६-ऐसे गुरुओं के उपदेशों को मानने वाले ज्ञान से छूँछे = खाली ही रह जाते हैं। और उन्हों का नरतन व्यर्थ चला जाता है।

भावार्थ—" कनफुक्के गुरु हद्द के, हवेद के गुरु और। बेहद के गुरु जब मिलैं, लगै ठिकाने ठौर। (साखी—संग्रह)

(५७)

कितिया[1]-सूत्र लोक इक अहई * लाख पचास कि आयू कहई।

विद्या[२] बेद पढ़ैं पुनि सोई * बचन कहत परतच्छै होई।
पहुँचि[३] बात विद्या की पेटा * वाहुके भरम-भया संकेता।

साखी–खग[४] खोजन को तुम परे, पीछे अगम अपार।
बिनु परिचय कस जानिहो, (कबीर) झूठा है हंकार॥

टि०–[स्वर्ग–लोक और साकेत–पुरी का बिचार]

१– स्वर्ग–लोक क्रितियासूत = कच्चे सूत के समान विनश्वर है और वह अपने ही कर्मों से पैदा होता है। तिस पर भी उसकी महिमा कर्म वादियों ने बहुत कुछ गाई है। उनका कथन है कि स्वर्ग–वासियों की आयु सहस्रों दिब्य-वर्षों की होती हैं। २-कर्म काण्डी सदैव कर्मोपयोगी तथा स्वर्गादि-प्रतिपादक " स्वर्गकामो यजेत।" इत्यादि विधि–वाक्यों का ही परिशीलन करते रहते हैं। और स्वर्ग सुख का वर्णन इस प्रकार करते हैं मानों उन्होंने उसको प्रत्यक्षही कर लिया है। ३-इस तरह बढ़ा चढ़ा कर कहने का परिणाम यह होता है कि सुनने वालेके हृदय में वक्ता के बचन स्थिर होजाते हैं और श्रोता को कठिन भ्रम-जाल में डाल देते हैं। सँकेता = निविड़, तंग। ४-खग = पक्षी (मन) ऐ भाइयो! आप लोग कल्पना रूप आकाश में उड़ते हुए मन रूपी पक्षी के पीछे व्यर्थ ही दौड़ रहे हैं, क्योंकि साधन और परिचय के बिना उसका पकड़ना असम्भव है।

(५८)

तैं सुत ! मानु हमारी[१] सेवा * तो कहँ राज[२] देउँ हो देवा[३]।
अगम[४] दुगम[५] गढ़[६] देउँ छुड़ाई * अवरो बात सुनहु कछु आई।
उतपति परलै देउँ दिखाई * करहु राज[७] सुख[८] बिलसहु जाई।

एको बार न होइहै बाँको[9] * बहुरि न जन्म होइ है ताको।
जाय पाप*सुख होइहै घाना * निश्चय बचन कबीर के माना।

साखी–साधु-संत[10] तेइ जना, मानल बचन हमार।
आदि अंत उतपति प्रलै, देखहु × दिष्टि पसार॥

टि०–[सद्गुरु रूपदेश]

१–आत्म-प्रीति। कबीर साहब का यह उपदेश आत्म-भाव से है। २-आत्म-राज्य, स्वाराज। ३-हे जिज्ञासु जीव! "जीवो नारायणो देवो देहो देवालयः स्मृतः।" ४-अजेय, (असाध्य–कर्म)। ५-दुर्गम, दुर्जेय (दुःसाध्य-कर्म)। ६-किला (कर्म-वन्धन)। ७-स्वाराज्य। ८-निजानन्द, परमानन्द। ९-रोम, केश। (आत्मरति और आत्म-तृप्त हो जाने से) १० इस आत्मोपदेश को मानने वाले ही 'सन्त' कहलाते हैं। "सन्तमेनं विदुर्बुधाः" (श्वेताश्वतरोपनिषद्) आत्मसाक्षात्कार करने वाले महात्माओं का नाम ही सन्त है। यहाँ पर "सुत" सूचना शब्द से शिष्य सम्बोधित किया गया है, क्योंकि "वंशों द्विधा विद्यया जन्मना च।" वंश दो प्रकार के होते हैं एक विद्या से और दूसरा जन्म से।

(५६)

चढ़त[1] चढ़ावत भँडहर[2] फोरी * मन[3] नहिं जानै के करि चोरी।
चोर एक मूसै संसारा * बिरला जन कोइ बूझनिहारा।

पा०—*देहौं सुखधाना ×देखा।

सरग पताल भूमि लै बारी[४] * पेकै-राम सकल रखवारी।
साखी–पाहन[५] होय होय सब गये, बिनु भिंतियन के चित्र* ।
जासे कियउ मिताइया, सो धन भया न हित्त× ।

टि॰–[हठयोगियों की दशा]

१–प्राणों को चढ़ते चढ़ाते । २–भाँडा, बासन (खोपड़ी) या शरीरादिक । ३-हठ योगी काल के वञ्चित करने के लिये प्राणों के ब्रह्माड में निरुद्ध करके समाधिस्थ होकर मृतवत् श्रौर जडवत हो जाते हैं, यह उनका श्रभिनिवेश-क्लेश (मृत्यु-भय) सदैव बना रहता है । इस कारण वे मुक्त नहीं हो सकते । वस्तुतः इन वञ्चनाश्रों का करने वाला चोर मन ही है, परन्तु उस चोर की चोरी का रहस्य हठ योगी नहीं जान सकते । ४ बाड़ी, बगीचा । ५-इस प्रकार श्रनात्मोपासक सबही हठयोगी शून्य में समाधि लगाने से स्वयं शून्य (पाहन वत्) हो हो कर जल ज्वाल में डूब जाते हैं । क्यों कि उन्हीं के कार्य मन: कल्पित चित्रों की तरह प्रतिभासित होते हैं । इसके श्रतिरिक्त जिस ऐश्वर्य की वे इच्छा करते हैं, वह स्वयं श्रहित कर है ।

(६०)

छाँड़हु[१] पति छाँड़हु[२] लबराई * मन श्रभिमान[३] टूटि तब जाई ।
जन[४] चोरो * जो भिच्छा खाई * सो बिरवा पलुहावन जाई ।

पाठा॰–*चित्त । + भा श्रनहित ।

पाठा॰–*प्राचीन पाठ यही है, किसी पुस्तक में 'जिन ले' ऐसा भी है, उसका श्रर्थ भी 'सो' के श्रनुरोध से 'जिसने' ऐसा ही होगा । यत्तदो

पुनि[५] संपति औ पति को धावै * सो बिरवा संसार ले आवै।

साखी[६]—झूठ झूठ करि डारहू, मिथ्या यह संसार।
तिहि कारन मैं कहत हौं, जाते होय उबार॥

टि०—[उपदेश]

१—पतित्व, मालिकपन, श्रेष्ठता का दुरन्त-अहंकार। २—झूठापन, वर्ण और आश्रमादिकों की मिथ्याबुद्धि क्योंकि आत्मा का कोई वर्ण और आश्रम नहीं है। ३—ये अहङ्कार की निवृत्ति के साधन हैं। ४—जो लोग चोरी करके खाते हैं और जो अज्ञानी अकर्मण्य (निकम्मे) बन कर भिक्षा ही से जीवन यात्रा करते हैं, वे लोग सम्बर्द्धित-निज—दुर्गुण वारि-धारा से संसार वृक्ष को बढ़ाते (पालते) हैं। ५—और जो धन तथा ऐश्वर्य्य का अहंकार रखते हैं, उनका वह अहंकार रूपी-वृक्ष, अपने कटु-फलों (जन्म और मरण) को खिलाने के लिये अहंकारियों को भयङ्कर-संसार-अटवी में घसीट कर ले आता है। ६—इस मिथ्या-संसार को तुमने अपनी कामनाओं से सत्य बना रखा है। यदि मुक्त होना चाहते हो तो-झूठे संसार को झूठा समझ कर छोड़ दो। 'मुक्तिमिच्छसि चेत्तात! विषयान् विषवत्त्यज। क्षमार्जवदयाशीलं सत्यं पीयूषवद्भज (अष्टावक्र गीता) हे शिष्य! तू यदि मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष की तरह दूर ही से छोड़ दे, और क्षमा, सरलता दया शील और सत्य इन सद्गुणों का अमृत की तरह सेवन कर।

नित्यसम्बन्धः 'जो' और 'सो' की जोड़ी कबही नहीं विछुड़तीं क्योंकि दोनों सापेक्ष हैं।

भावार्थ–मिथ्या–अहंकाराग्नि को दिग्दिगन्त व्यापिनी-प्रचण्ड-ज्वालाओं से संसारशलभ–समूह जलता चला जारहा है ।

(६१)

धरम-कथा जो कहते रहई * लाबरि[1] नित उठि प्रातै कहई ।
लबरि बिहानै लाबरि संझा * इक-लाबरि[2] बसे हिदया मंझा ।
रामहुँ[3] केर मरम नहिं जाना * लै मति[4] ठानिनि वेद-पुराना ।
वेदहुँ केर कहल नहिं करई * जरतइ रहै सुस्त[5] नहिं परई ।
साखी–गुनातीत[6] के गावते * आपुहि गये गँवाय ।
माटी–तन[7] माटी मिल्यो, पवनहिं पवन समाय ॥

टि०–[धर्म–कथा के व्यवसायियों की दशा]

१–झूठ, पाषण्ड-प्रचार । २–मिथ्या-अहंकार । ३–सर्व-भूत-हृदय निवासो- राम का परिचय नहीं हुआ, यदि हुआ होता तो अनुचित-घृणा और विषमदृष्टि न रहती । ४–वेद और पुराणों का भी मनमाना अर्थ कर डाला है । ५–बुझती नहीं । ६–ईश्वर की निर्गुणता और निर्विकारता के मौखिक गीत गाते गाते स्वयं संयम हीन होने के कारण संसार-सागर में खोगये (डूब गये) ७–शरीर की पञ्चत्व प्राप्ति का वर्णन ।

भावार्थ–'जैसी कहै करै पुनि तैसी, राग-द्वेष निरुवारै ।
तामें घटै, बढ़ै रतियो नहिं, यहि विधि आपु सँभारै ॥ (बीजक)

(६२)

जो[1] तू करता बरन-बिचारा * जनमत तीनि-डंड अनुसारा ।
जनमत[2] सूद्र मुये पुनि सूद्रा * क्रितिम-जनेउ[3] घालि जग धुंद्रा[4] ।

जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाये * अवर राहते[५] काहे न आये।
जो तुम तुरुक तुरुकनी जाये * पेटहिं काहे न सुनति[६] कराये।
कारी पियरी दूहहु गाई * ताकर दूध देहु बिलगाई[७]।
छाँड़ कपट नर अधिक-सयानी[८] * कहँहिँ कबिर भजु सारँग[९]-पानी।

टि०—[एक-जाति-वाद तथा मनुष्य-जाति-निरूपण]

१—सबों का जन्म कर्म-दण्ड को भोगने के लिये हुए हैं, और सबही संसाररूप कारागार में पड़े हुए हैं, तिस पर भी किसी का यह समझना कि हम सर्वोत्कृष्ट और परम पवित्र हैं, कहाँ तक संगत है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यदि आप लोग अपने आप को निर्दोष परम पवित्र एवं सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, तो बतलाइये कि जन्मत ही त्रितापादिक तीन दण्ड आप लोगों के पीछे क्यों लग गये। २-"जन्मना जायते शूद्रः" इस स्मृति-वचन के अनुसार। ३—स्वकृत ४-द्वन्द्व, अहंकार। ५-उत्तम-अङ्ग से। ६ मुसलमानी। ७—अलग २ कर दीजिये। ८-अधिक-चतुराई। ९-सारँग = धनुष हाथ में रखने वाले 'राम' अर्थात् अहंकारियों के अहँकार को विदलन करने वाले। महा-अहँकारियों के अजेय शांर्ग पाणि राम का स्मरण कराना कैसा साभिप्राय है, और इस विशेषण के साभिप्राय होने ही के कारण यहाँ पर "परिकर" अलंकार कैसा चमक रहा है। "है परिकर आसय लिये जहाँ बिशेषन होय" (भूषण) "चक्र पाणि-हरि को निरखि असुर जात भजि दूर। रस वरसत घन-स्याम तुम ताप हरत मुद पुरि"। (अलंकार मंजूषा)।

भावार्थ—ऊँच और नीच भाव का कारण धर्म और अधर्म का आचरण ही हैं, जन्म (जाति विशेष में जन्म लेना) नहीं।

नाना-रूप[1] बरन एक कीन्हा * चारि-बरन[2] उहि काहु न चीन्हा ।
नष्ट[3] गये करता नहिं चीन्हा * नष्ट[4] गये अवरहिँ मन दीन्हा ।
नष्ट[5] गये जिन बेद-बखाना * बेद पढे पै भेद न जाना ।
बिमलख[6] करै नयन नहिं सूझा * भो अयान तब किछु न बूझा ।

साखी-नाना नाच नचाय के, नाचै नट के भेख ।
घट घट अविनासी अहै, सुनहु तकी[7] तुम सेख ॥

टि०-[वर्ण-विचार]

१-नाना रूप वाले और नाना वर्णों के अहँकार को रखने वाले सबही मनुष्यों को एकही ईश्वर ने बनाया है, अतः ईश्वर की बनायी हुई चीज़ों को तुच्छ समझ कर उनसे घृणा करना ईश्वर का भारी तिरस्कार करना है । २-जिस ईश्वर ने यह सब कुछ किया उसको चारवर्णों में से किसी ने नहीं पहिचाना । भाव यह है कि एक पिता से उत्पन्न हुए चार पुत्रों की एकही जाति होना मानवधर्मानुसंगत है । हाँ अपने अपने गुणों और कर्मों के अनुसार ऊँचे और नीचे आसनों पर बैठ सकते हैं । ३-जिन्होंने सबोंको एक ईश्वर की सन्तान समझकर आपसमें भ्रातृ-भाव को स्थापित नहीं किया वे पारस्परिक द्वेषाग्नि से नष्ट होगये । ४-और जिन्होंने एक राम सर्वसाक्षी " साहब " को छोड़ कर अनेक पाषण्डों में मन को उरझाया वे भी बे मौत मारे गये । ५-और जिन बाममार्गी आदिकों ने अयथार्थ रूप से बेदों का व्याख्यान किया वे भी नर्कगामी बनकर नष्ट होगये । ६-और हलाल-प्रिय उलमालोग खुदा के नूर को गाय वगैरह में भी मानते हुए तथा सामने देखते हुए भी

विमलख करैं = अन देखी कर देते हैं । वस्तुतः जिह्वा के स्वाद से सबके सब अन्धे हो गये हैं । ७—तकी नाम वाले ऐ शेख़ जी ! आप सुनिए, हर-दिल खुदा मियाँ के तख़्त हैं, इस लिए उन्हों को जबह कर के खुदाई तख़्त का तोड़ना सख़्त गुनाह है । आप को तो हर-दिल-अज़ीज़ होना चाहिए । यदि किसी पुस्तक में बिनु लख, ऐसा पाठ हो तो बहुत ही अच्छा हो ।

(६४)

काया[1]-कंचन जतन कराया * बहुत भाँति कै मन पलटाया ।
जो सौ[2]-बार कहौं समुझाई * तैयो धरा छोरि नहिं जाई ।
जनके[3] कहे जन रहि जाई * नवौ निधी सीधी तिन्ह पाई ।
सदा[4] धरम जिहि हिदया बसई * राम कसौटी कसतहि रहई ।
जो[5] रे कसावै अन्तै जाई * सो बाउर आपुहि बौराई ।
साखी—काल-फाँसि ताते[6] परी, करहु आपना सोच ।
संत सिधावैं संत पहँ, मिलि रह पोचै पोच[7] * ।

टि०—[आत्म-रति और अनात्म - संसर्ग]

१—सद्गुरु कहते हैं कि मैंने जिज्ञासुओं के हृदयस्थ निर्मल-आत्म रूप कञ्चन-की रक्षा के लिए उन्हों से विवेकादिक अनेक प्रयत्न करवाये । २—मैं सबों को बार २ कहता हूँ परन्तु अपने हृदय में धरी हुई असत्कामनाओं को वे नहीं छोड़ते । ३—सिद्धियों की तुच्छ वासना बनी

पाठा०—* धूतहि धूत ।

रहती है। ये सिद्धियाँ तो अनात्मयोगियों के कथनानुसार सूर्यादि मण्डल में संयम करने से भी भुवन-विज्ञानरूप से प्राप्त हो जाती हैं। वस्तुतः सिद्धियाँ तो परमार्थ–पथ में खाइयाँ हैं, अतएव तत्व-दर्शी इन्हें से बचों कर चलते हैं। रत्नों की खोज में निकले हुये सच्चे पारखी को क्या कौड़ियों का ढेर ललचा कर रोक सकता है ? कदापि नहीं ? सुनिये "रिद्धि और सिद्धि (सुन्दर विलास) जाके हाथ जोरि आगे खड़ी, सुन्दर कहत वाके सबही गुलाम हैं"। ४–जो आत्मरति रखने वाला मुमुक्षु है वह सच्चा स्वर्ण है, क्योंकि वह राम कसौटी पर बराबर टिका रहता है, अतएव अपनी निर्मलता को सुरक्षित रखता है। ५–और जो मायोपासक इन्द्रियपरायण है, वह नकली सोने की तरह अविवेकियों में बड़ाई पा लेने से फूला रहता है, परन्तु तत्वपद–रूप कसौटी पर कदापि नहीं टिक सकता है। ६–स्वरूप–विस्मृतिसे। ७–निकम्मे, असाधु।

"कबीर कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोय।
राम–कसौटी सो टिकै, जो मरजीवा होय"॥

भावार्थ—"बगा ढँढोरैं माँछली, हंसा मोती खाँय"।

(६५)

अपने[1] गुन को अवगुन कहहू * (इ) है अभाग जो तुम न बिचारहू।
तू[2] जियरा वहुतै दुख पावा * जल बिनु मीन कवन-सचु[3]पावा।
चात्रिक जलहल[4] आसै पासा * स्वांगधरै भव–सागर आसा।
चात्रिक जलहल[5] भरेजु पासा * मेघ न बरिसै चलै उदासा।
रामै[6]-नाम अहै निजु सारू * औरो झूठ सकल-संसारू।

हरि उतंग तुम जाति पतंगा * जम-घर कियहु जीवको संगा ।
७
किंचित है सपने निधि पाई * हिय न माय कहँ धरौं छिपाई ।
८ ९
हिय न समाय छोरि नहिं पारा * झूठ लोभ तैं किछु न बिचारा ।
१०
सुम्रिति कीन्ह आपु नहिं माना * तरु-तर छल छागर होय जाना ।
जिव दुरमति डोलै संसारा * ते नहिं सूझै वार न पारा ।

साखी—अन्ध भये सब डोलहीं, कोइ न करै बिचार ।
कहा हमर मानैं नहीं, किमि छूटै भ्रम-जाल ॥

टि०—[उपदेश]

१—यह रमैनी लोक विशेष-निवासी विजातीय ईश्वर के उपासकों को लक्ष्य करके कही गयी है। तटस्थ-ईश्वर के उपासक भाइयो ! आप लोग अपने निर्मल स्वरूप को भूल कर उसको दूषित ठहरा रहे हैं। विवेक हीन होना ही आप सबों की अभागता है। २ स्वरूपानन्द-सागर में विहरने वाले हे जीव मात्स्य ! तू उससे बाहर निकल कर और अनेक देवोपासना-रूप सन्तप्त-सैकत-भूमि में पड़कर ‘ बहुतै दुख पावा ’। ३—कौनसा सुख उठाया ? ४—जलाशय ! जिस प्रकार पपीहा गंगादिक जलाशयों के पास रहता हुआ भी उन्हों के सुलभ और ध्रुव-जल को छोड़ कर स्वाति में बरसने वाले अध्रुव जल की आशा रखता है. अतएव भारी संकट उठाता है। इसी प्रकार हृदय निवासी—राम (प्रत्यक् चेतन) को छोड़ कर नाना कामनाओं से भूत, प्रेत, देवी और देवों की उपासना करने वाले भी आशा-बन्धन से बँध कर और अनेक योनियों के अनेक

शरीर रूपी स्वांगों को पहन २ कर बन्दर की तरह सदैव नाचा करते हैं। ५—और जिस तरह पपैहा के पास जलाशय भरा रहता है, परन्तु स्वाति के न बरसने से वह उदास होकर उड़ा करता है, इसी प्रकार अनात्मोपासक भी अत्यन्त निकटस्थ निजानन्दामृतसागर की ओर पीठ देकर देवतादिकों से मिलने वाले ओस कण रूप इच्छित फलों के न मिलने से अत्यन्त उदास होकर मारे मारे फिरते हैं। ६—रामही है नाम जिसका अर्थात् चेतनदेव, क्योंकि वह सामान्यतः सर्वभूत संचारी है और विशेषतः मानस विहारी है। ७—संसार के ऐश्वर्य्य का अभिमान करना व्यर्थ है, क्योंकि वह स्वप्न की विभूति है जो कि कल्पनातीत होने के कारण हृदय-मन्दिर में भी नहीं अट सकती है, और बाहर तो कदापि सुरक्षित नहीं रह सकती है। ८—यह एक बड़ी भारी उलझन है कि। ६—छोड़ी भी नहीं जा सकती हैं। १० मन्वादि-स्मृतियों ने पूरी तरह धर्म और अधर्मों को बतलाया है, परन्तु स्वार्थियों ने नहीं माना, इस कारण ऐसा धोका खा गये, जैसे जँगली-रास्ते से जाता हुआ कसाई कुछ दूर खड़े हुए विशाल-वृक्ष की छाया में लगे हुए पोधे को किसी का खोया हुआ बकरा समझ कर उसको लेने के लिये लपकता हुआ धोका खा जाता है। सूचना— यहाँ ‘ हरिकिभगति जाने बिना बूड़िमुवा संसार ’ ऐसा भी पाठ है। अर्थ–सर्वात्मप्रीति और जीव दया रूप हरि की भक्ति जाने विना ‘बूड़ि-मुवा संसार ’ ‘ जीवदया अरु आत्मपूजा इनसम देव अवर नहिं दूजा। ’ जितनी आतमा बोलतीं उतने सालिम राम। ’

भावार्थ—‘नियरे न खोजै बतावै दूरि, चहुँ दिसि बागुरि रहलि पूरि’।

(६६)

सोई हितु बँधू मोहि भावै * जात कुमारग मारग लावै।
सो[1] सयान मारग रहि जाई * करै खोज कबहूं न भुलाई।
सो[2] झूठा जो सुत कै तजई * गुरु[3] की दया राम को भजई।
किंचित[4] है यह*जगत भुलाना * धन सुत देखि भया अभिमाना।
साखी—दियन[5] खताना किया पयाना, मंदिर भया उजार।
मरी गये ते मरी गये (हो), बाँचे[6] बाँचनि हार।

टि०—[सच्चे और झूँठे गुरुओं की पहचान, तथा शिष्य और कुशिष्यों के लक्षण]

१—जो सत्य–मार्ग पर आरूढ़ है, वह सच्चा जिज्ञासु है। २—वह गुरु, झूठा है जो शिष्य को सत्पथ–गामी नहीं बनाता है। ३—सद्गुरु की दया से। ४—तुच्छ। ५—स्नेही जीव-आत्मा के निकलते ही प्राण-प्रदीप बुझ गया अतएव काया-मन्दिर भयंकर हो गया। शून्य होने से इस कारण शरीर रूपी मन्दिर सूना हो गया। सूचना—यह 'हरिपद' छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरणों में १६ और दूसरे तथा चौथे चरणों में ११ मात्राएं होती हैं। और अन्त में गुरु लघु नियम से रहते हैं। लक्षण—"विषम हरीपद कीजिय सोरह, सम शिव दै सानन्द" (छन्दः प्रभाकर)। ६—अध्यास–फांस में फँसे हुए अज्ञानी लोग मर गये। और निज–पद पर आरूढ़ हुए ज्ञानी–जन मुक्त होकर बच गये। भजन—"हम न मरैं मरिहै संसारा; हमको मिला जियावनहारा। अबना मरौं मोर मन माना, सोइ

पाठा०—* एक तेज।

मुवा जिन राम न जाना। साकत मरैं संत जन जीव, भरि भरि राम-रसायन पीवैं। हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं, हरि न मरैं हम काहे को मरिहैं। कहँहिं कबिर मन मनहिं मिलावा, अमर भये सुख-सागर पावा"।

भावार्थ—सतगुरु ऐसा कीजिये, जौं दिवले की लोय।
आय पड़ोसिन ले चलीं, दिवला (से) दिवला जोय।

(६७)

देह[1] हिलाये भगति न होई * स्वांग धरे नर बहु-बिधि जोई।
धींगी धींगा भलो न माना * जो[2] काहू मोहि हिदया जाना।
मुख किछु आन हिदय किछु आना * सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना।
ते दुख पैहैं ई संसारा * जो चेतहु तो होय उबारा।
जो गुरु किंचित निंदा करई * सूकर स्वान जन्म सो धरई।
साखी—लख[3]-चौरासी जीव-जोनि महँ, भटकि भटकि दुख पाय।
कहँहिं कबिर जो रामहिं जानै, सो मोहि नीके भाय।

टि०—[आत्म-रत और अनात्म-रतों के लक्षण, तथा आत्म सन्देश]

१—जो लोग अनेक प्रकार के वेष बना बना कर केवल बहिर्मुख क्रियाओं में ही लगे रहते हैं और कभी अन्तरंग-वृत्ति करने का कष्ट नहीं उठाते हैं, वे आत्मरति तथा आत्म-पूजा-रूप सच्ची भक्ति को नहीं पा सकते हैं। २—जिसने मुझ राम को सबों के हृदय-मन्दिरों में निवास करने वाला जान लिया है, वह लड़भिड़ कर किसी के दिल को तोड़ना या उखाड़ना अच्छा नहीं समझता है। ३—यह भी 'हरि-पद' छन्द है।

भावार्थ—"जस बाहर तस भीतर जाना. बाहर भीतर एक समाना"

(६८)

तिहि बियोगते[1] भयउ अनाथा * परेउ कुंज-बन पावन पंथा।
बेदौ नकल[2] कहै जो जानै * जो समुझै[3] सो भलो न मानै।
नटवट[4] बंद खेल जो जानै * तिहि-गुनको ठाकुर भल मानै।
उहै जु खेलै सभ-घट माहीं * दूसर के किछु लेखा नाहीं।
भलो[5] पोच जो अवसर आवै * कैंसहु के जन पूरा पावै।
साखी—जेकर[6] सर लागे हिये, सो (इ) जानेगा पीर।
　　लागै तो भागै नहीं, सुख-सिंधु देखि कबीर।

टि०—[प्रपंच—परायणता तथा आत्म (स्वरूप) विस्मृति का फल]

१ यह जीव आत्म—विमुखता के कारण अनाथ (दरिद्र) बन कर विषय—फलों को खाने के लिये भयंकर—भवाटवी में घुस गया। अनन्तर वहां जाकर अनेक मायिक—लता भवनों में तथा रोचक वाणीरूप वृक्षों के झुण्डों में ऐसा भटक गया कि अपने घर का रास्ता ही नहीं पा सका। २—जिन महात्माओं ने आत्म तत्व का साक्षात्कार कर लिया है उनका कथन है कि वेद भी "उस तत्व" का गौण रूप से विधान करते हैं। भाव यह है कि ' अतद्व्यावृत्यायं चकित मभिधत्तं श्रुतिरपि" इस कथन के अनुसार श्रुति भी डरती हुई "नेति नेति" रूप निषेध—मुख से उस तत्व को कह रही है। ३—उस तत्व के विषय में स्थूल-बुद्धि वालों की जैसी समझ है उस—समझ की ज्ञानी लोग प्रशंसा नहीं करते हैं। ४—जो नट की ' बरद—कला ' की तरह अन्तर्वृत्ति—रूप कला का पूरा अभ्यासी है, वह आत्म—योगी धन्य है, क्योंकि उसकी ठाकुर " साहब " के बड़ी मनो—रञ्जक है। भाव यह है कि अन्तर्मुख वृत्ति वालों पर साहब प्रसन्न

होते हैं प्रपञ्चियों पर नहीं । ५—मन को वश में रखने वाला बड़े बड़े संकटों से बाल बाल बच जाता है । ६—कबीर-गुरु कहते हैं कि जिस-जिज्ञासु के हृदय में सद्गुरु के उपदेश-रूपी बाण पूरी तरह पैठ जाते हैं, वह फिर भाग कर प्रपंच में नहीं जा सकता है, क्योंकि उसको संसार सचमुच दुःख-दायी मालूम होने लगता है, अतएव वह दुःख-सन्तप्त-जन सुख-सागर में बुड़कियाँ लगाने के लिये अधीर हो जाता है ।

साखी—सतगुरु मारा तान के सब्द सुरंगी-बान ।
मेरा मारा फिर जियै, (तौ) हाथ न गहौं कमान ॥

भावार्थ—मृग-तृष्णा से प्यास नहीं जाती है ।

(६६)

ऐसा जोग न देखा भाई * भूला फिरै लिये गफिलाई[1] ।
महादेव[2] को पंथ चलावै * ऐसो बड़ो महंत कहावै ।
हाट बजारे लावैं तारी[3] * कच्चे सिद्धन माया प्यारी ।
कब दत्ते[4] मावासी[5] तोरी * कब सुखदेव तोपची[6] जोरी ।
नारद कब बंदूक चलाया * व्यास-देव कब बंब[7] बजाया ।
करहिं लराई मति के मंदा * ई अतीत की तरकस[8] बंदा ।
भये बिरक्त लोभ मन ठाना * सोना पहिरि लजावैं बाना[9] ।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा[10] * गाँव पाय जस चलैं करोरा[11] ।

साखी-(तिय) सुन्दरि ना सोहई, सनकादिक के साथ ।
कबहुँक दाग लगावई, कारी हाँड़ी हाथ ।

टि०—[शैवादि-वेष-धारियों की दशा]

१—असावधानी । २–शैव-मत । ३–समाधि चढ़ाते हैं । ४–दत्तात्रेय जी ने । ५—शत्रुओं पर आक्रमण किया था । ६—तोप लगायी थी । ७—लड़ाई का नक्क़ारा, जुझाऊ-ढोल । ८—फौजी–सिपाही (लड़ाकू) [मालूम होता है कि पहले कुम्भचढ़ाओं पर वेष--धारियोंके द्वारा भारी खून–खराबी हुआ करती थी] ९—विरक्तता के वेष को और झण्डे को । १०—जुटाव, इकट्ठा ११—कोट–पतियों की तरह बहुमूल्य सवारियों पर चढ़कर चला करते हैं ।

भावार्थ—सिहों केरी खोलरी, मैंढ़ा पैठा धाय ।

बानीते पहिचानिये, सब्दहिं देत लखाय । [बीजक]

(७०)

बोलन कासे बोलिय (रे) भाई * बोलत हीं सब तत्त[1] नसाई ।
बोलत बोलत बढ़इ बिकारा * सो[2] बोलिय जो पड़ै[3] बिचारा ।
मिलैं जु संत बचन दुइ कहिये * मिलहिं असंत मौन होय रहिये ।
पंडित से बोलिये हितकारी * मूरुखसे रहिये झखमारी[4] ।
कहँहिं कबीर अरध[5] घट डोलै * पूरा होय बिचार ले बोलै ।

टि०—[उपदेश–विचार] (बचन-विचार)

१—वृत्ति, गुण, स्वभाव । २–ऐसी बात । ३–विचार में आसके । ४–मूर्ख के आगे मन मार कर रह जाना चाहिये । ५–जैसे आधा-भरा हुआ घड़ा छलकता रहता है और बोलता रहा है, इसी तरह थोड़ी–बुद्धि वाले बात बात पर बिगड़ते रहते हैं ।

(७१)

सोग[1] बधावा सम करि माना * ताकि बात इन्द्रहु नहिं जाना ।
जटा[2] तोरि पहिरावैं सेली * जोग[3] जुगति कै गरब दुहेली ।

आसन[४] उड़ये कवन बड़ाई * जैसे कौवा चील्ह मिंड़राई।
जैसी[५] भीति तैसि है नारी * राज पाट सभ गनहिं उजारी।
जैस नरक तस चंदन जाना * जस बाउर तस रहै सयाना।
लपसी लवँग गनै एक सारा * खाँड़ छाँड़ि मुख फांकै छारा।

साखी—इहै-बिचार[६] बिचार ते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै हो रहा, (मैं) काहि लगाऊँ हेत।

टि०—[शैव हठ-योगियों की तथा वाचक-ब्रह्म-ज्ञानियों की दशा]

१—स्थिर-बुद्धि वाले मननशील-आत्मयोगियों को जो अमित आनन्द प्राप्त होता है, उसका अनुभव तो इन्द्र भी नहीं कर सकता है। वे महात्मा हर्ष और शोक के उपस्थित होने पर अविचल–चित्त बने रहते हैं। जैसा भगवद्गीता का वचन है कि " दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते" । तथा सच्चे ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं की यह स्थिति होती है कि वे "न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियं । स्थिरबुद्धि रसंमूढो ब्रह्म विद्ब्रह्मणि स्थितः" । २—पहले नाथ योगी–लोग, जटाधारी वैष्णवों को किसी प्रकार परास्त कर उनकी जटाएँ कटवा देते थे, पश्चात् जटा के बालों से बनी हुई सेली (मालाविशेष) उनको पहिना कर शिष्य बना लेते थे; यह बात " सबके मुद्रा डालता जो नहिं होत कबीर " इत्यादि भजनों से स्पष्ट है। ३—और पवनासनादिक हठयोग की सिद्धियों का भारी अहंकार रखते हैं। ४—आकाश में उड़ जाना कौन महत्व का काम है, यह शक्ति–सिद्धि तो कौवे और चील्हों में स्वाभाविक ही रहती है। ५—वाचकज्ञानी [वन्ध्यज्ञानी] और सच्चे ज्ञानियों के तारतम्य को

जानने के लिये ज्ञान की सात-भूमिकाएँ जान लेनी चाहिये । "ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता, विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनु मानसा । सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका पदार्थाभावनी षष्ठी, सप्तमी तुर्य्यगा स्मृता" । शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया ये भूमिकाएं हैं । इनमें से पंचम-भूमिका में आरूढ़ ज्ञानियों को तन के अभिमान का अभाव हो जाता है । और छठी भूमिका वालों को बुद्ध्यादिक पदार्थों का अभाव हो जाता है । और सप्तम (तुरीया) भूमिकारूढ ज्ञानियों के तो भावाभाव 'मैं' और 'तू' इत्यादिक कुछ भी नहीं बन सकते । और अन्तिम भूमि कारूढ़ ज्ञानियों का शरीर भी (पूर्णतया देहाध्यास की निवृत्ति के कारण) थोड़े ही काल तक रहता है । इस रमैनी में "लपसी लवँग गनै एक सारा" यहाँ तक ज्ञानी महात्माओं की ज्ञान भूमिकाओं का भली भाँति वर्णन है । वाचक-ज्ञानियों को तो इन भूमिकाओं के स्वप्न में भी दर्शन नहीं हो सकते, चाहे जन्म भर "अहं ब्रह्मास्मि ।" और " शिवोऽहं " की मिथ्या-हाँक लगाया करें । वे लोग तो आत्म विमुख और प्रपञ्चपरायण होने के कारण इस उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं कि "खाँड़ छाँड़ि मुख फांकै छारा ।"

६-निरन्तर विषयों के चिन्तन से इन ज्ञानाभिमानियों की बुद्धि, बल और चित्त की निर्मलता सदा के लिये चली गयी । असली मजनू और नकली मजनू को पहचान लेना थोड़ी बुद्धि वालों के लिये कठिन है, क्योंकि वे लोग बाहरी-वेष, वानादिकों से तो ज्ञानी (साधु) ही मालूम पड़ते हैं; इसी कारण भोले भाले श्रद्धालु-भाई उनके द्वारा बार बार वञ्चित होकर सोचते रहते हैं कि हम किसका आदर और किसका निरादर करें ।

भावार्थ—हँस बगु देखा एक रंग, चरै हरियरे ताल।
हंस छीर ते जानिये, बग उघरै ततकाल। (बीजक)

(७२)

नारि[1] एक संसारहि आई * माय न वाके बापहि जाई।
गोड़[2] न मूड़ न प्राण-अधारा * तामहँ भभरि रहा संसारा।
दिना[3] सातलौं वाकी सही * बुध अधबुध (ज्ञानी और अज्ञानी) अचरज का कही।
वाको[4] बंदत हैं सभ कोई * बुध अध-बुध अचरज बड़होई।
साखी—मूस[5] बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज संतो देखहु, हस्ती सिंघहिं खाय।

* टीका *

[माया की प्रबलता]

१—एक अनोखी नारी (माया) संसार में आयी है। उसके न माता है न पिता। (अर्थात् माया अनादि है) २—और न गोड़ (पैर) है न मूंड है। न उसके प्राणोंका आधार जीव ही है। उसीने सारे संसार को भुला दिया है। ३—जब तक मनुष्य पंच-विषय मन और अहंकार इन सातों के चक्र में रहते हैं, तब तक उनको माया की लीला सच्ची मालूम पड़ती है। दूसरा अर्थ यह भी है कि चंचला-माया की यह चमक थोड़े ही काल तक ठहरती है। बुध=पण्डित (निर्गुण-उपासक) और अध-बुध=आधे पण्डित (सगुण उपासक) दोनों अचरज में पड़कर माया को सत्य ही कहते हैं।

४–पण्डित और आधे पण्डित सब मिलकर माया ही की वन्दना करते हैं यह एक बड़ा भारी अचरज है। "निर्गुण सरगुन मनकी बाजी खरे संयाने भटके" । "मन माया तो एक है" ५—मूस (जीव) और बिलाई (माया) ये दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं। कबीर-साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! आप लोग एक अचरज देखिये। हस्ती (मन) सिंह (जिव) को खा रहा है।

भावार्थ–माया ने सारे संसार को अपने अधीन कर लिया है।

(७३)

चली[1] जात देखी एक नारी * तर गागरि ऊपर पनिहारी।
चली[2] जात वह बाटही बाटा * सोवनिहार के ऊपर खाटा।
जाड़न[3] मरै सपेदी-सौरी * खसम न चिन्है घरणि भइ बौरी।
सांझ[4] सकार ज्योति लै बारे * खसम छाँड़ि सँवरै लगवारे।
वाही[5] के रस निसुदिन राची * पिय सों बात कहै नहिं साँची।
सोवत[6] छाँड़ि चली पिय अपना * ई दुख अवधौं कहब कैसना*।
साखी[7]—अपनी जाँघ उघारिके, अपनी कही न जाय।
की चित जाने आपना, की मेरो जन गाय।

* टीका *

[आत्म-विमुख-वृत्ति]

सुरति-योगियों का कथनः—

१–ध्यान के समय एक नारी (सुरति) को ऊपर की ओर जाते हुए देखा अनन्तर ध्यान-पूर्वक देखने से मालूम हुआ कि गगरी (शरीर)

पाठान्तर * केहिसना।

तो नीचे धरी हुई है, और पनिहारी [सुरति] उसके ऊपर [ब्रह्माण्ड में] बैठी हुई है। भाव यह है कि गगन मंडल में एक उलटा कुंवा है, योगियों की चित्त-वृत्ति रूप पनिहारी उसमें से अमृत-रस भरने के लिये ऊपर की ओर जाया करती है। "कर नैनों दीदार महल में प्यारा है। गगन मंडल में ऊर्ध मुख कूंवा, संत सोई जो भरि भरि पीवा, निगुरा मरै पियास हिये अँधियारा है"।

२–वह [सुरति] क्रम से बीच के सब स्थानों को पार करती हुई रास्ते रास्ते चली जा रही है। इस प्रकार उत्तरोत्तर स्थानों को पार करती हुई अष्टम सुरति कमल के आगे चली गयी जहाँ कि मन की गति नहीं है। अतएव उक्त-स्थान पर पहुँची हुई सूक्ष्म वृत्ति रूप खटिया, सोने वाले मनके ऊपर बैठ गई। भाव यह है कि मन की गति सहस्रार [सहस्र-दल-कमल] तक ही है, इस रहस्य को लेकर "सोवनिहार के ऊपर खाटा" यह कहा गया है। दूसरा यह भी अर्थ है कि सोने वाले अज्ञानी जीव को मनकी वृत्ति रूप खटिया, ऊपर से दबाये रहती है। [परन्तु यह अर्थ सिद्धान्त पक्ष में है]।

३–अब सद्गुरु कहते हैं कि, उक्त-योगियों की अनात्म- वृत्ति विक्षिप्त होगई है, क्यों कि वह" सफेद–सौर" ज्ञान-प्रधान नर-तन रूपी रजाई के मिलने पर भी अज्ञानता के कारण उसके उपयोग से वञ्चित रहकर जड़ता-जाड़ से मर रही है। और विक्षिप्तता के कारण ही पास में खड़े हुए अपने पतिदेव (स्वरूप) को भी नहीं पहचानती है। यह विक्षिप्तता की पराकाष्ठा है। "पास खड़ा तेरे नजर न आवे महबूब पियारा वे"। "मानुष-जनमहिं पाय नर ! काहेको जहँडाय" [बीजक) " जड़ता जाड़ विषम उरलागा "। (रामायण)

४—चित्त वृत्तिकी विक्षिप्तलीला—

सायं सन्ध्या और बड़े सबेरे दीपक जलाकर बैठ जाती है, और निज पति (चेतन देव) को भूल कर उपपति (मन) की गुप्त-लीलाओं का स्मरण किया करती है। (दीपक, सत्कथा) भाव यह कि प्रति दिन दोनों समय सत्कथाओं के श्रवण से भी विना सत्व-शुद्धि के वृत्ति स्थिर नहीं हो सकती है।

५—सदैव वृत्ति (कुलटा) बहिर्मुख रहती है, कभी अन्तर्मुख नहीं होती। ६—सदैव जगते हुए पति मालिक (चेतन-देव) को अपनी अज्ञानता (पागल-पन) के कारण सोता हुआ समझकर छोड़ गयी। और मनके साथ विहार करने लगी। भला यह दुःख-कारक कथा कौन किससे कहै।

७—अपने हृदय-मन्दिर का यह गोपनीय-रहस्य पूरीतरह प्रकट नहीं किया जा सकता है। या तो इसको अच्छी तरह अपना ही चित्त समझ सकता है, अथवा अपने समान जो भुक्त भोगी (भक्तजन, भेदी पुरुष) हो वह जान सकता है "घायल की गति घायल जाने का जाने वैद विचारा"।

(७४)

तहिया[1] गुपुत थूल नहिं काया * ताके[2] न सोग ताकि पै माया।
कँवल[3]-पत्र तरँग एक माहीं * संगहि रहै लिप्त पै नाहीं।
आस[4]-ओस अंडन महँ रहई * अगनित अंड न कोई कहई।
निराधार[5] अधार ले जानी * राम-नाम[6] ले उचरी बानी।
धरम[7] कहै सभ पानी अहई * जाती के मन पानी अहई।
ढोर[8] पतंग सरै घरियारा * तिहि-पानी सभ करैं अचारा।
फंद[9] छोरि जो बाहर होई * बहुरि पंथ नहिं जोहै सोई।

साखी—भरम क बांध लई जग, कोइन करै बिचार।
हरिकि भगति जाने बिना, बूडि मुवा संसार।

* टीका *

[रचना-रहस्य और आचार-विचार]

१—सृष्टि (रचना) के पूर्व स्थूल-प्रपञ्च गुप्त था, अतः स्थूल-शरीर भी नहीं था। २—उस समय जीवात्मा शोक से मुक्त था, परन्तु माया अवश्य लगी हुई थी, क्योंकि माया भी अनादि है। ३—माया के सङ्ग रहता हुआ भी आत्मा कमल पत्रवत् निर्लेप था और सम्प्रति भी माया के संग रहता हुआ तरंगों में पड़े हुए कमल-पत्र की तरह वस्तुतः निर्लिप्त ही रहता है। ४-अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने के कारण जब सृष्टि (रचना) हुई तब जीवों ने शरीर पाकर अनेक सकाम-कर्म किये, जिसकी फल प्राप्ति की आशारूप ओस कण को चाटते हुए कर्मीजीव अनन्तानन्त-ब्रह्माण्डों में जा जा कर रहने लगे। इस विषय में श्रीमद्गोस्वामी जी ने कैसा अच्छा वर्णन किया है कि 'ऐसी मूढ़ता या मनकी। परि हरि राम-भजन सुर-सरिता, आस करत ओस कनकी। ऐसी मूढ़ता' (विनय-पत्रिका)। ५-विवेकियों ने असंहत आत्मा का अनुमान संघात से किया है 'संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च' (साङ्ख्य कारिका १७) अर्थात् आराम की सामग्री, भोक्ता के लिये हुआ करती है, अपने लिए सामग्री के नहीं, इत्यादिक युक्तियों से आत्मा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार 'निराधाराणां गुरुत्ववतां सूर्यादीनां धृतिः प्रयत्नविशेषप्रयोज्या, धृतित्वात्, वियति विहङ्गधृतिवत्, तथा 'परकीयं शरीरंसात्म शरीरत्वादस्मच्छरीरवत्' (प्रशस्तपादभाष्य)

इत्यादि अनुमानों से दूसरों के शरीरों में भी आत्मा की सिद्धि हो जाती है, और अपने शरीर में तो आत्मा साक्षात् उपलब्ध ही है ६-और वेदादिकों का आविर्भाव भी राम, रमैया है नाम जिसका अर्थात् चेतन पुरुष ही से हुआ है 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतदृग्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति' क्योंकि शब्दी (चेतन) के बिना शब्द (वर्णात्मक-शब्द) नहीं हो सकता है। वर्णात्मकशब्दोपत्तिका क्रम यह है " आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मंद्रंजनयति स्वरम्। प्रातःसवनयोगन्तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् " (पाणिनीय शिक्षा) तथा " आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः। देहस्थं वह्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्। नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयतेध्वनिम् "(संगीत-रत्नाकर स्वराध्याय)। इस ग्रन्थ में भी वाणी की उत्पत्ति का विषय निम्न-लिखित पद्यमें बाजे के रूपक द्वारा खूबही स्पष्ट किया गया है।यथा-" जंत्री जंत्र अनूपम बाजै (वाके)अष्ट-गगन मुख गाजै। तूही बाजै तूही गाजै तूही लिये कर डोलै, एकसब्द माँ राग छतीसों अनहद-वानी बोलै। अन्त में कहा है कि "कहहिं कबिर जन भये विवेकी जिन जंत्री सों मन लाया "। (बीजक शब्द) " राम नाम लै उचरीवानी " इस स्थलपर रामनाम के उपासक परम श्रद्धालुओं का यह कथन है कि राम के नाम से ॐकारादिक सब वाणियों का प्राकट्य हुआ है। इसी प्रकार ॐकारोपासक भी अपने उपास्य की महिमा का वर्णन करते हैं। वस्तुगत्या विचारा जाय तो इन सबों का कथन औपासनिक है, वस्तुस्थित्या नहीं क्योंकि " अतस्मितद्बुद्धिरुपासना। " यह तो उपासना का लक्षण ही है। अर्थात् जो वस्तु वस्तुतः वैसी न हो तिसपर भी उसको वैसा मानना। जैसे गण्डक-शिला (शालिग्राम) में विष्णु

बुद्धि करना यही उपासना है । और शब्दों की उत्पत्ति का तो यह नियम है कि वे स्व-सजातीय उत्तरोत्तर शब्दों को ही उत्पन्न करते हैं, और क्षणिक होते हैं । अतः वर्णात्मक शब्द शब्दी (चेतन) से होता है या शब्द (जड) से ? इसका विवेक करना विवेकियों पर ही निर्भर है । ७–धर्म्मशास्त्र का कथन है कि पार्थिव-रचना के पूर्व सर्वत्र जल ही जल था । और उसी जलमें नारायण ने शयन किया था । इसी कारण उसका नारायण नाम हुआ है । " सोऽभिध्यायशरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अतएव ससर्जादौ तासु बीज मवासृजत् ॥ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः " ॥ मनु० अ० १।८–१, । "जाती के मन पानी अहई" वही जल यह है कि जो सम्प्रति शरीर रूपसे परिणत होकर स्थित है । और इस शरीररूपी जलमें भी इस समय जीव-नारायण " जीवो नारायणो देवः " विद्यमान है । इस प्रकार जल का और नारायण का सतत-सम्बन्ध है, तो बतलाइये कि नरनारायण के सम्बन्ध से कूपतडागादिक जलाशय (निर्वाण) निष्कारण अपवित्र कैसे हो सकते हैं । नरनारायण के छू देने से उसकी कल्पित जाति को मन में लाकर आपलोग जलाशयों को निष्कारण ही अपवित्र मान बैठते हैं ८–जिस जल की पवित्रता का अहङ्कार आप लोग करते हैं उसकी स्थिति सुनिये । 'ढोर पतंग सरै घरियारा' इत्यादि । अब बतलाइये क्या मनुष्य पशुओं से भी बुरे हैं । सुनिये जात्या कोई मनुष्य अछूत नहीं है, हाँ, मलिनता रखने के कारण वह दूर किया जा सकता है, अतः मनुष्य-विशेष को स्वाभाविक अछूत मानना अन्याय है । ९—जिसको इस पाषण्ड-फन्द का ज्ञान हो गया है वह इस अनुचित छूवा छूत के बन्धन को तोड़कर निकल जाता है, और फिर वह उस पाषण्ड-मार्ग को कभी देखता भी

नहीं हैं। १०—इस संसार में भ्रम-जाल में पड़े हुए मनुष्यों में से कोई सत्य का निर्णय नहीं करता है। अतएव सर्व पापों को हरण करने वाले हरि (आत्म देव) की जो सच्ची भक्ति । सामान्यतया सर्वात्मप्रीति, विश्वात्म प्रीति तथा विशेषतया नर-नारायण प्रीति है, उसको जाने बिना मिथ्या अहङ्कारी सारे संसारी अपार संसार-पारावार में डूब कर मर जाते हैं।

भावार्थ—छूतहि जेंवन छूतहि अचवन छूतहि जगत उपाया।
कहँहिं कबिर ते छूत बिवरजित जाके संगन माया॥ (बीजक)।

(७५)

तिहि-साहब[1] के लागहु साथा * दुइ-दुख[2] मेटि के होहु सनाथा।
दसरथ-कुल अवतरि[3] नहिं आया * नहिँ लँका के राव[4] सताया।
नहिँ देवकि के गरभहिँ आया * नहीं जसोदा गोद खेलाया।
प्रिथमी रमन[5] दमन[6]*नहिं करिया * पैठि[7] पताल नहीं बलि छलिया।
नहिं बलिराज से मांडल रारी[8] * नहिं हिरनाकुस बधल पछारी।
होय बराह धरनि नहिं धरिया * छत्री मारि निछत्रि न करिया।
नहिं गोबरधन कर गहि धरिया * नहिं ग्वालन संग बनबनफिरिया।
गंडक-सालिगराम[9] न सीला + * मच्छकच्छ होयनहिँ जला[10] ÷ होला।
द्वारावती[12] शरीर न छाँड़ा * लै जगनाथ[13] पिंड[14] नहिँ गाड़ा।

साखी—कहँहिँ कबीर पुकारिके, वा पंथ[15] मति भूल।
जिहि राखे अनुमान कै, थूल नहीं अस्थूल॥

पाठा० * रवन, दवन, धवन। + कूला ÷ डोला।

टि०—(अवतार-वाद)

१—निर्लिप्त, शुद्ध-चेतन । २—जन्म-मरणादिक-द्वन्द्व । ३—अवतार । ४—राजा (रावण) । ५—विहार । ६—शत्रुओंका नाश । ७—घुस कर, (वामन रूप से) ८—युद्ध । ९—गँडक नदी के शालिग्राम । १०—पत्थर । ११ प्रवेश किया । १२—द्वारिका । १३—जगन्नाथ पुरीमें (बुद्धरूप होकर) । १४ शरीर को नहीं गाड़ा । १५—माया के मार्ग में । तुम अपनी कल्पना से उस रमैया राम का स्थूल या सूक्ष्म जैसा आकार समझ रहे हो, वह वैसा नहीं है, क्योंकि ये सब आकार माया के हैं । और वह तो सब प्रकार के आकरों से रहित है, न कहीं आता है न कहीं जाता है न मरता है न मारता है ।

भावार्थ—दस अवतार ईसरीमाया, करता कै जिन पूजा ।
कहँहि कबीर सुनो हो संतो, उपजै खपै सो दूजा ॥ (बीजक)

(७६)

माया मोह कठिन संसारा * इहै विचार न काहु विचारा ।
माया मोह कठिन है फंदा * होय विवेकी सो जन बंदा ।
राम[1] नाम लै बेरा[2] धारा * सो तो लै संसारहिं पारा ।

साखी—राम नाम अति दुर्लभ[3], अवरे[4] तें नहिँ काम ।
आदि अंत औ जुग जुग, रामहिँ तें संग्राम ॥

टि०—[माया फाँस और उसका विनाश]

१—राम है नाम जिसका "रमैया" चेतन-देव-रूपी । २—जहाजपर चढ़ो, अर्थात् आत्मोपासक बनो । ३—आत्म-लाभ-दुष्कर है । ४—प्रपञ्च से ।

मुमुक्षुओं को यह शुभेच्छा रहती है कि हमारी आत्म-तत्परता सदैव बनी रहै।

भावार्थ—माया को पीठ देकर आत्मोन्मुख हुए बिना माया का भय नहीं मिट सकता है।

(७७)

एकै[1]-काल सकल-संसारा * एक नाम[2] है जगत पियारा।
तिया[3] पुरुष किछु कथो न जाई * सरब-रूप[4] जग रहा समाई।
रूप[5] निरूप जाय नहिं बोली * हलुका गरुवा जाय न तोली।
भूख[6] न त्रिषा धूप नहिं छाहीं * दुख सुख रहितरहै तिहि माहीं।

साखी—अपरं[7] पारै रूप मगु, रूप निरूप न भाय। *
बहुत-ध्यान + कै खोजिया, नहिँ तेहि संख्या आय।

टि०—[काल पुरुष और जीव का स्वरूप]

१—निरञ्जन, मन। २—जीव आत्मा। ३—जीव न स्त्री है न पुरुष ही है। ४—नाना कर्म। जन्य शरीरों को धारण कर जगत में समाया हुआ है। ५—वह आत्मा वाणी का अविषय है, इस कारण उसको न रूप वाला कह सकते हैं और न रूप रहित ही। इसीप्रकार वह तोलने में भी नहीं आसकता, अतः उसको न हलका कह सकते हैं न भारीही। ६और वह चेतन भूख प्यास और सुख दुःखादिक विकारों से रहित जो अपना स्वरूप है, उसी में सदैव स्थित रहता है। ७—जीव का स्वरूप अपरम्पार है न वह साकार है न निराकार है। ज्ञानियों ने दीर्घ काल और निरन्तर बड़े भारी चिन्तन से

पाठा०—*अपरं पारै परम-गुरु, ज्ञान रूप बहु आहि। + जतन।

उसको पाया है। तत्व वेत्ताओं का अनुभव है कि न वह एक है न दो है। "एक कहूँतो है नहीं, दोय कहूँ तो गार। है जैसा तैसा रहै, कहँहिं कबीर विचार"। (बीजक)

भावार्थ—चेतन है अवश्य, परन्तु अतत्वदर्शी जैसा समझते हैं वैसा नहीं है।

(७८)

मानुष-जन्म चुके (हु) अपराधी[१] * यहि-तन केर बहुत हैं साझी[२]।
तात[३] जननि कह पूत[४] हमारा * स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला।
कामिनि[५] कहै मोर पिउ[६] आहै * बाघिनि रूप गिरासा चाहै।
सुतहु[७] कलंत रहैं लव[८] लाये * जम की नाँइ रहैं मुख बाये[९]।
काग गीध दुइ मरन बिचारैं * सिकर[१०] स्वान दुइ पंथ निहारैं
अगिनि कहै मैं ई-तन जारौं * पानि कहै मैं जरत उबारौं *।
धरती कहै मोहि मिलि जाई * पवन कहै सँग लेउँ उड़ाई।
जा घर को घर कहै गँवारा * सो बेरी[११] है गरे तुम्हारा।
सो तन तुम आपन कै जानी * विषय (स्व) रूप भूले अज्ञानी।

साखी—इतने तन के साझिया, जन्मो भरि दुख पाय।
चेतत नाहीं बावरे, मोर मोर गोहराय[१२]।

पाठा०—* सो न कहै जो जरत उबारौं। सो न करो जो जरत उबारौं।

टि०—[नर तन के साक्षी और ग्राहक]

१–पापी २–हिस्सेदार । ३–पिता और माता । ४–पुत्र । ५–रखनी, रक्खी हुई स्त्री । ६–पति (उपपति) ७–विवाहिता स्त्री । ८–प्रेम लगाये हुए । ९–मुख खोले हुए । १०–सियार (या सूअर आदिक) ११–बेड़ी, गले की तोख़ (जंजीर) । १२–पुकारता है ।

भावार्थ—अनित्य–शरीर के लिये अन्यायाचरण करना महा अनर्थ है ।

(७९)

बाढ़त + बढ़ी घटावत छोटी * परिखत खरि परिखावत खोटी ।
केतिक कहौं कहाँ लौं कही * अवरों कहौं परै जो सही[1] ।
कहल बिना मोहि रहल न जाई * बेरहिं[2] * लै लै कूकुर खाई ।

साखी–खाते खाते जुग गया, बहुरि न चेते आय ।
कहँहिँ कबीर पुकारि कै, जीव अचेतै जाय ॥

टि०—[माया और बाणी की दशा]

१–यदि सत्य समझी जाय । २–विरही = राम वियोगी जिज्ञासुओं को वञ्चक लोग अपने जाल में डाल लेते हैं । और यह भी अर्थ है कि कूकुर = विषयी–जन, विषय–रूप नीरस बेरों को ले २ कर खाया करते हैं ।

भावार्थ—माया जाल और वाणी जाल से बचना चाहिये ।

पाठा०— + बढ़वत * यहाँ पर बेढ़हिं, विरही, और विरहिन ये पाठान्तर हैं ।

(८०)

बहुतक साहस[1] करु जिय अपना * तिहि-साहब सों भेंट न सपना।
खरा खोट जिन नहिँ परिखाया * चाहत लाभ तिन मूल[2] गँवाया।
समुझि न परलि पातरी[3] मोटी * ओछे[4] गाँथि[5] सभनि भौ खोटी।
कहँहिँ कबिर केहि देहहु खोरी[6] * जब चलिहौ झिझि[7] आसातोरी।

टि०—[विवेक की आवश्यकता]

१—हिम्मत। २—पूंजी, ज्ञान। ३—मोटी माया और झीनी माया को न समझ सके। ४—(मन) "ओछे नेह लगाय के मूरहु आवैं खोय"। ५—गूंथ कर (सम्बन्ध प्रेम करके)। मन के संगी-सब दुष्ट बन गये। ६—दोष, उलहना। ७—झीनी २ अनन्त आशाओं को तोड़ कर सदा के लिये चलते बनोगे।

भावार्थ—विवेक-दृष्टि से सन्मार्ग को ढूंढ़ निकालना परम कर्त्तव्य है।

(८१)

देव-चरित्र सुनहु रे भाई * जो ब्रह्मा सो धियउ[1] नसाई।
ऊ जे सुनो मँदोदरि तारा * तिनि घर जेठ सदा लगवारा।
सुरपति जाय अहीलहिँ छरी * सुर-गुरु-घरनि चंद्रमै हरी।
कहँहिँ[3] कबिर हरिके गुन गाया * कुंती करन कुँवारहि जाया।

पाठा०—* इस रमैनी के अन्त में एक पुस्तक में यह साखी है:—

'झीझी आसा में लगे, ज्ञानी पंडित दास।
सब्दन चीन्है बावरा, घर घर फिरै खुवार।' (उदास)

टि०—[शील-सुधार और माया की प्रबलता]

१—भ्रष्ट किया । २—बृहस्पति जी की स्त्री को । ३—कबीर साहब कहते हैं कि सन्तों ने हरि को माया को प्रबल समझ कर उससे बचने के लिये हरि के गुणों का गान किया है ।

भावार्थ—माया ने मौका (दाव, अवसर) पाकर बड़े २ लोगों को गिरा दिया है, इसलिए हमको तो बहुत ही सावधान रहना चाहिये ।

(८२)

सुखक[१] बिरछ एक जगत उपाया * समुझि न परलि विषै किछु माया ।
छव-छत्री पत्री[२] जुग चारी * फल दुइ पाप पुन्न अधिकारी ।
स्वाद अनँत किछु बरनि न जाई * कै[३] चरित्र सो ताहि माहीं * ।
नटवट[४]-साज साजिया साजी * जो खेलै सो देखै बाजी ।
मोहा[५] बपुरा जुगुति न देखा * सगति बिरंची सिव नहिं पेखा ।

साखी—परदे[६] परदे चलि गया, समुझि परी नहिं बानि[७] ।
जो जानहिं सो बाँचिहैं, होत सकल की हानी ।

टि०—[माया-नाटक]

१—जिस माया ने इस जगत में सुखदायी मालूम होने वाले विषय रूपी एक बड़े भारी विष-वृक्ष को लगाया है, उस माया को ससारी लोग कुछ भी न समझ सके । २—पत्री = पक्षी । चारों युगों में होने वाले छः चक्रवर्ती राजा लोग उस वृक्ष के निवासी बड़े २ पक्षी हैं । और अधिकारियों

पाठा०* —ताहि समाई ।

को अपने २ कर्मों के अनुसार मिलने वाले पाप और पुण्य रूप दो फल उस वृक्ष में सदैव लगे रहते हैं। ३—बड़े और छोटे सब प्रकार के उक्त पक्षी विषय-वृक्ष पर बैठे हुए नाना प्रकार के लीला-विहार किया करते हैं। ४—यह माया नाट्य-निपुण नट की तरह अनेक दृश्यों की साधक सामग्री को सदैव प्रस्तुत (तैयार) करती रहती है। इसके खेलों में यह विशेषता है कि संसारी लोग इसके खेले हुए खेलों को देख कर प्रसन्न और अप्रसन्न होते हुए भी विवश होकर सदैव देखा ही करते हैं। ५—उस चतुर-ठगनी के मनोहर अभिनय को देख कर बेचारे अज्ञानी लोग अपने आपको भूल गये, इस कारण उसकी चालाकी को न देख सके। प्राकृत—जनों की तो कथा ही क्या है। शिव—शक्ति और ब्रह्मादिक अधिकारी-पुरुष भी माया के बिछाये हुए अधिकार-रूपी जाल को न देख सके, इस कारण अधिकार-बन्धन में पड़ गये। "अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परम्पदम्।" अर्थात् अधिकार समाप्ति के अनन्तर अधिकारी (देवता) परमपद (मुक्तिपद) में प्रवेश करते हैं। " राजठगौरि बिष्णु पर परी, चौदह भुवन केर चौधरी।" (बीजक) ६—भूलही भूल में, ७—अनात्म-पदार्थों में उरझाने वाली वाणी।

भावार्थ—" बाजि झूँठि बाजीगर साँचा संतन की मति ऐसी। कहँहिं कबिर जिन जैसी समुझी तिनकी गति भई तैसी" (बीजक)

(८३)

छत्री[1] करइ छत्रिया धरमा * वाके बढ़इ सवाई करमा।
जिन अवधू[2] गुरु ज्ञान लखाया * ताकर मन तहाँ ले धाया।
छत्री[3] सो जो कुटुम से जूझै * पाँचौं मेटि एक के बूझै।

जीवैं[४] मारि जीव प्रतिपालै * देखत जन्म आपनो हारै।
हालै[५] करै निसाने घाऊ * जूझि परे तहाँ मन-मथ राऊ।

साखी—मन-मथ[६] मरै न जीवई, जीवहिं मरन न होय।
सुन्न-सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय॥

टि०—[क्षत्रिय-कर्तव्य-विचार]

१—क्षत्री लोग यदि पूरी तरह क्षात्र धर्म का पालन करें। २—जिसको गुरु ने जिस मार्गपर चलने का उपदेश दिया, उसका मन उसको उसी रास्ते से ले दौड़ा। ३—जीतने के लिए इन्द्रियों से युद्ध करता है। और अन्त में इन्द्रियों का दमन करके आत्मसाक्षात्कार करता है। ४—और जो क्षत्रिय जीवों को मार कर अपने पेट को पालते हैं, वे देखते हुए अपने जन्म को नष्ट कर देते हैं. ५—तुरन्त। वही सच्चा-क्षत्रिय है जो अपने दुष्ट-मन रूपीलक्ष्य को सदुपदेश रूप बाणों से शीघ्रही भेद देता है। और मन को मथने वाले अरि-षड्वर्ग-रूप अन्तः शत्रु-राजाओं से घोर युद्ध ठान देता है। (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये अरि-षड्वर्ग संज्ञा वाले हैं)। बाहर के शत्रुओं का आक्रमण तो कभी २ होता है, परन्तु इन्हों को तो आक्रमण करने का सुअवसर सदैव मिला करता है। और यह भी बात है कि अन्तः शत्रुओं को जीते बिना बाहर के शत्रुओं को जीतने की क्षमता भी नहीं हो सकती है। ६—शत्रु-बिजय का फल—यदि मन को मथने वाले उक्त कामादिक तथा कल्पनादिक-शत्रु ऐसे मार दिये जायँ कि फिर वे कभी न जी सकें, तो जीवात्मा का मरण न हो सके; (अर्थात् मुक्ति होजाय) परन्तु इस बातको सिद्धियों के भूखे योगी—लोग नहीं मानते। वे लोग तो अनात्मोपासक होने के कारण शून्य गगन-मंडल

में बसने वाले कल्पित-मालिक से प्रेम लगाया करते हैं। अतएव (स्वरूप-विस्मृति के-कारण) राम-रूप-आराम के विहार से वञ्चित होकर भयङ्कर और गहन संसार-कानन में चले जाते हैं।

भावार्थ-"काया गढ़ जीतो रे मेरे भाई, जाकी संत करेला बादशाही"। "जीव न मारो बापुरे, सबके एकै प्रान। हत्या कबहुँ न छूटसी, कोटिन सुनै पुरान।" सुन्नहिं बाँछा सुन्नहि गयऊ। हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ"।

(८४)

जियरा[१]! आपन दुखहिं सँभारू * जे दुख[२] व्यापि रहल संसारू।
माया मोह बँधे सभ लोई * अलपै लाभ मूल गौ खोई।
मोर तोर में सभै बिगुरचा[३] * जननी बोह्र गरभ[४] महँ सूता।
बहुतक[५]-खेल खेले बहु-रूपा * जन-भँवरा अस गये बहुता।
उपतिबिनसिफिरि[६] जोइनि आवै * सुख का लेस न सपनेहुँ पावै।
दुख संताप कष्ट बहु पावै * सो न मिला जो जरत बुझावै।
मोर तोर महँ जर जग सारा * धिग स्वारथ झूठा हंकारा।
झूठी आस रहा जग लागी * इन ते[७] भागि बहुरि पुनि आगी।
जो हित[८] कै राखें सभ लोई * सो सयान बाँचा नहिँ कोई।
साखी[९]—आपु आपु चेते नहीं औ, कहौं तो रुसवा होय।
कहहिँ कबिर जो सपने जागे, निरअस्थि अस्थि न होय *।

इति रमैनी।

पाठा०—आपुन जागे।

टि०—[उद्बोधन (चेतावनी)]

१—ऐ जीव ! तू अपने आपको उस दुःखसे बचाले. । २—अज्ञानतादिक। ३—फँसगये ४-गर्भाशय में । ५—जो लोग (नेता) अपनी अपार-बुद्धि-शक्ति से संसार में बड़ी २ क्रांतियाँ कर दिखलाते थे । ६—शरीर । ७—आशारूप एक अग्नि-कुण्ड से किसी तरह बच जाता है, तो दूसरे में जा गिरता है। ८—जिसको सब लोग भारी हितकारी समझते थे। ९—अज्ञानी-मनुष्य अपने हिताहित का स्वयं विचार नहीं करता है : और मेरे उपदेशों को सुन कर अप्रसन्न हो जाता है । कबीर साहब कहते हैं कि यह जीवात्मा यदि अज्ञानता रूप निद्रा के स्वप्नों से स्वयं जागजाय तो निरस्ति (मिथ्या संसार) अस्ति सत्य प्रतीत न हो। भाव यह है कि जिस प्रकार सोये हुए मनुष्य को निद्राकाल में सपना सच्चा मालूम पड़ता है परन्तु जगने पर वह मिथ्या हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानता रूप निद्रा में पड़े हुए लोगों को संसार सत्य मालूम पड़ता है परन्तु ज्ञानियों को नहीं। "या निशा सर्व भूतानां तस्याँ जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" [गीता] यह भी हरिपद छन्द है।

सूचना—इन रमैनियों का चौपाई छन्द है। लक्षण—"सोरह क्रमन 'जत' न चौपाई"। प्रत्येक चरण में १६ मात्राहों और अन्त में जगण अथवा तगण न पड़े। अर्थात् एक लघु अन्त में न हो एक से अधिक लघु हों। रमैनी के अन्त में साखियाँ दीगयी हैं उन्हों का दोहा या हरिपदादिक छन्द हैं। दोहा के विषम चरणों में १३ और सममें ११ मात्रा होती हैं। यथा—"जान विषम तेरा कला, समशिव दोहा मूल" दोहा के पहले तीसरे चरणों के आदि में जगण न हो और अन्त में लघु होना चाहिये।

इति

शब्द

(१)

संतो[1] ! भक्ती सतगुरु आनी ।

नारी[2] एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी ।
पाहँन[3] फोरि गंग एक निकरी, चहुँ दिसि पानी पानी ।
तिहि-पानी[4] दुइ परबत बूड़े, दरिया लहर समानी ।
उड़ि[5] मांखी तरिवर ते लागी, बोलै एकै बानी ।
वहि माँखी के माँखा नाहीं, गरभ रहा बिनु पानी ।
नारी[6] सकल-पुरुष वहि खायो, ताते रहउ अकेला ।
कहँहिँ कबिर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला ।

टीका

यदीयसुखलेशेन, सुखिनः सर्वजन्तवः ।
तं कबीरमहं वन्दे परमानन्दविग्रहम् ॥
वन्दयित्वा सतः सर्वान्, करुणावरुणालयान् ।
जगन्नाथपदारूढो विशामि शब्दसागरम् ॥

१ कबीर साहब कहते हैं कि हे जिज्ञासुओ ! आप लोग आत्मज्ञानी सद्गुरु की भक्ति (अनुराग) हृदय में लाइये, जिससे कि माया के जाल से बचसकें।

---

*छन्द "सार" । १६ वें शब्द तक यही छन्द है ।

२–अब माया की प्रबलता बताते हैं–एक नारी [माया] ने दो पुरुषों को [जीव तथा ईश्वर को] प्रकट किया है. इस बात को हे ज्ञानियो ! और हे पण्डितो ! आप लोग समझिये। श्रुति ने भी स्पष्ट ही कहा है कि" जीवेशा वाभासेन करोति मायाचाविद्याचेति"। तथा "माया-ख्याया कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ "। अर्थात् मायारूप कामधेनु के जीव और ईश्वर दो बछड़े हैं। ३–इस माया का आविर्भाव तथा तिरोभाव चेतन में ही होता है, जिस प्रकार गंगाजी हिमालय से प्रकट हुई थीं, इसी तरह पाहन तुल्य सैन्धवघन चेतन से शुद्ध सत्व प्रधान माया रूप गंगा का आविर्भाव हुआ है। जिसका कि यह पानी (प्रपञ्च) चारों ओर फैल रहा है। (यह कथन माया के सादि पक्ष से है अतः विरोध नहीं)। ४–अनन्तर माया रूप गंगा में सबों से बड़े दो पर्वत (जीव और ईश्वर) डूब गये। अर्थात् माया ने दोनों को उपहित बना लिया। इस प्रकार यह भयंकर नदी सारे संसार को आप्लावित करती हुई समस्त विश्व को एक कोने में रख लेने वाले चेतन समुद्र में जा कर एक तुच्छलहर की तरह समा जाती है। भाव यह है कि यह विश्व–विमोहिनी माया ज्ञानियों के आगे मन्त्र मुग्ध होकर किं कर्तव्य विमूढा हो जाती है। ५–अब साधन सम्पत्ति रहित वाचक ब्रह्मज्ञानियों [अर्थात् वन्ध्यज्ञानियों] की दशा को बताते हैं। ज्ञाना-भिमानियों की वृत्ति रूप मक्खी उड़ कर संसार रूप वृक्ष पर बैठी हुई है। अर्थात् मिथ्या ज्ञानी पूरी तरह प्रपञ्च पङ्क में फँसे हुए हैं। और वह एकही वाणी अहम् ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) बोलती है। वस्तुतः उस वृत्ति रूप मक्खी का माँखे रूप ब्रह्म के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ है। (अर्थात् इन प्रपंच परायण वञ्चक ज्ञानियों की वृत्ति ब्रह्माकार नहीं हुई है, यदि हुई होती तो प्रपंच को वान्त अन्न की तरह दूर ही से त्याग देते। क्योंकि—

'जो विभूति साधुन तजी, तिहि विभूति लपटाय ।
ज्यों श्वान वमनहिं करै, उलटि अशन पुनि खाय ॥'

तिस पर भी देखिये यह कैसा आश्चर्य है कि इनकी वृत्ति रूप मक्खी को बिना ही पानी के मिथ्या गर्भ रह गया है। भाव यह है कि सत्वशुद्धि के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है। उक्त ज्ञानाभिमानी भ्रम वश अपने को ब्रह्मज्ञानी मानते हुए मिथ्या अहंकार-समुद्र में डूबे रहते हैं, परन्तु आत्म साक्षात्कार के बिना केवल अहं ब्रह्मास्मि कहने से कदापि मुक्ति नहीं मिल सकती है। इस प्रसंग में यह कैसा अच्छा बचन है कि "न गच्छति विन पानं, व्याधि रौषधशब्दतः। विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते।"

६-अब माया से छूटने का उपाय बताते हैं-माया रूप नारी ने अपने सब स्वामियों को खा डाला, 'कारे मूंड को एकहुँ न छाँड़ी अजहूँ आदि कुमारी।' इस लिए जो माया-नारी से बचना चाहै उसको उचित है कि वह अकेला (असंग) रहै क्योंकि संगही बन्धन का कारण है। कबीर साहब कहते हैं कि जो अबकी [नर तन पाकर] आत्म परिचय करते हैं वे गुरु हैं [श्रेष्ठ हैं] और हमतो ज्ञानी महात्माओं के दासही हैं। 'हम चेला' यह कथन नम्रता का परिचायक है।

भावार्थ-"माया के बस जग परा, कनक कामिनी लागि। कहँहिं कबिर कस बाँचि है, रुई लपेटी आगि"।

सूचना-यह 'सार' छन्द है। १६ और १२ मात्राओं के विश्राम से इस में २८ मात्राएं होती हैं। तथा अन्त में 'कर्णा' दो गुरु होते हैं। लक्षण-'सोरह रविकल अन्तै कर्णा सारछन्द रच नीको' [छन्दः प्रभाकर]

इसी को नरेन्द्र, ललित पद, और 'दावै' भी कहते हैं। इसी लय में प्रभाती गायी जाती है। जैसे कि–'प्रात समय रघुबीर जगावैं कौशल्या महतारी। नोटः—"शब्द" यह संज्ञा उन पद्यों की है जो कि बहुधा गाने में आया करते हैं। इन्हीं को 'भजन' पद, और हरिय (ज) श भी कहा करते हैं। सन्त-मत में 'सब्द' पद पारिभाषिक है।

(२)

संतो[1] जागत नींद न कीजै।
काल न खाय कलप नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै॥
उलटी-गंग[2] समुद्रहिं सोखैं, ससि औ सूरहिं ग्रासै।
नव-ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल महँ बिंब प्रगासै॥
बिनु[3] चरनन को दहुँ दिसि धावै बिनु लोचन जग सूझै।
ससै उलटि सिंघ कहँ ग्रासै, ई अचरज को बूझै॥
औंधे-घड़ा[4] नहीं जल बूडे, सूधे सों जल भरिया।
जिहि कारन नल भींन भींन करु, गुरु-परसादे तरिया॥
पैठि[5] गुफामहँ सभ जग देखै, बाहर किछुउ न सूझै।
उलिटा बान पारथि हिं लागै, सूर होय सो बूझै॥
गायन[6] कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।
नट-वट बाजा पेखनि पेखै अनहद हेत बढ़ावै॥
कथनी-बदनी[7] निजुकै जोहै, ई सभ अकथ कहानी।
धरती उलटि अकाशहिं बेधै, ई पुरुषन की बानी॥

बिना पियाले अमृत अँचवै, नदिय नीर भरि राखै।
कहँहिं कबिर सो जुग जुग जीयै, राम-सुधारस चाखै॥

* टीका *

१–कबीर साहब कहते हैं कि हे जिज्ञासुओ! आप लोग नाना कल्पना रूप निद्रा के वश में क्यों पड़ गये। जो कल्पना समुद्र में नहीं पड़ते हैं, वे काल के चक्र में नहीं आसकते, अतः प्रलय काल में भी अविक्रिय (जैसे के तैसे) ही रह जाते हैं। और उसका देह (स्वरूप) कभी जरावस्था से आक्रान्त नहीं होता। भाव यह है कि तत्वज्ञानी सर्व द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं।

२—कल्पना समुद्र में पड़े हुए योगियों के मतों का दिग्दर्शन कराते हैं—

हठ योगी कहते हैं कि प्राणायाम द्वारा ब्रह्माण्ड में चढ़ाई हुई श्वासा रूप गंगा नाना शोक सन्ताप रूप समुद्र को सुखा देती है। भाव यह है कि समाधि काल में बाह्य प्रपंच नहीं भासता है, और वही उलटी गंगा चन्द्र [ईडा] ताथ सूर्य [पिंगला] को भी ग्रस लेती है। भाव यह है कि योगी जन सुषुम्णा काल में ध्यान लगाते हैं, अतः सुषुम्णा नाड़ी के चलने से उक्त सूर्य और चन्द्र का लय हो जाता है, इस अभिप्राय से (गरासे) कहा है। पश्चात् नवों द्वारों को बन्द करके रोगिया (योगी) निश्चल होजाते हैं, इस प्रकार स्थिर चित होने से जल में (ब्रह्माण्ड में) बिम्ब का प्रकाश होता है, अर्थात् ब्रह्म=ज्योति का दर्शन होता है, वस्तुतः यह ज्योति तत्वों ही का प्रकाश है। यहाँ पर यह रहस्य है कि प्राणवायु प्रकाश

शील है, अतः ब्रह्माण्ड में प्राणों के आयामसे वह केन्द्रित होकर ज्योति रूप से भासने लगती हैं, योगी लोग उक्त ज्योति को आत्मरूप समझ कर उसकी ब्रह्म ज्योति रूप से उपासना करते हैं; ये सब मनकी कल्पनाएं हैं।

३—सद्‌गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! इन योगियों का मन रूपी पत्ता वासना—प्रभञ्जन में पड़कर बिना ही चरणों के दशों दिशाओं में दौड़ता रहता है, और बड़ा अचरज तो यह है कि इन योगियों को बिना ही लोचन (विवेक) के अर्थात् कल्पना मात्र से यह सब जग (प्रपंच) दीख रहा है। और-ज़रा यह तो देखिये! कि शसा (मन) ही झपट कर सिंह [जीवात्मा] को दबोच रहा है, इस महा अचरज को विवेकी ही समझेंगे। भाव यह है कि योगियों को स्वप्नवत् कल्पित नाना कौतुक ब्रह्माण्ड में भासा करते हैं, अतः उक्त शैवाल जाल में फँसकर वे संसार सागर ही में पड़े रहते हैं॥

४—संसार समुद्र को तैरने का उपाय बताते हैं—जिस प्रकार औंधा घड़ा जल में नहीं बूड़ सकता है किन्तु सीधा होने से ही उसमें जल भरा जा सकता है, इसी प्रकार बहिरंग वृत्ति में चित्प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है किन्तु अन्तरङ्ग वृत्ति में ही पड़ सकता है, अतः मुमुक्षुओं को उचित है कि वे उक्त अनात्म प्रपंचों को छोड़ कर तथा आत्म निष्ठ महात्मा की शरण में जाकर मुक्ति के साधन आत्मज्ञान को प्राप्त करले, जिससे कि अनायास ही भव सागर से पार हो जायँ। श्रुति ने भी आज्ञा दी है कि "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।" अर्थात् आत्म-ज्ञान के लिये सद्‌गुरु ही की शरण में जाना चाहिये। ५—अब हठ योगी फिर कहते हैं कि गगन गुफा में पैठने (प्रवेश करने) से विश्व दर्शन हो जाते हैं। अर्थात् प्राण निरोध से ब्रह्माण्ड में सब लीलाएँ दीखती हैं, और बाहर तो चर्म चक्षुओं से उसकी अपेक्षा

कुछ भी नहीं सूझता। और उलटा हुआ वाण (श्वासा) पारथी=वीर (मन) को बेध देता है। इस बात को शूर=वीर (योगी) ही जान सकते हैं। भाव यह है कि मन और पवन (प्राण) का अत्यन्त ही सम्बन्ध है, यहाँ तक कि दोनों की गति परस्पर सापेक्ष है. यह वार्ता योग के ग्रन्थों में स्पष्ट है कि,

" चले वाते चलंचित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति, ततो वायुं निरोधयेत्" ॥

हठयोगप्रदीपिका। उपदेश २।

इस कारण व्युत्थान काल में पारथी (मन) बड़ी तेजी से श्वासारूप बाणों को चलाता रहता है, परन्तु जब ब्रह्माण्ड में प्राणों का निरोध कर दिया जाता है, तब वे ही बाण उलट कर इस मन-पारथी को वेध देते हैं। अर्थात् मन का बाह्य प्रपंच मिट जाता है, अतः यह मूर्च्छित सर्प की तरह समाधि काल में पड़ा रहता है। ६—अनन्तर योगियों को यह भी उचित है कि वे बैखरी वाणी का संयम करें, अर्थात् ज्ञान-मूक हो जायँ। तथाअन बोला (अनाहत शब्द) का सदैव अभ्यास करते रहें, और पेखनी (बाह्य-दृश्यों) को नटके बाजे की तरह समझ कर अनहद [अनाहत] शब्द से हेत (प्रेम) बढ़ावें। भाव यह है कि बैखरी के संयम से दिव्य अनाहत शब्द सुनने में आता है, यह योग-शास्त्र में प्रसिद्ध है। ७—योगियों को यह भी आवश्यक है कि पूर्ण विवेक और संयम से सारे कार्यों को सिद्ध करें क्योंकि ये सब बातें बड़ी कठिन हैं। अनन्तर दृढ़ अभ्यास के होने पर धरती [पिण्डाण्ड] को उलट कर आकाश (ब्रह्माण्ड) में ले जावें अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता करें यह योगी पुरुषों का

कथन है ॥ अब कबीर साहब कहते हैं कि " ऐ मरजीवा अमृतपीवा का धसि मरसि पताल. गुरु की दया साधु की संगति निकरि आव येहि द्वार ।" अर्थात् हठयोगी कल्पित प्रपंचों में पड़कर घोरातिघोर कष्ट उठाते हुये अन्त में भवसागर में डूब जाते हैं क्योंकि बिना आत्म साक्षात्कार के सिद्धियों के भूखे योगियों की मुक्ति कदापि नहीं हो सकती है मुक्तिपद को तो ऐसे ही जन प्राप्त कर सकते हैं कि ' जो नदिय नीर (आत्माकार वृत्ति) को भरि राखै, अर्थात् स्थिर रखते हैं अत एव बिनापियाले' अर्थात् स्वतः, अमृत (निजानन्दामृत) को 'अचवैं' पीते हैं ठीक ही है निर्मल तथा शीतलजलवाली बहती हुई नदी के मिलने पर डोरी लोटे और गिलास की आवश्यकता नहीं रहती है। इसो प्रसङ्ग में कबीर साहब ने कैसा अच्छा वचन कहा है कि 'जाको सद्गुरु ना मिला, व्याकुल दहुँ दिसि धाय । आँखिन सूझै बावरा घर जरे घूर बुताय ' कबीर साहब कहते हैं कि जो रामसुधारस (आत्मानन्दामृत) का पान कर लेते हैं, वे युग २ अर्थात् सदैव अमर रहते हैं । थोड़े काल के लिये तो इन्द्रादिक देवता भी अमर बन जाते हैं इस लिये युग युग कहा है ।

यहाँ पर यह बात जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि 'हृदया बसे तेहि राम न जाना, कोइ राम रसिक रस पीयहुगे पीयहुगे जुग जीयहुगे। राम न रमसि कवन डँड लागा" । इत्यादि अनेक स्थलों पर जहाँ २ राम शब्द कहा है, उसका अर्थ दशरथापत्य सादि राम नहीं है, किन्तु आत्मारामों का आश्रय भूत शुद्ध चेतन [निजपद] अनादि राम ही है। यह बात "दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना । राम नाम का मरम है आना, तथा, गये राम और गये लछमना " । इत्यादि वचनों के आकलन से स्पष्ट ही विदित हो जाती है । इसी प्रकार हरि, गोपाल, आदिक शब्दों का अर्थ

जानना चाहिये । इस विषय में यह शंका हो सकती है कि कबीर साहब ने " राम नाम का सेवहु बीरा " । तथा "रामनाम भजु रामनाम भजु" इत्यादि वचनों से रामनाम को भजने का उपदेश क्यों दिया, क्योंकि नाम और रूप तो मिथ्याही है । इसका यह उत्तर है कि नाम और नामी की अभेद विवक्षा से उक्तस्थलों में नाम से नामी ही कहा गया है । केवल नाम का भजन विवक्षित नहीं, क्योंकि ज्ञान के बिना केवल रामनाम के रटने से मुक्ति नहीं मिल सकती है. यह बात "पंडित बाद बदे सो झूठा, रामके कहे जगत गति पावै खाँड कहै मुख मीठा" । इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है ॥

(२)

संतो[1] घर महँ झगरा भारो ।
राति[2] दिवस मिलि उठि उठि लागै, पाँच ढोटा एक नारी ॥
न्यारो[3] न्यारो भोजन चाहैं, पाँचौं अधिक सवादी ।
कोइ काहुका हटा न मानै, आपुहि आपु मुरादी ॥
दुरमति[4] केरि दुहागिनि मेटै, ढोटहिं चापि चपेरै ।
कहँहिं कबिर सोई जन मेरा, घर की रारि निबेरै ॥

टीका

[घर का झगड़ा]

१—कबीर साहिब कहते हैं कि हे सज्जनो ! इस शरीर में बड़ा भारी झगड़ा मचा हुआ है ।

२—पाँच ढोटा (पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूपी-बालक) और कुमति रूपी-नारी इस जीव को रात दिन बेचैन किये रहते हैं ।

३–पाँचों इन्द्रियाँ और कुमति ये सब नाना प्रकार के अलग २ भोजन (भोग) चाहती हैं, सब इन्द्रियाँ बड़ी स्वाद की जानने वाली हैं। कोई इन्द्री किसी के रोके नहीं रुक सकती है, सब अपने अपने स्वार्थ में लगी हुई हैं।

४–अब झगड़ा मिटाने का उपाय बताते हैं कि दुर्मति रूपी कलह करने वाली स्त्री को दुहागिन करके मेट दे, अर्थात् चित्त से उत्तार दे। और छोटे जो पाँच इन्द्रिय रूप बालक हैं उनको चाँप चपेरे अर्थात् इन्द्रियों का दमन करें। कबीर साहब कहते हैं कि वही जन मुझको प्रिय है जो इस घर की रारि (झगड़े) को मिटाता है।

भावार्थ—कुमति को छोड़े बिना और इन्द्रियों का दमन किये बिना जीव सुखी नहीं हो सकता है।

पाँचज्ञानेन्द्रियें—आँख, कान, नाक, त्वचा, और रसना।

और उनका भोजन—रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और रस।

इस पद्य में प्रस्तुत इन्द्रियादिकों के असंयत-व्यवहार (झगड़े) से अप्रस्तुत कौटुम्बिक-कलह की प्रतीति होती है इस कारण समासोक्ति अलङ्कार है। लक्षण—'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत्"। "समासोक्ति प्रस्तुत फुरैऽप्रस्तुत बर्नन माँझ। [भाषाभूषण]।

(४)

संतो[1] देखत जग बौराना।

साँच कहौं तो मारन धावैं[2], झूठहिं जग पतियाना[3]॥

नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करहिं असनाना।

आतम[3] मारि पषानहिं[4] पूजैं, उनिमहँ किछुउन ज्ञाना॥

बहुतक[5] देखा पीर अवलिया,[6] पढ़ैं कितेब कुराना।
कै मुरीद[7] ततबीर[8] बतावैं, उनिमहँ उहै जो ज्ञाना॥
आसन मारि डिंभ[9] धरि बैठे, मनमहँ बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गरब भुलाना॥
माला पहिरैं[10] टोपी पहिरैं, छाप तिलक अनुमाना[11]।
साखी-सब्दै गावत भूले, आतम खबरि न जाना॥
हिंदु कहैं मोहि राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना[12]।
आपुस महँ दोउ लरि लरि मूये, मरम[13] काहु नहिं जाना॥
घर घर मंतर देत फिरतु हैं, महिमा के अभिमाना॥
गुरूसहित सीष सभ बूड़े, अंत-काल पछिताना।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ भरम भुलाना॥
केतिक कहौं कहा नहिं मानैं, सहजै[14] सहज समाना॥

टि०—[यह भ्रम भूत सकल जग खाया]

१—पागल हो गया। २—मारने दौड़ते हैं। ३—विश्वास करते हैं। (३) जीव, बकरे भैंसे आदिक। ४—पत्थर। ५—बहुत से। ६—दिगम्बर-मुसलमान फ़क़ीर। ७—चेला। ८—उपाय। ९—ढोंग बनाकर बैठे रहते हैं। १०—पहिनते हैं। ११—अपने २ सम्प्रदाय के अनुसार तिलक, छाप करते हैं। १२—खुदा। १३—असली भेद, राम रहीम की एकता को किसीने नहीं जाना। " भाइरे दुइ जगदीस कहाँ ते आया, कहु कवने बौराया" (बीजक) १४—धीरे धीरे सब चौरासी में चले गये।

भावार्थ—अज्ञानता के कारण विपरीत-बुद्धिवाले, चेतनात्मा का तिरस्कार करते हैं और जड़पदार्थों का सत्कार करते हैं।

(५)

संतो अचरज एक भौ[1] भारी, कहौं तो को पतियाई[2] ॥
एकै पुरुष[3] एक है नारी[4] ताकर करहु बिचारा।
एकै अंड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा ॥
एकहि नारी[5] जाल पसारा, जग महँ भया अंदेसा।
खोजत खोजत अंत न पाया, ब्रह्मा बिस्नु महेसा ॥
नागफांस[6] लीये घट भीतर, मूसिन्हि[7] सभ जग झारी[8]।
ज्ञान खरग[9] बिनु सभ[10] जग जूझै, पकरि काहु नहिं पाई ॥
आपुहि[11] मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई।
कहँहिं कबीर तेइ जन उबरे, जिहि गुरु लिया जगाई[12] ॥

टि०—[माया की प्रबलता का वर्णन]

१–हुआ। २–विश्वास करेगा। ३–चेतन-पुरुष। ४–प्रकृति, माया। ५–माया। अँदेसा = भय। ६–त्रिगुण फांसी। ७–सद्गुणरूप धन चुरा लिया। ८–पुरी तरह। ९–तलवार। १०–सब। ११–वही माया। १२–जिसको गुरु ने आत्म-बोध दे दिया है।

भावार्थ—आत्मज्ञान के बिना माया के फन्दे से कदापि नहीं छूट सकते हैं।

(६)

संतो[1] अचरज एक भौ भारी, पुत्र धइल महँतारी ॥
पिता[2] के सँगे भई है बावरी, कन्या रहलि कुमारी ।
खसमहिं छाड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु विचारी ॥
भाई[3]के सँगे सासुर गवनी, सासुहिं सावत दीन्हा ।
नँनद भउजि परिपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा ॥
समधी[4] के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी ।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, पुरुष जन्म भौ नारी ॥

टीका

(माया का लीला विहार)

१—कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! आप सुनिये, एक बड़ा भारी अचरज़ हुआ है कि महतारी (माया) ने पुत्र (जीव आत्मा) के साथ सम्बन्ध कर लिया है ।

२—इतना ही नहीं वह कुँवारी कन्या माया ऐसी पागल हो गयी है कि उसने अपने पिता (ईश्वर) के साथ भी सम्बन्ध (स्त्रीपुरुष का सम्बन्ध) कर लिया है । इसके बाद ख़सम (ईश्वर) को छोड़ कर उस माया ने ससुर (अज्ञान) के पीछे २ चलना आरम्भ किया है, इस बात को आप लोग क्यों नहीं विचारते हैं ।

३—इसके बाद वह माया अपने भाई (अविवेक) के साथ ससुराल (संसार में) चली आयी और यहाँ आकर सासु (वञ्चक लोगों की वाणी)

को अपनी सौत बना लिया है। यह सब प्रपंच ननँद (कुमति) और भउजि (अविद्या) ने रचा है इसमें जीव को मिथ्या ही कलंक दिया जाता है।

४—माया समधी (सन्तों) के पास नहीं आती है क्योंकि वह स्वभाव से ही प्रपंच से सम्बन्ध रखती है। कबीर साहब कहते हैं कि पुरुष (जीव) से नारी (इच्छा) का जन्म हुआ है।

भावार्थ—यह जीव आत्मा अज्ञान वश अपनी कामना से आपही बन्धन में पड़ गया है।

(७)

संतो कहौं तो को पतियाई, झूठ[1] कहत साँच बनि आई।
लौके[2] रतन[3] अबेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई[6]॥
त्रिमिकि[7] त्रिमिकि चिमिकैद्रिग[8] दहुँ दिसि, अरब रहा छिरियाई[9]॥
आपे गुरू क्रिपा किछुकीन्हो, निरगुन अलख लखाई।
सहज-समाधी उनमुनि[10] जागे, सहज मिलैं रघुराई॥
जहँ जहँ देखौ तहँ तहँ सोई, मनमानिक[11] बेधो हीरा।
परम-तत्त यह गुरुते पावो, कहैं उपदेश कबीरा[12]॥

टि०—[चेतन की सत्ता व्यापकता, तथा प्रकाशता का वर्णन]

१—यह बात कहने से झूठी और अनुभव से सत्य मालूम होती है। २—चमकता है। ३—आत्म-रत्न। ४—बिना छेदा हुआ, अखंड। ५—अमूल्य। ६—मालिक। ७—वार २ चमकता। ८—उसका तेज। ९—फैला हुआ है। १०—एक मुद्रा। ११—जिनका मनरूपी मोती आत्म-तत्व-रूप हीरे से बिंध गया है। १२—उपासक जन।

भावार्थ - शुद्धहृदय होने से आत्मसाक्षात्कार होता है ।

(८)

संतो आवै जाय सो माया ।

है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया ॥

क्या मकसूद[1] मच्छ कच्छ होना, संखासुर न सँघारा[2] ।

है दयाल द्रोह नहिं वाके, कहहु कवन को मारा ॥

वै करता नहिं बाराह कहाया, धरनि धरो नहिँ धारा[3] ।

ई सभ काज साहब के नाहीं, झूठ कहै संसारा ॥

खंभ फोरि जो बाहर होई, नाहि पतिजे[4] सभ कोई ।

हिरनाकस नख वोद्र बिदारी, सो नहिं करता होई ॥

बावन रूप न बलि को जांचो, जो जाँचै सो माया ।

बिना विवेक सकल जग भरमे, माये जग भरमाया ॥

परसराम छत्री नहिं मारा, ई छल माये कीन्हा ।

सतगुर भेद भक्ति नहिं पावो, जीव अमिथ्या कीन्हा * ॥

सिरजनिहार न ब्याही सीता, जल पषान नहिं बंधा ।

(ये) वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा ॥

पाठा०—* प्राचीन लिखित पुस्तकों में ऐसा ही पाठ है । अर्थ-ऐ मनुष्यो ! उक्त माया लीलाओं को "अमिथ्या कीन्हा" सत्य समझने से "सतगुरु भेद भक्ति नहीं पावो" । और ऐसा भी पाठ है "भक्ति नहि पाया, जीव हि मिथ्या कीन्हा" ।

गोपी ग्वाल न गोकुल आया, करते कंस न मारा।
(है) मेहरबान सभन्हि को साहब, नहिं जीता नहिं हारा॥
वै करता नहिं बौध कहाया, नहीं असुर को मारा।
ज्ञान हीन करता सभ भरमे, माये जग भरमाया॥
वै करता नहिं भये निकलंकी, नहीं कलिंगहिं मारा।
ई छल बल सभ मायै कीन्हा, जत्त[५] सत्त सभ टारा॥
दस अवतार ईसरी माया, करता कै जिन पूजा।
कहँहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, उपजै[६] खपै सो दूजा॥

टि०—[मायिक अवतारों का वर्णन]

१—मक़सद, प्रयोजन। २—मारा। ३—धराया। ४—विश्वास करते हैं। ५—यती और सतियों को भटकाया। ६—जो उत्पन्न और लीन होते हैं वे निर्विकार नहीं।

भावार्थ—शुद्ध चेतन माया से परे है।

(९)

संतो[१] बोलेते जग मारै।
अनबोलेते कैसक* बनिहै, सब्दहिं कोइ न विचारै॥
पहिले[२] जन्म पूतको भयऊ, बाप जनमिया पाछे।

पाठा, * क० पु० माया।

बाप पूत की एकै नारी, * ई अचरज को काछे ? ॥
३
दुंदुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी।
स्वान बापुरा धरनि ढांकनो, बिल्ली घर में दासी ॥
४
कागदकार कारकुड आगे,+ बैल करै पटवारी।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो सन्तो, भैंसे न्याव निवेरी ॥

* टीका *

१ – हे सन्तो ! मैं सत्य उपदेश करता हूँ तो अज्ञानी लोग मेरे साथ झगड़ा करते हैं, अतः बिना कहे कैसे बोध होगा कहने पर भी तो मेरे वचनों को कोई नहीं विचारता है। २–बात यह है कि पहले पुत्र (जीव) का जन्म हुआ और-पीछे पिता (ईश्वर) का जन्म हुआ। अर्थात् जीवही अपने अनुमान प्रमाणादिकों से ईश्वर की सिद्धि करता है। बाप पिता (ईश्वर) और पूत (जीव) की एक ही नारी है, इस अचरज को कौन काछे ? (हटावेगा) अर्थात् माया ने जीव और ईश्वर को अपने अधीन कर लिया है। ३–और देखिये अज्ञानी मनुष्य दुन्दुर (चूहे) के समान है। वह अपनी अज्ञानता से अपने को राजा माने हुए बैठा है। और विष हर = सर्प (मन) उसकी सेवा में रहता है। सर्प सेवक की सेवा से चूहे स्वामी की भलाई कैसे हो सकती है ? यह भी एक अचरज ही है कि

\+ यह पाठ श्री रीवांनरेश के बीजक ग्रन्थ–तथा अन्य लिखित बीजकों के अनुसार है।

श्वान रूप संकल्प पति बना हुआ है, और बिल्ली रूप मन की वृत्ति उसके घर की स्त्री बनी हुई है। ४-कागज कार जो कारकुन (अविचारी) है उनके आगे बैल रूपी अविवेकी पटवारीगरी करते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! भैंसा रूप पञ्चकगुरु संसार में उपदेशक बने हुए हैं।

भावार्थ—अज्ञान वश जीव अहित को हित समझ लेता है, अतः सत्य उपदेश के बिना सत्य मार्ग कदापि नहीं मिल सकता है।

(१०)

संतो[१] राह दुनो हम डीठा[२]।

हिंदू तुरुक हटा[३] नहिं मानैं, स्वाद[४] सभन्हि को मीठा॥

हिंदू बरत एकादसि साधैं, दूध सिंघारा सेती[५]।

अनको त्यागैं मनको न हटकैं[६], पारन करैं सगोती[७]।

तुरुक रोजा नीमाज[८] गुजारैं, बिसमिल[९] बांग पुकारैं॥

इनकी भिस्त[१०] कहांते होइ है, सांझै मुरगी मारैं।

हिंदु कि दया मेहर[११] तुरुकन की, दोनौं घटसों त्यागी॥

वै हलाल वै झटकै मारैं, आगि दुनौ घर लागी।

हिंदु तुरुक को एक राह है, सतगुरु इहै बताई॥

कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ[१२] * खुदाई।

पाठा०—* कहँहु, कहूँ, ऐसा भी पाठ है।

टि०—[हिन्दू और मुसलमानों के मतों की आलोचना]

१—रास्ता, मत। २ देखा है। ३—मना करने से। ४—सबों को। ५—साथ। ६—नहीं रोकते। ७—सब कुटुम्बी मिलकर व्रत के अन्त में भोजन करते हैं। वस्तुतः दश इन्द्रियां और ग्यारहवें मन को रोकना सच्ची एकादशी है। ८ नमाज़ पढ़ते हैं। ९—और विस्मिल्लाह की बाँग देते हैं। १०—बिहिश्त, स्वर्ग। ११—दया। १२—जीव बध करना न राम ने कहा है और न खुदा ने। यदि अत्याचारों को छोड़ दे तो हिन्दू और तुरुक एक ही मार्ग पर आजायँ।

भावार्थ—'मति भुलान दोइ दीन बखाना (बीजक)

(११)

संतो पांड़[1] निपुन कसाई।

बकरा मारि भैंसा पर धावैं[2], दिलमहँ दरद न आई॥
करि असनान तिलक दै बैठे, बिधिते देवि पुजाई।
आतमराम पलकमों बिनसैं[3], रुधिर कि नदी बहाई[4]॥
अति पुनीत[4] ऊंचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई[5]।
इनते दीच्छा[6] सभ कोइ मांगै, हँसि आवत मोहि भाई॥
पाप कटन को कथा सुनावहिं, करम करावहिं नीचै[7]।
हम तो दोउ परस्पर देखा, जम लाये हैं धोखै*॥

पाठा०—* ख० पु०—'बूड़त दोउ परस्पर देखा गहे हाथ यम घींचा"

गाय बधै तेहि तूरुक कहिये, इनिते वै का छोटे।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, कलिमहँ ब्राह्मन खोटे॥

टि०—पुरोहितों की समालोचना।

१—पूरे। २—दौड़ते हैं। ३—मारते हैं। ३—रुधिर = खून। ४—पवित्र ५—बड़ाई। ६—गुरु-मन्त्र। ७—नीच-कर्म, जीवहिंसादिक।

(१२)

संतो[1] मते मातु जन-रंगी।

पियत[2] पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सतसंगी॥
अरधे[3] उरधे भाठी रोपिन्हि, ले कसाव रस गारी।
मूँदे[4] मदन काटि कर्म[8] कसमल, संतत[5] चुवत अगारी॥
गोरख दत्त[6] बसिष्ठ ब्यास कवि[7], नारद सुख मुनि जोरी।
सभा बैठि संभू सनकादिक, तहँ फिरे अधर-कटोरी[8]॥
अबुरीषि औ याग[9] जनक जड़[10], सेस सहसमुख पाना।
कहँ लौं गनौं अनंत कोटिलौं, अमहल[11] महल दिवाना॥
ध्रुव प्रह्लाद बिभीषन माते, माती सिवकी नारी।
सगुन-ब्रह्म माते ब्रिंदाबन, अजहूँ लागु खुमारी[12]॥
सुर नर मुनि जति पीर अउलिया, जिन्हिरे पिया तिन्हि जाना।
कहँहिं कबीर गूंगे की सक्कर, क्यों कर करै बखाना॥

टि०—[प्रेम-प्रपा और आत्म तुष्टि]

१—अनुरागी-जन मत के माते हैं। २–प्रेम-रूपी अमृत-रस को पीते ही सत्सङ्गी मतवाले बन जाते हैं। ३–पिंड और ब्रह्मांड की भट्ठी बनायी गयी है। और उसके द्वारा रस गारने का आयोजन किया गया है। ४–काम का नियन्त्रण (पुट-पाक) कर पाप कर्मों को काट रहे हैं। ५–उक्त बिधि विधान से प्रेम-रस बराबर चूता रहता है। ६–दत्तात्रेय। ७–हनुमान्। ८–अधर प्याला। ९–याज्ञवल्क्य। १०–जड़ भरत। ११–सविशेष को निर्विशेष समझ कर मस्त हो गये। १२–मद की मस्ती।

(१३)

राम तेरि माया दुंद[1] * बजावै।
गति मति वाकी समुझि परै नहिं, सुर नर मुनिहिं नचावै॥
का सेमर[2] के साखा बढ़ये, फूल अनूपम मानी।
केतिक चात्रिक[3] लागि रहे हैं, देखत + रुवा उड़ानी॥
काह खजूर[4] बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै।
ग्रीषम[5] रितु जब आय तुलानी, छाया काम न आवै॥
अपने[6] चतुर अवर को सिखवै, कनक कामिनि सयानी।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, रामचरन[7] रति मानी॥

टि०—[माया की प्रबलता और उससे छूटने का उपाय]

१–हर्षशोकादिक रूप बाजे को बजाती है। २–सांसारिक ऐश्वर्य।

पाठा०—* छपी हुई पुस्तकों में "मचावै" ऐसा पाठ है। + चाखत

३–पक्षी। (मिथ्याआशा) ५–वृद्धावस्था। ६–अपनी चतुरता औरों को सिखलाती है। ८–गुरुपद पर आरूढ़ होइये।

(१४)

रामुरा (य) संसै गांठि न छूटै, ताते पकरि पकरि जम लूटै ॥
हो मिसकीन[1] कुलीन कहावै, तुम जोगी संन्यासी।
ज्ञानी गुनी सूर कवि दाता, ई मति[2] किनहुं नासी ॥
सुम्रिति वेद पुरान पढ़ैं सभ, अनभौ[3] भाव न दरसै।
लोह हिरन्य[4] होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसै ॥
जियतन तरेहु मुये का तरि हौ, जियतहिं जो न तरे (रे)।
गहि परतीति[5] कीन्ह जिन्ह जासो, सोइ तहां* अमरे (रे) ॥
जे किछु कियहु ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना।
कहँहिं कबिर तासों का कहिये, देखत दिस्टि भुलाना ॥

टि०–[अध्यास–फांस]

१–गरीब-साधु। २–भेद-बुद्धि। ३–आत्म-साक्षात्कार। ४–सोना। ५–अन्ते मतिः सा गतिः।

पाठा०—*ख० पु० तहैं मरै।

(१५)

राम[1]राय चली बिनावन माहो, घर छोड़े जात जुलाहा हो ॥
गज[2] नौ गज दसगज उनइसकी, पुरिया एक तनाई ।
सात सूत नौ गंड बहत्तरि, पाट लागु अधिकाई ॥
ता[3]पट तुलना (तुलै,) गजन अमाई, पैसन सेर अढ़ाई ।
तामहँ घटै बढ़ै रतिवो नहिं, करकच करै घहराई* ॥
नि[4]ति उठि बैठ खसम सों बरबस, तापर लागु तिहाई ।
भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई ॥
क[6]हँहिँ कबीर सुनहु हो संता, जिन्हि यह सिस्टि उपाई ।
छांडु पसार राम भजु बौरे, भौ सागर कठिनाई ॥

* टीका *

(माया की रचना)

१—शरीर छूटने पर भी जीव को माया नहीं छोड़ती है प्रत्युत जीव रूप जुलहों से नये २ शरीर रूप वस्त्र बनवाती ही रहती है। इस बात को जुलाहे के रूपक द्वारा वर्णन करते हैं:—जुलाहा [जीव] घर [शरीर] को छोड़कर जारहा है, तिस पर भी माया उसका पीछा नहीं छोड़ती. है, रामुरा [राम की माया] जीव रूप जुलाहे से शरीर रूप दूसरा पट बनवाने को जारही है।

पाठां—०* ग, पु० करे गहराई, । क, पु०, घरहाई ।

भाव यह है कि, अज्ञानी जीव नाना शरीरों को धारण करते रहते हैं ।

२—माया ने जीव रूप जुलाहे से एक ताना (इन्द्रियसंघातरूप) तनवाया, वह ताना एक गज (मन) नवगज (नवद्वार) दशगज (दश इन्द्रियाँ) और उनइस गज (उनइस तत्वों का सूक्ष्म-शरीर) का बनवाया । अनन्तर सात सूत (सप्त-धातु) नव-गंड (नवनाड़ी) और बहत्तर कोठे रूप बाने से मनुष्य-शरीर रूप अत्यन्त श्रेष्ठ पाट (अधिक-मूल्य-का वस्त्र, चादर) बनवाया । दूसरा अर्थ यह भी है कि नर-तन रूप पट का 'पाट' (चौड़ाई) अधिक है इस कारण उक्त तन-पट के बनाने में बड़ा प्रयत्न किया गया है ।

३—यह नर तन रूप पट (वस्त्र) ऐसा बना है कि इसकी बराबरी दूसरे पट-देवादि (शरीर) कदापि नहीं कर सकते हैं, क्योंकि नरतन विवेक वैराग्यादिक सकल साधनों का धाम और मोक्ष का द्वार है । ऐसे सुर दुर्लभ नरतन के मिलने पर भी अज्ञानी लोग इस पट को निर्मल न रख सके, किन्तु मन और माया रूपी काजर की कोठरी में रख रख कर मैला बना दिया, और नाना विषय रूप काँटों में उरझा उरझा कर इस पट को छिन्न भिन्न (तार तार) कर दिया । जब नाना वासना रूप तार फैल गये ? गज रूप मन से नापने के योग्य नर तन-रूप पट न रहा, अर्थात् भोगों चित्त के विक्षिप्त होने पर गज (मन) हृदय में न अमाया (मन सका) जब विषयों के संसर्ग से नर तन पट की यह दशा हुई, त सूत के भाव पैसे का ढाई सेर बिकने लगा, अर्थात् कूकर सूकर होगया । इतना ही नहीं इसके अनंतर भी जैसे जैसे अज्ञान ब वैसे नरतन रूप पट का मूल्य घटता ही गया, रत्ती भर भी अ

जिस प्रकार उरझे और टूटे हुए सूत के दाम ढाई सेर का एक पैसाही मिल सकता है, चाहे कितनाही करकच (बखेड़ा) करें इससे कम ही हो सकता है। अधिक नहीं। इसी प्रकार चाहे कितने ही कठिन तप और जपादिक करें। परन्तु बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती है।

४—और भी सुनिये, जुलाहा (जीव) जब जब ताना बाना ठीक करके नरतन रूपी पट को बनाने लगता है, तब तब अविद्या रूप जुलहिन आकर इस को घेर लेती है और इससे झगड़ने लगती है। इसी तरह झगड़ते झगड़ते तीन पन बीत जाते हैं, और झगड़े की तिजारी जीव को लगी ही रहती है। अनन्तर झगड़ती हुई अविद्या देवी बेचारे जीव जुलाहे के सर्वस्वभूत उक्त ताने पर भोग-वासना रूप पानी डाल देती है जिससे कि वह भींज जाता है। जब प्रपंच-पानी से मनरूपीपुरिया (ताना) भींज जाती है, तब विवेकादिक उत्तम कामों के योग्य नहीं रहतीहै, इस लिये जुलाहा (जीव) रिसाई (दुःखी होकर) दूसरी योनियों में चला जाता है।

५—कबीर साहिब कहते हैं कि हे ! बौरे जुलाहा (जीव) तू इस प्रपंच को त्याग कर राम (निजपद) का परिचय कर, जिस चेतन से यह सब सृष्टि बनी है, क्योंकि संसार सागर में बड़ा दुःख है।

भावार्थ—" बहुत दुःख है दुःख की खानी।
तब बचिहौ जब रामहिं जानी "।

(१६)

रामुरा[१] (य) झीझी जंतर बाजै, (कर) चरन बिहूना नाचै ॥

कर[2]*बिनु बाजै सुनै स्रवन बिनु, स्रवन सरोता सोई ।
पाटन सुबस सभा बिनु अवसर, बूझहु मुनिजन लोई ॥
इन्द्रि[3] बिनु भोग स्वाद जिभ्या बिनु, अच्छय पिंड बिहूना ।
जागत+चोर मंदिल तहँ मूसैं, खसम अछूत घर सूना ॥
बिज[4] बिनु अँकुल पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फलफरिया ।
बांझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पगु तरिवर चढ़िया ॥
मसि[5] बिनु द्वात कलम बिनु कागद, बिनु अच्छर सुधि होई ।
सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहँहि कबिर जन सोई ॥

* टीका *

[अनहद कहत कहत जग बिनसे]

१ -- इस पद्य में सद्गुरु ने यह कहा है कि दशम-द्वार में ररंकार शब्द होता है, शब्द-वादी उपासक अपना स्वामी [चेतन] समझ कर उसकी उपासना करते हैं, यह उनकी अज्ञानता है; क्योंकि पिण्ड और ब्रह्मण्डान्तर्गत जितने शब्द और ज्योति आदिक प्रकाश हैं, वे सब माया के कार्य (जड़) हैं और उनका जानने वाला चेतन उनसे भिन्न है । उक्त उपासकों का तो यह कथन है कि दशम द्वार में रामुरा (रामका) झीझी जन्तर (झीना शब्द, ररंकार) बजता है, उसको सुन सुन कर चरण बिहूना [बिना हाथ पैर का] जीव-आत्मा (या मन) प्रसन्न होता है ।

पाठा०--*गा० पु० श्रवण सुने विनु ।+ क० पु० जागै चोर ।

२—वह शब्द बिना हाथ के बजता है अर्थात् अपने आप होता है। और ध्याता जीव बिना श्रवणेन्द्रिय के उस शब्द को सुनता है; क्योंकि सुरति रूपी श्रवण से श्रोता के सुनने में वह शब्द आता है। उक्त शब्द को जबही चित्त एकाग्र हो तबही सुन सकता है, शब्द के सुनने में किसी विशेष समय की अवश्यकता नहीं है, क्योंकि वहाँ पर पाटन [नगर] सुबस अच्छी तरह बसा हुआ है। और ब्रह्मरन्ध्र में बिनु अवसर [सदा ही काल] सभा (मालिक का दरबार) लगी रहती है; अतः जब चाहे तब सुन सकता है, इस बात को हे मुनियो ! [मनन करने वाले महात्माओं ?] आप समझिये।

३—उस शब्द का भोग (ज्ञान) विना इन्द्रियों के होता है । और बिना जिह्वा के उसका स्वाद (आनन्द) चखने में आता है और पिंड के नाश होने पर भी शब्द अक्षय [अविनाशी] ही रहता है [क्योंकि शब्द वादी शब्द को नित्य मानते हैं]।

अब सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो ! शब्द-वादी अज्ञान की धारा में बह गये हैं, मन ने इनको भ्रम में डाल दिया है। इन ररंकार के उपासकों के जागत (देखते देखते) चोर (मन) ने मन्दिर (इनके हृदय) से ज्ञान रूपी हीरा चुरा लिया है, अतएव अज्ञानरूपी अन्धकार के होने से खसम [आत्मा राम] के अछत (रहते हुए भी) इनका घर (हृदय) सूना सा हो गया है।

भावार्थ यह है, कि ये लोग भ्रम से अपने मालिक को बाहर समझ कर उसके मिलने के लिये नाना उपाय कर रहे हैं।

४–अपने से भिन्न माने हुए मालिक का दशम द्वार आदिक स्थानों में रहना 'बीज बिनु अंकुर, (बिना बीज के अंकुर के समान) है। और पेड़ बिनु तरिवर [बिना मूल के वृक्ष के समान है] अर्थात् मिथ्या है । देखिये ! इन उपासकों का भ्रम रूपी वृक्ष बिनु फले [बिना ही वस्तु के] 'फल फरिया' [नाना कल्पना रूप फलों को फलता है] और देखिये, इनके हृदय में यह निराला ज्ञान ऐसा पैदा हुआ है, मानों ' बाँझ की कोख पुत्र अवतरिया' [बाँझ स्त्री के लड़का हुआ है] अर्थात् इनका ज्ञान मिथ्या है । ये लोग अपने कल्पित मालिक के पास ध्यान द्वारा प्रतिदिन जाया करते हैं, सो मानों 'बिनु पग तरिवर चढ़िया' [बिना पैर के वृक्ष पर चढ़ते हैं] अर्थात् यह भी मिथ्या ही है । न कहीं गये न आये, न मिले न बिछुड़े, केवल कल्पना ही कल्पना है ।

५–कबीर साहब कहते हैं कि जिन उत्तमाधिकारियों को सहज समाधि और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, रूप त्रिपुटी के भास के बिना स्वसंवेद्य निज रूप का साक्षात्कार हो जाता है, वही " जन सोई" अर्थात् जीवन्मुक्त और सच्चे ज्ञानी हैं । उन उत्तम-अधिकारियों का अन्तःकरण ' मसिबिनु द्वाइत, अर्थात् उस कांच की दावात के समान निर्मल होता है कि जिसमें कभी स्याही न डाली गयी हो, और 'कलम बिनु कागज़, अर्थात् उस सफेद कागज के समान होता है कि जिसपर कलम न चलायी गयी हो। यह आत्मा स्वसंवेद्य है, अतः इसकी सुधि (साक्षात्कार) 'बिनु अच्छर' अर्थात् बिना शब्दों के होती है, क्योंकि शब्दों से प्रायः परोक्ष ज्ञान हुआ करता है।

(१७)

रामहिं गावै औ (रहि) समुझावे, हरि जाने बिनु बिकल फिरै† ॥
जा मुख बेद गायत्रीउचरैं, जाके*बचन संसार तरै ।
जाके पांव जगत उठि लागै, सो ब्राह्मन जिव-बध करै ॥
अपने ऊँच नीच घर भोजन, घीन-कर्म हठि वोद्र भरै ।
ग्रहन अमावस ढुकि[1] ढुकि मांगै, कर दीपक लिये कूप परै ॥
एकादसी बरत नहिं जानै, भूत-प्रेत + हठि हृदय धरै ।
तजि कपूर[2] गांठी विष[3] बांधै, ज्ञान गवांये मुगुध फिरै ॥
छीजै साहु[4] चोर प्रतिपालै, संतजनाकी कूटि करै ।
कहँहिँ कबिर जिभ्याके लंपट, यहि बिधि प्रानी नरक परै ॥

टि०—(हिंसारत और प्रतिग्रह-परायण ब्राह्मणों की दशा)

१–घरों में घुस घुस कर । २—ज्ञान । ३–अज्ञान । ४–साधुओं से द्वेष और असाधुओं से प्रेम करते हैं ।

† सूचना—यह ताटङ्क छन्द है । १६ और १८ के विश्राम से इस में ३० मात्राएँ होती हैं, और अन्त में मगण होता है । किसी कवि ने इसके अन्त में एक गुरु दिया है । लक्षण—"सोरह रत्न कला प्रतिपादहि है ताटंकै मो अन्ते" (छन्दः प्रभाकर)

पाठा० † ग० पु० ताके । + क० पु०, भूत बरत ।

(१८)

राम[1]–गुन न्यारो न्यारो न्यारो ।†

अबुझा[2]–लोग कहांलौं बूझैं, बूझनिहार विचारो ॥
केते रामचंद्र तपसी से, जिन यह जग विटमाया[3] ।
केते कान्ह भये मुरलीधर, तिनभी अंत न पाया ॥
मच्छ कच्छ औ ब्राह सरूपी, वामन नाम धराया ।
केते बौध (नि) कलंकी केते, तिन भी अंत न पाया ॥
केते सिध साधक संन्यासी, जिक बनबास बसाया ।
केते मुनिजन गोरख कहिये, तिन भी अंत न पाया ॥
जाकी[4] गति ब्रह्मौ नहिं जानै, सिव सनकादिक हारे ।
ताके गुन नल कैसे पैहौ, कहँहिं कबीर पुकारे ॥

टि०–[अवतार-मीमांसा]

१—अनादि निर्लेप राम, सुद्ध-चेतन । २—अज्ञानी । ३—सुरचित किया ४—जिस अनादि राम की ।

†यह "सार" छन्द प्रभाती लय का है । आगे उल्लिखित विशेष छन्दों को छोड़कर सर्वत्र प्रायः यही छन्द है ।

(१६)

ये[1] तनु रामजपहु हो प्रानी, (तुम) बूझहु अकथ कहानी ।
जाको[2] भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी ॥
डाइनि[3] डारे सुनहा डोरे, सिंघ रहै बन घेरे ।
पांच कुटुँब मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे ॥

रोहु-मृगा संसै बन हांकै, पारथ बाना मेलै ।
सायर-जरै सकल-बन डाहै, मच्छ अहेरा खेलै ॥
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै ।
जो यह पदको गाय बिचारै, आप तरै औ * तारै ॥

* टीका *

[निज रूप (राम) के जानने के साधन]

१ —सारा संसार राम को जपता है, परन्तु साधनहीन-मनुष्यों को उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, इस बातको सिंह के रूपक द्वारा सद्गुरु बताते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम इस बात को समझो, और ए ततु (इस प्रकार से) जपो, अर्थात् चिन्तन करो, यह बात पूरी तरह कहने में नहीं आ सकती है ।

२-"जाको भाव होत हरि ऊपर" हरि=आत्मा, अर्थात्—जिसके हृदय में ज्ञान के उदय होने से आत्म भाव हो जाता है, वह पुरुष निश्चय ही जागत (जागता रहता है) । और उसके सामने से अज्ञानता रूपी रैनि [रात्रि] हट जाती है । और नित्य बोध रूप सबेरा होजाता है । सिंह के शिकारियों के पक्ष में यह अर्थ है कि जिसको हरि=सिंह के आखेट की इच्छा रहती है, वह जागते हुए रात बिताकर सबेरा कर देता है । योगियों के पक्ष में सिंह का अर्थ मन है ।

पाठा०-* क० पु० मोहि तारै ।

३—इसके पश्चात् ' डाइनि डारे सुनहा डोरे" अर्थात् गुरु के उपदेश से मन को वश में करे। और कामादिक कुत्तों को डोरी से बाँधे, अर्थात् रोके। और 'सिंह रहे बन घेरे' अर्थात् सिंह रूप मन को हृदय में घेर लेवे। दूसरे पक्ष में डाइनि मन्त्रादि से सिंह को बश में कर लेते हैं, तथा शिकारी कुत्तों से उसको घेर लेते हैं। और यह भी आवश्यक है कि 'पाँच—कुटुम मिलि जूझन लागे' अर्थात् पाँचों इन्द्रियों का संयम कर मनका दमन करे, और 'बाजन बाजु घनेरे, अर्थात् साधन समझ कर अनहद- शब्द आदिक का भी अभ्यास करे तो कोई हानि नहीं है , परन्तु उन्हीं को निज रूप न समझे। दूसरे पक्ष में सिंह के लिये बन में चारों ओर से बाजे बजाते हैं, और सखा साथी-लोग मिल कर सिंह से युद्ध करते हैं।

४ —'रहु मृगा संसय बन हांके' अर्थात् गुरु के बचनों में पूरा विश्वास होने से सब संशय रूपी मृग अपने आप हृदय रूप बन से भग जाते हैं, अतः दृढ़ होकर सद्गुरु के उपदेश रूप बाणों से मन रूप सिंह को पराहत करना चाहिये। दूसरे पक्ष में बाजाओं के बजने से हरिण उस जंगल को छोड़ कर भग जाते हैं और वाण चलने लगते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से साधन बता कर सद्गुरु कहते हैं कि यह बड़ा अचरज है कि " सायर जरे" संसार-सागर त्रितापाग्नि से जल रहा है। और, 'सकल बन डाहे' बन जो गुरुवा लोगों (वञ्चकों) की रोचक बाणी है वह सकल डाहे अर्थात् सबों को जला रही है। और मच्छ (माया) अहेरा (शिकार) खेल रही है, अर्थात् वञ्चकों की रोचक वाणी से संसारी-लोग

माया के जाल में फँस रहे हैं। जैसा कि सद्गुरु ने कहा है कि "मच्छ रूप माया भई जवरे खेल अहेर"

४—कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! जो इस शब्द के अर्थ का निर्णय करते हैं और कहते बिचारते रहते हैं वे सन्त संसार सागर से पार हो जाते हैं और दूसरों को भी पार कर देते हैं।

(२०)

कोई[१] राम-रसिक रस पीयहुगे पीयहुगे सुख जीयहुगे ॥
फल-लंकृत[२] बीज नहिं बकला, सुख- पंछी (तहाँ) रस खाई।
चुवै न बुंद अंग नहिं भीजै, दास-भँवर (सभ) सँग लाई ॥
निगम-रिसाल[३] चारिफल लागें, तिनिमहँ तिनि समाई।
एक दूरि चाहैं सभ कोई, जतन जतन बिरलनि पाई ॥
गै[४] बसंत ग्रीषम रितु आई, बहुरिन तरिवर तर आवै।
कहँहिँ कबिर सामी सुख-सागर, राम-मगन (होय) सो पावै ॥

⊛ टीका ※

(रामरस का पान)

१—'कोइ राम-रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे जुग जीयहुगे'।
कोई कोई आत्माराम (आत्मा में रमण करने वाले) वीतराग इस

राम रस को पीते हैं। जो पीते हैं। वे युग युग (सदैव) जीते हैं, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

२—वह राम रस एक विचित्र और लंकृत = अलंकृत (सुन्दर) फल है। ऐसा विचित्र फल है कि उसके 'बीज नहीं बकला' नबीज है न छिलका ही है। अर्थात् राम रस, बीज निर्गुण और बकला (सगुण) से अलग है। निर्गुण और सगुण तो मन के रूप हैं, राम शुद्ध चेतन इनसे परे है। 'निर्गुण सगुण मन की बाजी खरे सयाने भटके" उस राम-रस को सुख (शुकाचार्य) रूप पत्ती ने चखा है, क्योंकि शुकाचार्य ने गर्भ ही से माया का त्याग किया है'शुकाचार्य दुखही के कारन गर्भ हि माया त्यागी हो।

अब इस बात को कहते हैं कि उक्त फल के रस का पान केवल शुक पत्ती ही कर सकता है, भौंरे उसके रस को नहीं पी सकते हैं। "चुवै न बुन्द अङ्ग नहिं भीजै, दास भवँर सभ संग लाई।" उस राम रस रूपी (रिसाल, आम्र) फल को अनेक भक्त जन रूप भौंरें सदा काल घेरे ही रहते हैं, (अर्थात् उसको जपाही करते हैं) परन्तु साधन हीन होने से राम-रस की एक बूँद भी उनपर नहीं चूती है, इस लिये बाहर से भी उनका अङ्ग सूखा ही रह जाता है।

३—"निगम रिसाल चारि फल लागे, तामे तीनि समाई' वेद रूप आम के वृत्त में धर्म, अर्थ, काम और मोत्त रूप चार फल लगते हैं, उनमें से आदि के तीन फल तो समाई (नाशवाले हैं) और 'एक दूरि चाहैं सब कोई जतन जतन काहु बिरलन्हि पाई" एक मोत्त रूपी फल दूर लगा

हुआ है उसी को सब कोई चाहते हैं. परन्तु बड़े प्रयत्न करने से कोई बिरला ही उसको पा कसता है।

४—सद्गुरु कहते हैं कि 'गै वसन्त ग्रीषम रितु आई' अर्थात् जवानी बीत गई है, और बुढ़ापा चला आया है, परन्तु ऐसा उपाय नहीं किया कि जिससे 'बहुरिन तरि-वर तर आवै, अर्थात् नाना फलों को भोगने के लिये संसार रूपी वृक्ष के नीचे न आना पड़े। कबीर साहिब कहते हैं कि स्वामी गुरुपद या निज पद सुख का सागर है, परन्तु जो राम में रमते हैं वेही उसको पाते हैं। अर्थात् राम में रमना ही आत्माकार-वृत्ति होना ही (स्वामी) गुरु पद का पाना है।

(२१)

राम न रमसि[१] कवन डँड[२] लागा, मरि जैबे का करबे[३] अभागा।†।

कोई तीरथ कोइ मुँडित[४] केसा, पाखँड मंत्र भरम उपदेसा॥

बिद्या बेद पढ़ि करै हँकारा, अन्तकाल मुख फाकै छारा।

दुखित सुखित हो कुटुँब जेवावे[५], मरन बेर[६] एकसर[७] दुख पावे।

कहँहिँ[८] कबिर यह कलि है खोटी[९], जो रहै करवा (सो) निकलै टोटी[१०]

टि० (भ्रम और आडम्बर)

१—रमता है। २—पाप। ३—करेगा। ४—केस मुड़ाता है। ५—खिलाता

---

† यह चौपाई छन्द है।

है। ६—अकेला। ७—पाता है। ८—वासना या कलियुग। ९—गड़वा, बदना। १०—टूँटी। छारा—धूलि। " यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"।

(२२)

अवधू[1]! छांड़हु मन-बिस्तारा[2]।

सो पद[3] गहहु जाहिते सद्‌गति[4], पारब्रह्म तें[5] न्यारा॥
नहीं महादेव नहीं महँमद, हरि हजरत किछु नाहीं।
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप नहिं छाहीं॥
असियासै[6] पैगंबर नाहीं, सहस-अठासी[7] मूनी।
चंद सुरज तारागन नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी[8]॥
बेद किते‍ब[9] न सुम्रिति संजम, नहीं जवन परसाही[10]।
बंग[11] निमाज न कलमा होते, रामों[12] नाहिं खुदाई॥
आदि[13] अन्त मन मध्य न होते, आतिस[14] पवन न पानी।
लख-चौरासी जियाजंतु[15] नहिं, साखी सब्द न बानी॥
कहँहिं कबीर सुनहु हो अवधू! आगे[16] करहु* बिचारा।
पूरन-ब्रह्म[17] कहाँते प्रगटे, किरतम[18] किन उपराजा॥

टि०—(सत्य-पद प्रदर्शन)

१—हे अवधूत जी! २—मनका फैलाव। ३—निर्विशेष-आत्मा, शुद्ध चेतन। ४—मुक्ति। ५—वह। ६—अस्सी सौ। किसी पुस्तक में 'असी-सहस ऐसा भी पाठ हैं। असी-सहस = अस्सी हजार। ७—अठासी हजार मुनि

पाठा० * क० पु० कहहु विचारी।

भी नहीं थे। ८—दोनों। ९—कुरान आदि इस्लामी किताबें। १०—मुसलमानों की बादशाही (राज्य)। ११—बाँग, नमाज और कलमा। १२—अवतार राम (सादिराम) और सातवें आसमान पर रहने वाला (कल्पित) खुदा। १३—आदि अन्त और मध्य नहीं था, तथा मन भी नहीं था। १४—अग्नि। १५—चौरासी लाख योनियों के प्राणी। १६—माया के आगे। १७—कारण-ब्रह्म (ईश्वर) और कार्य-ब्रह्म (हिरण्य-गर्भ, मन, पारिभाषिक निरञ्जन) १८—मायिक-प्रपञ्च को किसने पैदा किया।

(२३)

अवधू[१] कुदरति की गति न्यारी

रंक निवाजि करै वह राजा, भूपति करै भिखारी॥

येते[२]* लवँगहिँ फल नहिँ लागै, चंदन फूल न फूला।

मच्छ सिकारी रमै जँगल महँ, सिंघ समुद्रहि झूला॥

रेंडा-रूख[३] भये मलयागिर, चहुँ दिसि फूटी बासा।

तीनि-लोक ब्रहमंड खंड महँ, देखै अन्ध तमासा॥

पंगा[४] मेर सुमेर उलंघै, त्रिभुवन मुकता डोलै।

गुंगा ज्ञान विज्ञान प्रगासै, अनहद बानी बोलै॥

अकासहि[५] बाँधि पताल पठावै, सेस सरग पर राजै।

कहँहिँ कबीर राम हैं राजा, जो किछु करैं सो छाजै॥

पाठा० * क० पु० येते लौंगन्ह हर फन लागे।

*** टीका ***

१–हे अवधू = जिज्ञासु पुरुषो ! हरि की कुदरत (माया) की गति रचना निराली है । दरिद्रों पर दया कर चाहे तो वह उनको राजा बना दे और भूपतियों को भिखारी बना दे ।

२–माया की रचना देखिये कि लवंग के वृक्षों में फल नहीं लगते और चन्दन के फूल नहीं लगते यह कितनी भूल है । और भी आश्चर्य देखिये कि मच्छ (माया) संसार रूपी वन में विषयी पुरुषों का शिकार खेलती हुई घूमती है । और सिंह (जीव) संसार समुद्र में झूलता है । मच्छी का वन में घूमना और सिंह का समुद्र में झूलना कुदरत का कौतुक ही है ।

३–"रेंडा-रूख भये मलयागिर" रेंडा साधक (पुरुष) साधनों से सिद्ध होकर मलयागिरि रूप हो जाते हैं और चारों ओर उनका सुयश रूपी सुगन्ध छा जाता है । अँध = अन्धा (अन्तर्दृष्टि-पुरुष) तीन लोक रूप खंड ब्रह्माण्ड में तमाशा (नाना कौतुक) देखते हैं ।

४–" पंगा मेरु सुमेरु उलंघै " जिनका मन अभ्यास द्वारा पंगु अर्थात् निश्चल हो गया है, वे अपनी वृत्ति को रोक कर अभ्यास द्वारा सुमेरु स्थान पश्चिमदंड (मेरुदंड) को लाँघ जाते हैं और मुकुता (मुक्तपुरुष) तीनों भुवनों में स्वतन्त्र रहते हैं, "गूंगा ज्ञान विज्ञान प्रगासै" गूँगे (मूक) तीन प्रकार के होते हैं । १–जन्म-मूक । २–ज्ञान-मूक । ३—अज्ञान-मूक । उनमें से ज्ञान-मूक पुरुष ज्ञान और विज्ञान (स्वानुभव) का प्रकास करते हैं । और अनहद-वाणी (अखंडशब्द) का भी परिचय करते हैं ।

" रेंडा-रूख भये मलयागिर" इत्यादिक कथन से मुक्ति के उपयोगी अजिह्वादिक गुणों का वर्णन किया गया है।

यथा--" अजिह्वः षंढकः पगु रंधो बधिर एवच ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुःषड्भिरेतैर्न संशयः" ।

अर्थ—गूंगा नपुंसक पँगला अन्धा बहिरा और मुग्ध (भोला) इन छः गुणों से भिक्षुजन (साधु) मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं । गूंगा आदि की व्याख्या निम्नलिखित श्लोकों से की गयी है।

" इद मिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥
अद्य जातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स पण्ढकः ॥
भिक्षार्थमटनं यस्यविरण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पँगु रेव सः ॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्यचक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्दिक्षु भुवंगत्वा परिब्राट् सोंऽध उच्यते ॥

भावार्थ यह है कि, वैखरी के संयम से दिव्य-अनाहत-शब्द सुनने में आ जाता है।

५–राम (चेतन) चाहें तो आकाश को बान्धकर पाताल में भेज दें और पाताल-निवासी-शेष को स्वर्ग में ले जायें। कबीर साहब कहते हैं कि, राम राजा हैं, अर्थात् सर्वे-सर्वा, सर्वोपरि हैं। वे जो कुछ करते हैं वही उनको शोभा देता है।

(२४)

अवधू[1] सो जोगी गुरु मेरा, (जो यहि) पदका करै निवेरा ॥

तरिवर[2] एक मूल बिनु ठाढ़ा, बिनु फूले फल लागा ।

साखा पत्र किछौ नहिं वाके, अस्ट-गगन-मुख गाजा ॥

पौ[3] बिनु पत्र करह बिनु तूंबा, बिनु जिभ्या गुन गावै ।

गावनि हार के रेख रूप नहिं, सतगुरु होय लखावै ॥

पंछिक[4] खोज मीन को मारग, कहहिं कबिर दोउ भारी ।

अपरमपार पार परसोत्तिम, मूरति की बलिहारी ॥

* टीका *

१—कबीर साहब कहते हैं कि हे अबधू ! जिज्ञासु-पुरुषो ! वे योगी गुरु (आत्मयोगी ज्ञानी गुरु) सबसे श्रेष्ठ हैं, । जो इस पद के अर्थ का निर्णय करके आत्म-तत्व को ग्रहण करते हैं ।

२—तरिवर एक मूल बिनु ठाढे ।' एक मूल-प्रकृति रूप श्रेष्ठ-वृक्ष हैं वह बिना मूल के खड़ा है, क्योंकि सबका मूल प्रकृति है और प्रकृति का मूल कोई नहीं । " मूले मूलाभावादमूलं मूलम् " (सांख्यसूत्र) मूल का मूल नहीं होता है । उस मूल-प्रकृति रूप वृक्ष में बिना फूल के विश्वरूपी, फल लगा है । उस विश्व-वृक्ष के शाखा पत्र कुछ नहीं है, और वह वृक्ष अष्ट प्रकृतिरूपसे संसार में फैला हुआ है, अष्ट प्रकृतियां ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार । और दूसरा यह भी अर्थ है कि

ब्रह्माण्डस्थ अष्टम-गगन सुरति कमल के मुख (द्वार) पर अनाहत शब्द गरज रहा है। यह विहंगम मार्गियों का मत है।

३—अब स्वरवादियों का मत बताते हैं। इस शरीर में पौ (अँकुर) के बिना पत्र (द्विदल का कमल) है और करह (डंठा) के बिना एक तुम्बा (मस्तक) लगा हुआ है। और अजपा-जाप करने वाले योगी, बिना जिह्वा के गुण गान [अजपा जाप] करते हैं। गावन हार के (श्वाँसा के) रूप रेख कुछ भी नहीं है। यदि स्वरोदय के भेदी सद्गुरु मिलें तो सब रहस्य समझावें।

४—कबीर साहब कहते हैं कि विहंगममार्गी और मीनमार्गी योगियों की लीलाओं का दिग्दर्शन मैंने कराया है, ये सब नाना प्रकार के मन के खेल हैं। जिस प्रकार आकाश में उड़े हुए पक्षी का मार्ग ढूंढ निकालना और जल में तैरती हुई मच्छी का रास्ता निर्धारित करना अत्यन्त ही कठिन है. इसी प्रकार इस विहंगम मार्ग (खेचरी मुद्रा) और मीन मार्ग (स्वरोदय) में भी भारी उलझन है, आश्चर्य है कि योगी लोग इन अनात्म-पदार्थों में ही उलझे रहते हैं। जो पुरुष मन और माया के बन्धनों से रहित है, वही सर्व-बन्धनों से रहित होने से पुरुषोत्तम है, अतः उसकी मूर्ति (स्वरूप) की मैं बलिहारी हूँ अर्थात प्रतिष्ठा करता हूँ।

(२५)

अवधू[1] वो ततु रावल राता, नाचै बाजन बाजु बराता॥
मौरके[2] माथे दुलहा दीन्हो, अकथा जोरि कहाता॥

मँडवक* चारन समधी दीन्हौ, पुत्र बिबाहल माता ॥
४
दुलहिनि लीपि चौक बैठायो, निरभय पद परगासा ।
भाते उलटि बरातिहिँ खायो, भली बनी कुसलाता ॥
५
पानी अंदन भये भौ मंडन, सुषमनि सुरति समानी ।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, बूझहु पंडित ज्ञानी ॥

* टीका *

[योगी माते योग ध्यान]

१—हठयोगियों की योगलीला बताते हैं:—हे अवधू ! हे योगियो ! आप लोग निजरूप को भूल कर उस मिथ्या लीला को तत्त्व समझ कर उसी में रत गये । आप लोगों का यह कार्य तो लौकिक दृष्टि से भी विपरीत सा मालूम पड़ता है, क्योंकि बारात में बाजे बजते हैं और बराती लोग नाचते हैं, परन्तु आप की योग लीला में तो "नाचै बाजन बाजु बराता" बराती लोग स्वयं बाजे बन कर बजते हैं और बजने वाले बाजे नाच करते हैं । बात यह है कि ब्रह्माण्ड में प्राणों के आयम (रोकने) से दश प्रकार के अनहद शब्द उठा करते हैं, वे नाना प्रकार के शब्द ही बाजे हैं, सो अभ्यास काल में नाचते हैं । अर्थात् अपने २ रूपों को प्रगट करते हैं । और बराती योगियों के जो शारीरिक तत्त्व हैं वे बजते हैं । भाव यह है कि दश प्रकार के अनहद शब्द पाचों तत्त्वों की भिन्न भिन्न ध्वनि (झनकार) है यह कैसी उलटी लीला है ।

पाठा० * क, पु० मंडइके चाँडन समधिहि दिन्हौ ।

२—और भी देखिये कि लौकिक व्याह में तो दुलहा के मस्तक पर मौर रक्खा जाता है, परन्तु आपकी योग लीला में तो " मौर के माथे दुलहा दीन्हो " मौर ही के माथे पर दुलहा को बैठा दिया है ! अर्थात् मोर (नागिनी कुंडलिनी शक्ति) के मस्तक पर अभ्यास—द्वारा दुलहा (जीव) को बैठा दिया है। भाव यह है कि नाभी चक्र में नागिनी (कुण्डलिनी शक्ति) का निवास है, और उसका मुख नीचे की ओर रहता है. अतः वह नाभी चक्र के द्वार को रोके रहती है। इस कारण अभ्यास काल में योगियों के प्राण ऊपर नहीं चढ़ने पाते हैं। जब योगी लोग पाँच हजार कुम्भक कर लेते हैं, तब कुंडलिनी उलट जाती है, नागिन का मुख ऊपर होने से योगियों के प्राण ब्रह्माण्ड में चढ़ जाते हैं और समाधि लग जाती है। समाधि दशा प्राप्त होने पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, सिद्धियां के बल से योगी लोग नाना प्रकार की अकथनीय कथाओं को कहने लगते हैं, इस कारण सिद्धियों का अहंकार भी उनके हृदय में बढ़ जाता है।

३—अनन्तर अहंकार के बढ़ने से "मड़ये के चारन समधी दिन्हों" अर्थात् समधी (अहँकार) ने मंडवे (हृदय) के चारन (विचरनेवाले) काम क्रोधादिकों को दीन्हा, अर्थात् नाना प्रकार के भोग दिये। कई पुस्तकों में मंडवे के चादन समधी दीन्हा" ऐसा भी पाठ है, अर्थ-मडवे (शरीर) के चादन (छत्त) पर समधी (चेतन) को दिन्हा (रख दिया) अर्थात् आत्मविमुख होकर शरीरासक्त हो गये। इस प्रकार इन योगियों की यह योग लीला तो अनर्थ ही करने वाली हुई क्योंकि "पुत्र बिआहल माता" अर्थात् पुत्र (जीवआत्मा) ने अपनी माता (माया) या अविद्या ही के साथ विवाह कर लिया ! भाव यह है कि योगी लोग

बड़े भारी धोखे में फंस गये, क्योंकि बिना ज्ञान के इन योग की क्रियाओं से अविद्या कदापि दूर नहीं हो सकती है। प्रत्युत (पहले से भी अधिक) योगी लोग अहंकारादिक अविद्या के दल दल में फँस जाते हैं।

४—इन हठ योगियों ने जीव की दुलहिन (सुमति) को तो लीप दिया है अर्थात् मेट दिया है। और उस पर नाना बिडम्बना रूप चौके को बैठा दिया हैं, तिस पर भी अपने आपको सर्वथा निर्भय समझते हैं कि हमने जरा और मृत्यु को जीत लिया है। सद्गुरु कहते हैं कि उक्त विवाह में यह एक बड़ा भारी कौतुक हो गया है कि नाना सिद्धि रूप व्यंजनों की लिप्सा से योग साधन रूप बारात में सम्मिलित हुए योगी रूपी बारातियों को भोग वासना रूप बासी भात ने ही उलटे खा डाला। यह देखिये कैसी कुशलता रही। भाव यह है कि सिद्धियों के भूखे योगियों को आत्म-ज्ञानादिक कुछ नहीं सूझता, ठीक ही है "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्" अर्थात भूखे को कुछ नहीं सूझता है।

५—कबीर साहिब कहते हैं कि हे सन्तो! आप लोग सुनिये और हे ज्ञानी पण्डितो! आप लोग समझिये, यह एक बड़ा भारी आश्चर्य है कि हठ योगी सुषुम्णा चलने पर अपनी सुरति को ब्रह्माण्ड में चढ़ा कर वहाँ पर होने वाले अनाहत शब्द में उसको लगाते हैं, इस कारण अविद्या के साथ पाणि-ग्रहण (विवाह) होने के बाद योगियों को मँडवा रूप नाना शरीर धरने पड़ते हैं, और उनका मंडन (रक्षण) भी करना पड़ता है। यही योगियों की विवाह लीला है। लौकिक व्याह में तो पहले मड़वा बनाया जाता है और पीछे विवाह होता है, परन्तु इनके तो सारे ही काम उलट गये हैं। भाव यह है कि योगी लोग अचेतन शब्दादिकों की आत्म-भाव से उपासना करते हैं इसी

कारण से अविद्या के अन्ध कूप में पड़ जाते हैं। और अविद्या ही के सम्बन्ध से नाना शरीर धरने पड़ते हैं।

(२६)

भाइरे बहुत बहुत का कहिये, बिरले दोस्त[1] हमारे।
गढ़न[2] भँजन संवारन आपे, राम रखे त्यों रहिये॥
आसन पवन जोग स्रुति[3] सुम्रिति, जोतिष पढ़ि बैलाना[4]।
छौ[5] दरसन पाखंड छानवे[6], ये कल[7] काहुन जाना॥
आलम-दुनो[8] सकल फिरि आयो, ये कल* जिउहि न आना।
तजी[9] + करिगह जगत उचायो, मन महँ मन न समाना॥
कहँहिं कबिर जोगी औ जंगम, फीकी[10] इन कि आसा।
रामहिंनाम[11] रटैं जौं चात्रिक, निस्चै भगति-निवासा॥

टि०—[भक्ति-विचार]

१—मित्र, सङ्गी। २—आत्मसमर्पण भाव यह है कि बना कर बिगाड़ने और फिर बनाने वाले राम ही हैं, ऐसा समझ कर "राम रखे त्यौं रहिये"। 'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरीनाम' जेही विधि रक्खै राम ताही विधि रहिये'। ३—स्मृति। ४—अहँकार से प्रमत्त हो जाते हैं। ५—जोगी, जङ्गम, सेवड़ा, संन्यासी, और दरवेश, आदिक भेषधारी षड्

पाठा०—*ग प, ये कल उहै न जाना +ख प, ताही करिकै जगत उठावै।

दर्शन (वेष) कहलाते हैं। ६—देहात्म-वादी आदिक नास्तिक-पाखण्डियों के छिआनबे भेद हैं। ७—इन्हीं में से इस युक्ति (सच्चोभक्ति) को किसी ने नहीं जाना। ८—सारे संसार में। ९—करिगह = शरीरादि संघात । आत्म शुद्धि (संयम) छोड़ कर अनेक पाखंडों में लग गये, परन्तु मन का निरोध नहीं किया। १०—अनात्म-रत होने के कारण। ११—जो नामोपासक समझ बूझ कर प्रेम-पादप को पल्लवित करने के लिये नाम की रटन लगाते हैं, उनको निश्चित-रूप से प्रेम-लक्षणा भक्ति का आश्रय मिल जाता है।

(२७)

(भाई रे) अद्बुद्‌रूप अनूप कथा है, कहों तो को पतियाई।
जहँ जहँ देखों तहँ तहँ सांई, सभ घट रहल समाई॥
लक्ष्मि बिनु सुख दलिद्र बिनु दुख है, नींद बिना सुख सोवै।
जस बिनु जोति रूप बिनु आसिक, (एसे) रतन बिहूना रोवै॥
भ्रम बिनु गंजन मनि बिनु नीरख, रूप बिना बहु रूपा।
थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनँद, ऐसो चरित अनूपा॥
कहँहिँ कबीर जगत हरि मानिक, देखहु चित अनुमानी।
परिहरि लाखों-लोग कुटुम सभ, भजहुँ न सारँग* पानी॥

पाठा०—*क० पु० सालँग पानी।

टि०—[विश्वात्म-दर्शन, ज्ञान लक्षणाभक्ति]

१—अद्भुत-रूप। २—विश्वास करेगा। ३—आत्मदेव, राम। ४—वह [राम] बिना धन का सुख है। अथवा ज्ञानी को बिना प्राप्ति के सुख है और अज्ञानी को बिना खोये दुःख है। और उसको पाकर जीवन्मुक्त (समाधिस्थ) बिना नींद के सुख से सोते हैं " शेते सुखं कस्तु समाधि निष्ठः " (शङ्कराचार्य) ५—वह ' तत्व' बिना यश का प्रकाश है। और उसके ज्ञाता बिना ही रूप (आकार) के प्रेमी होते हैं। इसी रत्न के न मिलने से अज्ञानी लोग रोते रहते हैं। (सदा अप्रसन्न रहते हैं) ६—स्वरूप में भ्रम के बिना उसकी निवृत्ति होती है। और बिना ही मणि के परीक्षा (परख) होती है। और वह आत्म-देव बिना रूप के अनन्त रूप वाला है। ७—बिना देश की सुरति (चिन्तन) है। अथवा बिना आकार के स्थित है। और बिना लीला का आनन्द है। उसका ऐसा अद्वितीय और विचित्र चरित्र है। ८—कबीर साहब कहते हैं कि चित को शुद्ध करके सर्वत्र विद्यमान हरिरूप रत्न को देखो। आप लोग सांसारिक मोह ममता को छोड़ कर अभयकारक शार्ङ्ग-पाणि (राम) को क्यों नहिं भजते हैं।

(२८)

(भाइरे) गैया[1] एक बिरंचि दियो है, (गैया) भार अभार भो भारी।
नौ नारी को पानि पियतु है, त्रिषा न तैयो बुझाई॥

[२] कोठा बहत्तरि औ लौ लावे बज्र कँवार लगाई।
खूँटा गाड़ि दवरि द्रिढ़ बाँधेउ तैयो तोरि पराई॥
[३] चारि ब्रिच्छ छव-साखा वाके, पत्र अठारह भाई।
एतिक लै गम कीहिसि गइया, गैया अति हरहाई॥
[४] ई सातो औरो है सातो नौ औ चौदह भाई।
एतिक गैया खाय बढ़ायो गैया तौ न अघाई॥
[५] पुरता * महँ राती है गैया, सेत सींगि है भाई।
अवरन बरन किछौ नहिं वाके, अह अखदहिं खाई॥
[६] ब्रह्मा बिस्नु खोजि कै आये, सिव सनकादिक भाई।
सिध अनँत वाके खोजि परे हैं, गैया किनहु न पाई।
[७] कहँहिं कबीर सुनहु हो संता, जो यह पद अरथावै॥
जो यहि पदको गाय बिचारै, आगे होय निरबाहै॥

* टीका *

१—हे भाइयो ! ब्रह्मा जी ने मनुष्यों के सर्व कार्यों की सिद्धि के लिये वाणी-रूप गैया दी है, अतः वाणी रूप गैया से परमार्थ-सिद्धिरूप दूध लेना उचित था, परन्तु तुम लोगों ने तो असद्बाणी का इतना प्रपञ्च

पाठा०—क, पु,— *खुरतामहँ।

कर दिया है कि उक्त वाणी रूपी गैया का धारण पोषण करना तुमको ही कठिन हो गया है, क्योंकि "गैया भार अभार भै भारी"। बोलने से श्वासा वाणी में परिणत हो जाती है, अतः श्वासा को भी गैया कहते हैं। योगियों की वही श्वास रूपी गैया अभ्यास काल में नौ नारी का पानी पियतु है।" अर्थात् नवों नाड़ियों में योगियों की इच्छा अनुसार भ्रमण करती है और नाड़ियों में नाना रस रूपी पानी को सदा पीती रहती है तब भी उसकी प्यास नहीं जाती।

नव नाड़ियों के नाम--ईडा (चन्द्रनाड़ी) पिंगला (सूर्यनाड़ी) सुषुम्णा (मध्य नाड़ी)। गान्धारी (दहिने नेत्र की नाड़ी)। हस्ति जिह्वा (बाँये नेत्र की नाड़ी)। पूषा (दहिने कान की नाड़ी)। पयस्विनी (बायें कान की नाड़ी)। लकुहा (गुदानाड़ी) और अलम्वुषा [लिंग नाड़ी]। यद्यपि दशम नाड़ी शंखिनी नाभि स्थान में हैं, परन्तु वह श्वासा का मुख्य स्थान है, अतः उसको छोड़ कर नव कही हैं। इस लिये विरोध नहीं है।

२—इसके अनन्तर योगी लोग बहत्तर कोठों में प्राण-वायु को घुमा कर बज्र किवाड़ लगाते हैं। (आँख, कान, नाक और मुख को विशेष प्रकार से बन्द करना वज्र-कपाट लगाना कहा जाता है। बज्र-कपाट लगाने के बाद " खूटाँ गाड़ि दुवरि द्रिढ़ बाँधेउ " प्राणों के आयाम से सहस्रार में ब्रह्म ज्योति का जो प्रकाश होता है वही खूँटा है, क्योंकि प्राणों की गति सहस्र—दल—कमल तक ही है। और यही स्थान ज्योतिः स्वरूप (निरञ्जन) का है, अतः यहीं तक योगियों की गति है। इसके आगे अष्टम सुरति कमल हैं जिसको सन्त-मत के अनुसार अभ्यास करने वाले

प्राप्त करते हैं। समाधि लगाकर योगी लोग उसी खूंटे से श्वाँसा-रूप गैया को बाँध देते हैं, तथापि व्युत्थान काल में (समाधि खुलने पर) निरोध रूप रस्सी को तोड़कर वह गैया भग जाती है। भाव यह है कि बिना स्वरूप-परिचय के केवल हठ-योग-द्वारा समाधि लगाकर योगी लोग मूर्छित-सर्प की तरह समाधि-काल में रहते हैं, पश्चात् व्युत्थान काल में उनकी भोग वासनाएँ फिर जग जाती हैं।

३—अब वाणी-रूप गैया का प्रपंच बताते हैं। वाणी ने चार वेद छः शास्त्र अठारहों पुराणों को व्याप्त कर लिया है। इनमें चार वेद तो वृक्ष स्थानापन्न मुख्य हैं. और शास्त्र तथा पुराण शाखा और पत्र स्थानीय गौण हैं। इस वाणी रूप गैया ने "एतिक लै गमकिहिसि" अर्थात् इन वेदादिकों को लेकर ही छोड़ा। यह वाणी गैया बड़ी हरजाई है। अर्थात् अनात्म (प्रपञ्च) रूप दूसरे के खेतों को सदैव खाया करती है। वाणी अनात्म-पदार्थों को ही विषय करती है। भाव यह है कि आत्म-तत्त्व वेदादिक बाणी से परे हैं, क्योंकि जिसको मन विषय करता है, बाणी भी प्रायः उसी को विषय करती है। आत्मा स्वसंवेद्य है, अतः बाणी उससे पराङ्मुख होकर अनात्म-वस्तुओं को ही विषय करती रहती है। श्रुति ने भी इस बात को बताया है कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" अर्थात् वेदादिक वाणी आत्मा को विषय नहीं कर सकती हैं।

४—यह वाणी का प्रसार बताया। और भी कहते हैं कि "ई सातों औरो हैं सातों नौ औ चौदह भाई" षट् चक्र और सातवाँ सहस्रार और पाँच तत्त्व, महत्, तथा अहंकार, ये सात आवरण हैं। ये सब वाणी के विषय हैं। और नव व्याकरण और चौदह विद्या इन सबों को वाणी रूप गैया ने खा डाला, तौभी वह सन्तुष्ट न हुई। भाव यह है कि ये सब बाणी

मात्र हैं, परमार्थ-तत्व तो इन सबों से पृथक् है, अतः उसी को प्राप्त करना चाहिये।

५—" पुरता में राती है गैया सेत सींगि है भाई"। अब माया के कार्य, लोकों का गैया के अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूप से वर्णन करते हैं कि इस माया रूपी गैया का पुरता [मध्यभाग] अर्थात् माया का कार्य मध्यम-लोक, रजोगुण प्रधान है। और इसके सींग रूप स्वर्गादिक लोक सत्वगुण प्रधान हैं। और इसके खुर स्थानीय नीचे के लोक तमोगुण प्रधान हैं। इस त्रि-गुणात्मक माया के तीन गुणों से तीनों लोकों की रचना होती है। जैसाकि वर्णन किया है कि, 'उर्ध्वं सत्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः। मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥" अर्थात ऊपर के लोक सत्व प्रधान, मध्य के रजः प्रधान और नीचे की रचना तमः प्रधान है। "अव-रन बरन कि छौ नहिं बाके" माया का स्वरूप न वर्ण्यहैं, न अवर्ण्य है, अर्थात् माया सत और असत्य से विलक्षण-अनिर्वचनीय है। और वह माया "खद" खाद्य (अशुभ कर्मो) और "अखद" अखाद्य (शुभ कर्मो) दोनों को खा लेती है। भाव यह है कि शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों ही माया की बेड़ी हैं, "कहँहि कविर ये दोनों बेरी कोइ लोहा कोई सोना केरी"।

६—उक्त-माया-रूप गैया को ढूँढ़कर उसका स्वरूप जानने के लिये ब्रह्मा विष्णु आदिक देवताओं ने बड़ा प्रयत्न किया, परन्तु खोज कर थक गये वह न मिली, क्योंकि ये ब्रह्मादिक अधिकारी-पुरुष स्वयं माया के कार्य हैं, अतः स्वकारण रूप माया को कैसे जान सकते हैं। और इस समय भी अनन्त सिद्ध-लोग उसी गैया को खोज में लगे हैं, परन्तु "गैया किनहुँ न पाई, अर्थात् " पूरा किनहुँ न भोगिया इसका यही वियोग "।

भाव यह है कि सिद्धलोग नाना प्रकार की सिद्धियों में भूले रहते हैं अतः उनकी सांसारिक वासनाएँ निवृत्त नहीं होतीं। "सिद्ध भया तो क्या भया, चहुँदिशि फूटी बास। अन्तर बाके बीज है, फिरि जामन की आस ॥"

कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! आप लोग सुनिये जो इस पद्य के अर्थ का निर्धारण करेंगे और जो इसको कहेंगे और बिचारेंगे वे सब "आगे होय निरवाहे" अर्थात् माया से आगे (रहित) होकर संसार सागर से पार हो जायेंगे। इस पद्य में श्लेषानुप्राणितसावयव रूपकालंकार भली भांति प्रतीत होता है।

(२९)

भाइरे नयन[1]-रसिक जो जागै।

पार-ब्रह्म अबिगति अबिनासी कैसहुँ के मन लागै ॥

अमली[2]-लोग खुमारी त्रिसुना, कतहुँ संतोष न पावै।

काम क्रोध दोनौं मतवाले, माया[3] भरि भरि आवै* ॥

ब्रह्म[4]-कलाल चढाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै।

संग[5] (हिं) पोच है ज्ञान पुकारै, चतुरा होय सो पावै ॥

संकट सोच पोच यह कलिमहँ, बहुतक ब्याधि सरीरा।

जहाँ धीर गभिर अति निरमल+, तहँ उठिमिलहु कबीरा[6] ॥

टि०—[ब्रह्म ज्योति-आदिक अनात्मोपासकों को उपदेश]

१ ज्योतिर्दर्शनाभिलाषी। २--अनात्म-व्यसनी। ३--मायारूप कलवा-

पाठा०—*ख० पु० प्यावै। + निहचल।

रिन विषयों का प्याला भर २ कर पिलाती है। "यह माया जैसे कलवा-रिन मद्य पिलाय राखै बौराई। एकतो पड़ा धूल में लोटे एक कहै चोखी दे माई !,, ४—रजोगुणरूप कलवार ने विषय–वारुणी की भट्टी चढ़ा रखी है। "काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः" (गीता)

५—कुत्सित–मन का सङ्ग नहीं छूटता, तिस पर भी मिथ्या–ज्ञान की पुकार लगाते रहते हैं।

६—ऐ अज्ञानियो ! तुमलोग निश्चल निजरूप का साक्षात्कार करो। कैसहुँके = बड़ी कठिनता से।

(३०)

(भाइरे) दुइ जगदीस[१] कहाँते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह राम करीमा केसो. (हरि) हजरति नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना, इनि महँ भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करिथापिनि, इक निमाज इक पूजा॥
वही महादेव वही महंमद ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमीं पर रहिये॥
बेद कितेब पढ़ैं वै कुतुबा[३] वै मोलना[४] वै पाँड़े[५]।
बेगरि[६] बेगरि नाम धराये एक मटिया के भाड़े[७]।
कहँहिँ कबिर वै दूनौं[८] भूले, रामहिं किनहुँ न पाया।
वै खँस्सी वै गाय कटावैं बादहिँ[९] जन्म गँवाया॥

टि०—(राम और रहीम की एकता)

१—मालिक । २—मानलिया । ३—बहुत सी किताबें रखने वाले । ४—मौलाना । ५—पण्डित । ६—अलग २ । ७—बरतन । ८—हिन्दू और मुसलमान । ९—व्यर्थ ही (फ़िज़ूल) । खँस्सी = बधिया बकरा ।

(३१)

हं[१]सा संसै छूरी कुहिया, गैया (पियै) बछरुवहिं दुहिया ॥
घर[२] घर सावज करै अहेरा, पारथ ओटा लेई ।
पानी माँहिं तलफि गे भँभुरि, धूरि हिलोरा देई ॥
धरनी[३] बरसै बादर भीजे, भींटि भये पौराऊ ।
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्धा पाँऊ ॥
जो[४] लगि कर डोलै पगु चालै, तौ लगि आस न कीजै ।
कहहिं कबिर जेहि चलत न दीसै, तासु बचन का लीजै ॥

* टीका *

[प्रपंची गुरुओं की सङ्गति का फल]

१—"हंसा ससै छूरी कुहिया" । कबीर साहब कहते हैं कि चिदाकाश में तथा निजानन्द-सागर में विहरने वाले हे हंसा [जीव] तू अनात्म पदार्थों में उरझाने वाले प्रपञ्ची गुरुओं की वाणी-रूपी जाल में फँस गया, इसी कारण तेरे कलेजे में संशय—रूपी छुरी लग गयी, अर्थात् कुसङ्ग वश उलटा ज्ञान होने से तू प्रपञ्च में अनुरक्त हो गया है, अतः

नाना शोक सन्ताप संशय तुझको लग गये हैं। आकाश में उड़ने वाले को छुरी का लगना बड़ा आश्चर्य है। और भी अचरज देखिये कि "गैया पियै बछरुवहिं दुहिया"। जब जीव प्रपञ्च में रत गया तब गैया [माया] ने बछरुवे [इस जीव] का ज्ञानरूपी दूध दुहकर पी लिया। "माया मोह मोहित कीन्हा। ताते ज्ञान- रतन हरि लीन्हा" (बीजक) अर्थात् प्रपञ्च में पड़कर जीव अज्ञानी हो गया।

२—यह भी एक अचरज ही है कि "घर घर सावज करै अहेरा" सावज = जंगली जानवर, (मन) सबों के हृदयों में ज्ञान वैराग्यादिकों का आखेट कर रहा है अर्थात् मन सबों को भटका रहा है, और जो पारथ = पारधी (वीर) जीव आत्मा है, वह असदुपदेश से नाना देवताओं की उपासना रूपी ओटा = आड़ में अपनी रक्षा के लिये छिपता है। और भी देखिये वञ्चक गुरुओं के उपदेश से जीवों की चित्त-वृत्ति रूपी मछली ऐसी हो गई है कि वह निजानन्द-रूप "पानी माँहि तलफि गई" अर्थात् परम शान्ति रूप ठंडा पानी उसको सन्तापकारी मालूम होने लगा। और जो घुँभुरी = धूर (त्रितापकारिणी विषय वासना) है उसमें हिलोरा लेने लगी अर्थात् आत्म-सुख से विमुख होकर विषय-संताप में पड़ गयी।

३—यह भी एक निराली ही बात है कि धरती [बुद्धि] जो धारण करने वाली है वह बरसती है; अर्थात् बुद्धि नाना मतों का निश्चय करती है। और बादर [अज्ञानी जीव] बरसने वाला उस पानी से भींजता है, अर्थात् जीव-आत्मा नाना मतों में अनुरक्त होकर उन्हीं को धारण करता है। और जो भींट—[ऊँची भूमि] जीवों के हृदय हैं, वे नाना संशय रूपी जल में बूड़ गये हैं, इस कारण " भये पौराऊ" अर्थात् तैरने लायक होगये हैं। इस प्रकार अज्ञानता में पड़े हुए जीवों का जब अन्त-समय आया तब

"हंस उड़ाने ताल सुखाने"। अर्थात् हँस (जीव) जब शरीर को छोड़कर चला गया, तब ताल (शरीर) सूख गया। लोक में तो ताल सूखने के पश्चात हंस उड़ते हैं, परन्तु यहाँ तो हंस के उड़ने से ही ताल सूखता है, यह कैसी विचित्र बात है। हंस सूखे--ताल को छोड़कर उड़ तो गया परन्तु सरोवर का प्रेम, उसके हृदय से न गया. इस कारण दूसरे २ विमल एवं परिपूर्ण सरोवरों के विकसित-कमल-वनों में स्वच्छन्द बिहार के लिये उसको जाना पड़ा, इस अभिप्राय से यह कहा है कि "चहले बिंधा पाँऊ"। अर्थात् उक्त हंस का पैर उड़ते समय चहले = वासना—पंक में बिंधा = फँस गया, इसलिये पूर्ण स्वतन्त्र न हो सका। भाव यह है कि यह हंस (जीव) नाना भोगों में आसक्त होकर नाना योनियों में भ्रमण करता ही रहता है। जब तक सद्गुरु के शरण में आकर अपने शुद्धरूप को नहीं पहचानता है तब तक भव-चक्र नहीं छूटता है। 'हंसा सरवर तजि चला देही परिगौ सून। कहँहि कबीर बिचार के तेइ दर तेई थून"।

४—अब विवेक की आवश्यकता और सद्गुरु का परिचय देते हैं कि 'जौ लगि कर डोलै पगु चालै तौ लगि आस न कीजै। कहहिं कबिर जेहि चलत न दीसै तासु बचन का लीजै"। कबीर साहब कहते हैं कि हे भाइयो! दूसरे के प्रलोभन में आप लोग न पड़िये, क्योंकि यह जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं उनके फलों को भी भोगता है। एवं स्वयं अज्ञान वश संसार में भ्रमण करता है, तथा ज्ञान प्राप्त होने पर स्वयं मुक्त भी हो जाता है। इसलिये दूसरों की दिलाई हुई मुक्ति की आशा को छोड़कर पूर्ण प्रयत्न से ज्ञान के साधन विवेकादिकों को धारण करिये, जिससे कि ज्ञानोदय होने से निःसन्देह मुक्ति मिल सके। और नाना बिडम्बनाओं में

डालने वाले वंचक गुरुओं के वचनों को मत मानिये। जो स्वयं सत्य-मार्ग पर नहीं चलते उनके वचनों के मानने से क्या लाभ होगा ? उचित तो यह है कि 'जैसी कहै करैं पुनि तैसी राग द्वेष निरुवारै। तासें घटै बढ़ै रतियो नहि यहि विधि आप सँभारै। कहा हमार गाँठि दृढ़ बांधहु निसि वासर रहियो हुशियारा। ये कलिगुरू बड़े परपंची डारि ठगौरी सभ जग मारा"। इस पद्य में भी श्लेष-घटित-ताद्रूप्य-रूपक अलंकार है। क्योंकि हंस के साधर्म्य से हंस (जीव) में हंस का आरोप किया गया है। और "गैया पिये बछरुये दुहिया" इत्यादि स्थलों में बिरोधाऽऽभास अलङ्कार है, क्योंकि सुनने में तो ये पद विरुद्ध से मालूम पड़ते हैं, परन्तु अर्थ समझने से बिरोध हट जाता है।

(३२)

हंसा[1] हो चित चेतु सबेरा,[2] इन्हि[3] परिपंच कैल* बहुतेरा।
पाखँड रूप रचिन्हि इन्हि तिरगुन,[4] तेहि पाखँड भूलल संसारा॥
घरके[5] खसम बधिक वै राजा,[6] परजा का धौं करे बिचारा।
भगति न जानै भगत कहावै, तजि अम्रित बिष कैलिन्ह सारा[7]॥
आगे बड़ ऐसहि भूले, तिनहूँ न मानल कहा हमारा।
कहहि हमारो गाँठी बांधहु, निसुवासर रहियो हुसियारा॥
ये कलिगुरु बड़ परिपंची, डारी ठगौरी सभ जग मारा॥
बेद कितेब[8] दुइ फंद पसारा, तेहि फंदे परु आपु बिचारा।

+ छन्द समान सवैया विशेष।

कहँहिँ कबिर ते हंस न बिसरे, जेहिमा मिलन छुडावनि हारा ॥

टि०—(शिक्षा और उद्बोधन)

१–हे हंस ! विवेकीजन ! २–जल्दी । ३–वञ्चक गुरुओंने । कैल=किया है । ४–त्रिगुण-मन । "त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ५–वेद बाद-रत । "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः" [गीता] ६—अज्ञानी । ७–सबों ने । ८—कुरान । (इस्लामी-किताबें)

(३३)

(सुनु) हंसा[1] प्यारे * सरवर[2] तजि कहाँ जाय ।

जेहि सरवर बिच मोतिया[3] चुगत होते, बहु बिधि केलि[4] कराय ॥

सूखे ताल[5] पुरइनि[6] जल छाँड़े, कवँल[7] गइल कुम्हिलाय ।

कहँहिँ कबिर अबकी के बिछुरे, बहुर मिलहु कब आय ॥

टि०—शरीर-वियोग (अन्तिम दृश्य)

१—हे जीव ! २—शरीर को । ३—ज्ञान । ४–केलि, विहार ५—शरीर । ६–नेत्र । ७—मुख । दूसरे पक्ष में यथा श्रुत 'सुन्दर तालाब

पाठा० ×क पु० कहहि कबिर तेहि हँस न बिसरो, जाहि मैं मिलौं छुड़ावनि हारा । जामे मिले छुडावनि हारा ।

आदिक अर्थ है। यहाँ पर हंस पद श्लिष्ट है अतः श्लेपोत्थापित रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है।

(३४)

हरिजन† हंस-दशा लिये डोलैं, निरमल नाम चुनी चुनि बोलैं।
मुकताहल[2] लिये चौंच लभावैं, मौन रहैं की हरि-जस[3] गावैं।
मानसरोवर[4]-तट के वासो, रामचरन चित अन्त उदासी।
कागा कुबुधि[5] निकट नहिं आवैं, प्रतिदिन हंसा दरसन[6] पावैं।
नीर-छीर[7] का करै निवेरा, कहँहिँ कबिर सोइ जन मेरा।

टि०—(निज-भक्तों के लक्षण तथा हंस स्थिति)

१—हंस स्थिति, हंस-अवस्था। २—मोती, ज्ञानादिक-सद्गुणों की प्राप्ति के लिये अपनी वृत्तिरूप चोंच को लभावें=फैलाते हैं। ३—हरि-गुन। ४—शुद्ध मन रूप सरोवर के तट में निवास करते हैं। ५—कुबुद्धि रूप कौवे उनके समीप नहीं जाते। ६—विवेकियों का समागम हुआ करता है। ७—सत्यासत्य का। "साधु सन्त तेइ जना (जिन) मानल वचन हमार"।

(३५)

* हरि मोरा पीऊ[1] मैं रामकी बहुरिया[2], राम बड़ो मैं तनकि लहुरिया[3]।

---

† यह चौपाई छन्द है। * मात्रिक दण्डक छन्द।

हरि मोरा रहँटा[4] मैं रतन-पिउरिया[5], हरि के नाम लेन*कातति बहुरिया

छव-मास[6] ताग, बरिस[7] दिन कुकुरी, लोग बोलैं भल कातल बपुरी।

कहंहि कबीर[8] सूत भल काता, चरखा[9] न होय मुकुति के दाता।

टि०—[नामोपासकों की धारणा]

१—प्यारा (पति)। २—दुलहिन। ३—बहुत-छोटी। ४—चरखा। ५—अच्छी पिउनी (पूनी)। ६—छः महिने के सादर और निरन्तर (राम-नाम के जप रूप) अभ्यास से बाह्य-वृत्तियों की क्षीणता और आन्तर-वृत्तियों का सन्धान रूप-तागा सूत, बना। ७—और इसी प्रकार एक वर्ष के अभ्यास से आन्तर-वृत्ति-प्रवाह, तथा धारणा, ध्यान और समाधिरूप कुकुरी=सूतकी अंटी, तैयार हुई। ८—जप-योग। ९—विना ज्ञान के केवल नाम-रटन से मुक्ति नहीं होती। ‘बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु नाम लिये का होई धन के कहे धनिक जो होवै निरधन रहै न कोई” (बीजक)।

(३६)

हरि[1] ठग जगत ठगोरी लाई, हरि वियोग कस जिअहु रे भाई।

(को) काको पुरुष कवन का कि नारी, अकथ कथा[2] जम दिष्टि पसारी

(को) काको पुत्र कवन का को बापा, को रे मरै का सहै सँतापा॥

ठगि ठगि मूल[3] सभनि को लीन्हा, राम ठगौरी[4] काहुँ न चीन्हा।

कहँहिँ कबिर ठग सों मन माना, गई[5] ठगौरि जब ठग पहिचाना॥

---

*पाठा०—सुत।

टि०—[मोह-जाल]

१—हरिरूप-धन को ठगने वाला 'मन'। २—मनरूप यमराज ने अपनी क्रूर दृष्टि फैला रखी है। ३—पूंजी ज्ञान। ४—रामठग मनकी ठगौरी=ठगपन को। ५—जब ठगको पूरी तरह पहिचान लिया तब उसका ठगपन जाता रहा।

भावार्थ—जिस प्रकार ठग को पहिचान लेने से मनुष्य उससे सचेत रहता है, इसी प्रकार मन की प्रतारणाओं को जान लेने से आत्मधन को बचा सकता है।

(३७)

हरिठग ठगत सकल-जग डोले, गवन करत मोसे मुखहुँ[१] न बोले।
बालापन के मीत[२] हमारे, हमहीं तजि कहँ चलेउ सकारे[३]॥
तुह अस पुरुष, हुँ नारि तुहारी, तुहरि चालि[४] पाहनहुँते भारी।
माटिक[५] देह पवनके सरीरा, हरिठग-ठग[६] से डरहिँ कबीरा॥

टि० [प्राण वियोग]

१—(काया और प्राण-पुरुषका सम्वाद) (सूक्ष्म-शरीर में मन और प्राणों की प्रधानता होती है) जिन प्राणों की पुष्टि और तुष्टि के लिये हरि-भक्ति को भी जलाञ्जलि देनी पड़ी थी, वे प्राण चलते समय मुख से बोले तक नहीं। २–मित्र। ३–सबेरे, जल्दी। ४–दशा, हृदय– की स्थिति। ५—जिस प्रकार मिट्टी को छोड़कर पवन चला जाता है, इसी प्रकार स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर चला जाता है। ६—हरि–भक्ति से

विमुख कराने वाली इस प्राण-प्रीति और मन की प्रीति रूप ठगनी (ठग) से उपासक, हरि-भक्त सदैव डरते रहते हैं।

भजन–" चल दिये प्रान काया रहै रोई । चल दिये प्रान । मैं जानौं यह सङ्ग चलेगी तेहि कारन काया मल मल धोई "। चल दिये प्रान ।

(३८)

हरि[1] बिनु भरम-बिगुरचे गंदा।
जहँ जहँ गयो अपनपौ[2] खोयो, तेहि फंदे[3] बहु फंदा ॥
जोगी कहैं जोग है नीको, दुतिया अवर न भाई।
चंडित[4] मंडित मौनि जटाधर, तिनहूँ कहाँ सिधि पाई ॥
ज्ञानी गुनी सूर[5] कवि दाता, ई जो कहँहिं बड़ हमहीं।
जहँ[6] इसे उपजे तहँइ समाने, छूटि गयल सभ[7] तबही ॥
बाँये[8] दहिने तजो विकारा, निजुकै[9] हरिपद गहिया।
कहँहिं कबिर गूंगे गुर खाया, पूछे से का कहिया[10] ॥

टि०–[गुरु-पद]

१—अज्ञानी लोग हरि (सर्व-पाप-हारो निज पद) से विमुख होकर अपावन भ्रम-पङ्क में फँस जाते हैं । २–अपने आपको (स्वरूपको) ३–भ्रम के फन्दे में । ४–शिखाधारी । ५–वीर । ६–माया से । ७–सारा अहंकार जाता रहा । ८–अपमान और मान के भाव को । और वाम-मार्ग

तथा दक्षिण मार्ग को। एवं-ईडा और पिङ्गला के चक्र को। ९-अपना (कल्याण कारक) समझ कर (पूरी तरह)। १०—हरि-पद (गुरु पद) प्राप्ति का परमानन्द स्वसंवेद्य है, अतः कहने में नहीं आसकता है।

(३९)

ऐसे हरिसों जगत लरतु है, पंडुर कतहुँ गरुड़ धरतु है।
१
मूँस बिलाई कैसनि हेतू, जँबुक करै केहरि सों खेतू॥
३
अचरज इक देखहु संसारा, सुनहा खेदै कुँजल असवारा।
४
कहँहिं कबीर सुनहु संतो भाई, इहै संधि काहु बिरले पाई॥

* टीका *

(आत्म-विमुखता)

१—माया के फन्दे में पड़े हुए संसारी लोग सर्वान्तरात्मा और आनन्द-घन ऐसे हरि (सर्व कष्टों को हरण करने वाले, निजानन्द) से "लरतु है" अर्थात् वञ्चित हो रहे हैं। (अलग हो रहे हैं) इतना ही नहीं, हरि का साक्षात् करने वाले महात्मा तथा भक्त जनों से भी संसारी लोग लड़ते झगड़ते रहते हैं सो "पण्डुर कतहूं गरुड़ धरतु हैं" क्या पांडुर (जल का सर्प) गरुड़ को पकड़ सकता है? कभी नहीं। अर्थात् संसारी लोग ज्ञानी तथा भक्तों को अपने लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकते हैं।

२—अब यह बतलाया जाता है कि:—अज्ञानी लोग वञ्चक-गुरुओं से तो प्रेम करते हैं, और सत्य उपदेश देकर पाखण्डों से हटाने वाले

गुरुओं से बैर करते हैं ये दोनों ही बातें अनुचित हैं। "मूस बिलाई कैसन हेतू"। अर्थात् बिलाई (बञ्चक गुरु) मूस=अज्ञानियों के हितकारी कैसे हो सकते हैं, क्योंकि वे तो स्वार्थवश उनसे प्रेम करते हैं। और 'जम्बुक करै केहरि सों खेतू"। अर्थात् केहरि के समान निर्भय ज्ञानी-पुरुष तथा भक्त जनों का जम्बुक के समान भय–कातर अज्ञानी लोग क्या पराभव कर सकते हैं? कदापि नहीं!

३—संसार में यह तो एक बड़ा भारी अचरज है कि "सुनहा खेदै कुञ्जर असवारा"। हाथी के सवार ज्ञानी-पुरुष एवं भक्तों को कुकुर के तुल्य संसारी-लोग डराते हैं, अर्थात् नाना प्रकार की आपत्तियाँ उपस्थित करते हैं.

४—कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! आप सुनिये "यह सन्धी काहु विरले पाई" हरि का सच्चा परिचय तो किसी किसी को मिला है। अधिक लोग तो हरि-ठगों के फन्दों में ही पड़े हुए हैं। नोट—इसमें विरोधाभास अलङ्कार है। लक्षण—भासे जबै विरोध को, यहै विरोधाभास' (भाषा-भूषण)। इस प्रसङ्ग में यह कैसा अच्छा भजन है कि—

तूँ तो राम सुमिर जग लड़ने दे॥ टेक॥
कोरा-कागज कारी-स्याही, लिखत पढ़त वाको पढ़ने दे॥ तूँ तो०॥
हस्ती चलत है अपनी गति से कुतवा भूँके वाको भूकने दे।
देवी देवा भूत भवानी पथर पूजै वाको पुजने दे।
कहँहि कबीर सुनो भाई साधो! नरक पड़े वाको पड़ने दे।

(४०)

पंडित[1] बाद बदै सो झूठा।
[2]राम कहे जो जगत गति पावै, (तब) खाँड कहे मुख मीठा।

पावक कहे पाँव जो डाहै, जल कहे त्रिषा बुझाई।
भोजन कहे भूख जो भाजे, तो[3] दुनिया तरिजाई।
नलके संग* सुवा हरि बोलै, हरि-परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़िजाय जंगल महँ, तो हरि सुरति न आनै।
बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु नाम लिये का होई।
धन के कहे धनिक जो होई, निर-धन रहै न कोई।
साँची प्रीति × विषय माया से, हरि भगतन को फाँसी + ।
कहहिं कबिर एक राम[4] भजेबिनु, बाँधे जमपुर जाँसी[5]।

टि०—[अन्ध विश्वास]

१—वाद- विवाद (झगड़ा) २—राम-परिचय के बिना केवल रामनाम के कहने से ३—यदि यह असम्भव-परम्परा-सम्भवरूप को धारण करले तो विनाजाने हुए राम-नाम के जपने से भी सारी दुनिया संसार-सागर से पार हो जाये। ४—राम रमैया राम के स्वरूप परिचय के बिना। [आत्म-साक्षात्कार के बिना] ५—जाता है।

भावार्थ—"नाम न लिया तो का हुआ जो अन्तर है हेत।
पतिबरता पति को भजै कबहुं नाम नहिं लेत॥ (अङ्ग साखी)

(४१)

पंडित देखहु मन महँ जानी।
कहुधौं[1] ! छूति कहाँते उपजी, तबहिँ छूति तुम मानी॥

---

*क पु० नलके साथ। × ख पु० हेतु। + ख पु० हांसी। ! क पु० कहु दहुं।

२
नादे बिन्दे रुधिर के संगे, घटही महँ घट सपचै ।
३
अस्ट-कवँल होय पुहुमी आया, छूती कहाँते उपजै ?
४
लख चौरासी नाना बासन, सो सब सरि भौ माँटी ।
५
एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेतधौं काकी + ? ॥
६
छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन, छूतिहि जगत उपाया ।
७
कहहिँ कबिर ते छूति-बिबरजित, जाके संग न माया ॥

टि०–[छूवा-छूत विचार]

१–भला कहिये तो सही । २–पवन वीर्य और रजके सम्बन्ध से गर्भाशय में गर्भ रहता है, अनन्तर वह क्रमशः फेन बुद्बुद कलल और पेशी रूप को धारण करता हुआ शरीर रूप में परिवर्तित होकर, सपचैं=बढ़ता है । ३–पश्चात् पूरा समय होने पर मणि पूरक नाम वाले अष्टदल-कमल (नाभी चक्र के नीचे रहने वाले गर्भ) से बालक पृथिवी पर आता है । सब मनुष्यों के जन्म का यही प्रकार है, इस दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक ही होता है कि, "यह अनाखा छूवाछूत का भूत कहाँ से पैदा हुआ है,, ? ४–चौरासी-लाख-योनियों में बटे हुए प्राणियों के विविध-शरीर रूपी अनेक बर्तन, सड़ गलकर मिट्टी बन गये हैं । ५–ईश्वर ने अपने सब पुत्रों को एक ही (पृथ्वी रूप) पीढ़े पर बैठाया है । भला अब बतलाइये आपमें से कौन सा भाई अछूत है

पाठा०— × ख पु० सींचि लेत धौंकाटी ।

६–यदि तत्वतः शौचाशौच का निर्णय करते हैं तो सब पदार्थों की उत्पत्ति आदि का विचार तटस्थ होकर करिये। ७–हाँ यदि छूत से कोई बचा हुआ है तो केवल वह है जिसके साथ माया नहीं है।

भावार्थ–हरि–चरणों से उत्पन्न हुए भाइयों को निष्कारण अछूत मानना हरि के चरणों का भारी तिरस्कार करना है।

(४२)

पंडित सोधि[1] कहहु समुझाई, (जाते) आवागवँन नसाई।
अरथ[2] धरम अरु काम मोच्छ फल, * कवन दिसा बस भाई॥
उतर कि दच्छिन पुरुब कि पच्छिम, सरग पताल कि माँहीं।
बिनु[3] गोपाल ठवर नहिँ कतहूँ, नरक[4] जात धौं काहे॥
अनजाने[5] को सरक नरग है, हरि जाने को नाहीं।
जेहि डरते भवलोग डरतु हैं, सो डर[6] हमरे ÷ नाहीं।
पापपुन्न की संका नाही, सरग नरक नहिं जाहीं।
कहहिँ कबीर सुनहु हो संता, जहँ पद[7] तहाँ समाहीं॥

टि०–[ज्ञानियों की स्थिति]

१–खूब समझ कर। २–लोक विशेष में जाने वाले ही मुक्त होते हैं, ऐसा मानने वालों से यह प्रश्न है। ३–यह तो केवल आप लोगों

पाठा०–ग० पु० कहु* क० पु० सभ। ÷ क० पु० सो डर हमन डराहीं।

का कथन मात्र ही है कि "बिनु गोपाल ठवर नहिं कत हूँ" । ४—यदि सचमुच ही ऐसा है तो भला बतलाइये ? कि "नरक जात धौं काहे" ५—वस्तुतः बात यह है कि "अन जाने को सरग नरक है" इत्यादि । ६—अपरोक्ष ज्ञानियों को । "मगहर मरै सो गदहा होय । भल परतीति राम सों खोय । मगहर मरैं मरन नहि पावै । अनते मरै तो राम लजावै । का कासी का मगहर ऊसर, (जोपै) हृदय राम बसै मोरा । जो कासी तन तजै कबीरा रामहि कवन निहोरा" । ७—अमर-पद, अमर-लोक, स्वरूप । "तस्याय मात्माऽयं लोकः एतमेव लोकमभीप्सन्तःप्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति"

"ज्ञान-अमर-पद बाहिरे नियरे ते है दूरि ।
जो जानै तेहि निकट है, रहा सकल-घट पूरि" ।

"अमर-लोक-फल लावै चाव कहैं कबीर बुझै सो पाव" (बीजक)

"बद्धो मुक्तइति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्यमायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्" । (भागवत)

इस प्रकार ज्ञात होने पर स्वरूप में स्थित हो जाते हैं ।

(४३)

पंडित मिथ्या करहु बिचारा, (नवहां[१]) सिस्टि न सिरजनिहारा ।
थूल (अ)स्थूल पवन नहिं पावक[२], रवि ससि[३] धरनि न नीरा ॥
जोति-सरूप-काल[४] नहि उहवां, बचन न आहि[५] सरीरा ।

करम धरम किछुवो नहिँ उहवाँ, ना वहँ मंत्र न पूजा ॥
संजम सहित भाव नहिँ उहवाँ, सो धौं[6] एक कि दूजा ।
गोरख राम[7] एकौ नहिँ उहवाँ, ना वहँ बेद[8]-बिचारा
हरि हर ब्रह्मा नहिँ सिव सक्ति ना वह तिरथ अचारा ।
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो (धौं) दूजा कि अकेला ॥
कहहिँ कबिर[9] जो अबकी बूझै, सोइ गुरू[10] हम चेला ॥

टि०—(स्वरूप स्थिति एवं तत्व- विचार)

१—निज-पद, स्वरूप में । २—अग्नि । ३—चन्द्रमा । ४—निरञ्जन (मन) ५—है । ६—भला ऐसी स्थिति में उसको एक कहा जाय या दो । भावार्थ—वह न द्वैत है न अद्वैत है क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं और वह "तत्व" निरपेक्ष है । ७—आदिराम [अवतार] ८—' यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" । ९—नर-तन पाकर । "मानुष-जन्म हि पाय नर काहे को जहँडाय" । १०—इस कथन से ज्ञाता की श्रेष्ठता और वक्ता की अधीनता सूचित होती है । यह असाधारण उपदेशकों का परम गुण है । "दादा भाई बाप के लेखा, चरनन होइहों बन्दा । अब की पुरिया जो निरुवारे सो जन सदा अनन्दा" ।

(४४)

बूझहु[1] पंडित करहु बिचारा, पुरुष है की नारी (हो)
ब्राह्मन[2] के घर ब्राह्मनि होती, जोगी के घर चेली (हो)
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकनी, कलिमहँ रहित अकेली (हो)

बर[२] ना बरै ब्याह ना करई, पुतजनमावनिहारी + (हो)

कारे मूँडको * एक न छाँडै, अजहूँ आदि कुँवारी (हो)

मैके[४] रहै जाय नहिँ ससुरे, साँई संग न सोवै (हो)

कहँहिँ कबिर वे जुग जुग जीवैं, जाति पाँति कुल खोवैं (हो)

* टीका *

(अनोखी नारी)

१—हे पण्डितो ! आप लोग इस बात को समझिये और खूब विचारिये कि यह माया पुरुष है या स्त्री है। इसकी प्रबलता से तो यही मालूम होता है कि यह पुरुष ही है, क्योंकि इसने सारे संसार को बाँध रक्खा है "बाँधे ते छुटे नहीं ज्ञानी।"

२—इसकी अघटित-घटनाओं का थोड़ा सा परिचय मैं आपको देता हूँ "ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती, जोगी के घर चेली'। इस माया ने अपराविद्या (वेदादि विद्या) रूप से तो ब्राह्मणों के हृदयागारों को हस्त गत कर लिया है। भाव यह है कि अधिक तर ब्राह्मण लोग अपरा विद्या (कर्मकाण्डादिकों) के अहङ्कार में पड़ कर आत्मविद्या से वञ्चित रह जाते हैं। और चेली (दश मुद्रा तथा कुण्डलिनी) बन कर योगियों के चित्तों को लुभा लिया है।

पाठा०— + पुत्र जन्मावति हारि। * कारे मूँड कोवो नहि छोड़ै।

भावार्थ—यह है कि योगी लोग कुण्डलनी को सुधार ने तथा मुद्राओं को सिद्ध करने की ही धुन में सदा लगे रहते हैं, आत्म-चर्चा सुनने का तो उनको अवसर ही नहीं मिलता है। और भी देखिये कि यह माया तुरुकों के घरों में कलमा पढ़ कर तुरुकनी बन कर बैठ गई है। भाव यह है कि निकाह के समय मुसलमान लोग वर और वधू को कलमा पढ़ाते हैं, स्त्री माया रूप है ही, अतएव मानों माया ही मुसलमानों को वश में करने के लिये कलमा पढ़ कर तुरुकनी बन बैठी है। इस प्रकार सारे संसार को अपने फन्दे में फाँसती हुई भी "कलि में रहति अकेली"। स्वयं निर्बन्ध होकर विचरती है। कलि अधर्म-प्रधान युग है इसलिये 'कलि' में कहा है।

३—यह माया रूपी स्त्री तो ऐसी नटखट है कि वर (श्रेष्ठज्ञानियों को) नहीं वरती है, अर्थात् ज्ञानियों से सगाई (लगन) नहीं जोड़ती है। और शुद्ध चेतन से विवाह भी नहीं करती है। इस प्रकार आपाततः विमला होने पर भी यदि सूक्ष्म-दृष्टि से इस माया के चरित्रों का निरीक्षण किया जाय तो स्पष्ट ही यह विदित हो जाता है कि यह माया तो "पुत्र जनमावत हारी" अर्थात् माया चेतन की सत्ता से शवलित जीवेशों को तथा प्रपञ्च को बार बार पैदा करती करती थक सी गयी है। यह माया की गुप्त लीला है, जिसको ज्ञानी ही जानते हैं। माया के और और चमत्कारों को सुनिये, इस माया ने सब ही अज्ञानियों को वश में कर लिया है एक भी काले मूँड को (अज्ञानी को) नहीं छोड़ा, तो भी आद्या शक्ति माया अब तक अविवाहिता (कुमारी) ही बनी हुई है। भाव यह है कि माया ने सबों को वश में कर लिया है, परन्तु माया को किसी अज्ञानी ने पति बन कर अधीन नहीं किया "पूरा किन्तु न भोगिया इसका यही वियोग।"

क्योंकि चींटी से ब्रह्मा पर्यन्त सारा संसार या माया ही के पुत्र (कार्य) हैं; अतः ये सब माया के पति किस तरह बन सकते हैं।

४—कबीर साहब कहते हैं कि यह माया मैके = नैहर (संसार) में ही रहती है। और ससुरे (निजपद, आत्मपद) में तो पैर भी नहीं देती है। और यदि किसी प्रकार ससुराल में चली भी जाय; अर्थात् चेतन को शबलित कर भी ले, तौ भी "सांई संग न सोवै" सांई = शुद्ध चेतन सों तो ज्ञान के बिना माया का लय कदापि नहीं हो सकता है।

अब माया के फन्दे से छूटने का सर्वोत्तम साधन बताते हैं। जो जाति, विद्यादि और कुलादिकों के अहंकार को छोड़ देते हैं; और स्वरूप परिचय के लिये सतत-प्रयत्न करते हैं; वे निज रूप का साक्षात्कार करके "युग युग जीवै" अर्थात् सदैव अमर (जीते) रहते हैं। थोड़े काल के लिये अमर तो देवता भी हो जाते हैं; इसलिये 'युग युग' (सदैव) पद दिया है।

(४५)

को[1] न मुवा कहो पंडित जना * सो समुझाय कहो गोहिसना[2] *
मूये ब्रह्मा[3] बिस्नु महेसा * पारबती-सुत मुये गनेसा।
मूये चंद मुये रवि सेसा * मुये हनुमत[4] जिनि बाँधल सेता।
मूये किस्न मुये करतारा[5] * एक न मुवा जो सिरजनि[6] हारा।

पाठा०—*स्याना।

कहँहिं कबीर मुआ[7] नहि सोई * जाके आवा गँवन न होई ।

टि०—(मृत्यु विचार)

१—यहाँ पर 'को न' ऐसा भिन्न-पद-पाठ (अलग अलग पाठ) प्राचीन लिखित पुस्तकों में है । २—मुझसे । ३—इन्होंका अधिकारावसान रूप ही मरण है । " अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परम्पदम् " । ४—सेतु-बन्ध में पूरे सहायक थे । ५—गुणाभिमानी, कर्तापने का अहङ्कार रखने वाले । " यःकर्ता स एव भोक्ता " । " अहङ्कार विमूढ़ात्मा कर्ताह-मिति मन्यते (गीता) ६—सत्तामात्र से सर्जन आदिक व्यवहार कराने वाला (शुद्ध—चेतन) ७—उक्त आत्म-तत्व को साचात्कार करने वाला, मुक्त—पुरुष ।

(४६)

पंडित अचरज एक बड़ होई ।

एक[1] मरे मुवले अन नहिँ खाई, एक मरे[2] सिझै रसोई ।

करि सनान देवन की पूजा, नौ[3] गुनि कान्ध जनेऊ ।

हँड़िया हाड़ हाड़ थरिया मुख, अब[4] षट करम बनेऊ ।

धरम[5] कथै जहँ जीव बधै तहँ, अकरम करे मोरे भाई ।

जो तोहरा को ब्राह्मन कहिये, (तो) काको कहिये कसाई[6] ।

कहँहिँ कबीर सुनहु हो संता, भरम भूलि दुनियाई ।

अपरमपार[7] पार परसोतिम, या गति बिरलै पाई ।

टि०—(मांसाहारी ब्राह्मणों से प्रश्न)

१—घर के आदमी के मरने पर। २—बकरे आदि को मार कर विधि पूर्वक रसोई [भोजन] बनायी जाती है। ३—अहिंसा अक्रोध आदिक नवगुणी जनेऊ (यज्ञोपवीत) कन्धे पर धारण करते हुए भी ऐसा घृणित कार्य करते हैं यह आश्चर्य है। ४—इस कर्म से आप ने षट्कर्मों की बड़ी प्रतिष्ठा हुई यह, काकू (परिहास-वचन) है। ५—धर्म की प्रधानता होने ही के कारण जिस यज्ञ की संज्ञा ही 'धर्म' हो गयी है, "तत्र यागादि रेवधर्मः" (मीमांसा) उसी परम पवित्र यज्ञ में आप लोग पशु-बध रूप महा पाप करते हैं। अथवा धर्म स्थानों में हिंसा रूपी अधर्म किया जाता है। ६—"जीवत जिय मुरदा करै करमहिं भया कसाइ।" (साखी संग्रह) ७—निर्लेप-आत्मदेव सब बिकारों से रहित है। इसका परिचय किसी विरले को होता है।

भावार्थ —"जिभ्या स्वाद के कारने (नर) कीन्हे बहुत उपाय"

(४७)

पाँड़े[१] बूझि पियहु तुम पानी।

जिहि-मटिया के घर महँ बैठे, ता महँ सिस्टि समानी।
छपन कोटि-जादव[२] जहँ भींजे, मुनिजन सहस-अठासी।
पैग पैग* पैगंबर गाडे, सो सभ सरि भौ माटी।
(तेहि मटिया के भाँड़े पाँड़े, बूझि पियहु तुम पानी।

पाठा०—* क, पु. परग परग पैगम्बर।

मच्छ कच्छ घरियार बियाने. रुधिर नीर जल भरिया।

नदिया नीर नरक बहि आवै. पसु मानुप सभ सरिया।

हाड़[3] झरी झरि गूद गरीगरि[4], दूध कहाँते आया।

सो लै पाँडे जेंवन बैठे, मटियहिं[5] छूति लगाया।

बेद कितेब छाँड़ि[6] देहु पाँड़े, ई सभ मन के भरमा।

कहँहिँ कबीर सुनहु हो पाँड़े, ई सभ तुहरे[7] करमा।

टि०—[जल-विचार]

१—८ पण्डित! आप जाति पूछ कर पानी पीते हैं, परन्तु तत्वों के स्वरूपों (स्थितियों) का विचार नहीं करते हैं। २—जिस पृथ्वी में गल कर सड़ गये। पैग पैग=पैंड़। २ में। ३—जिस प्रकार गो-माता का दूध अस्थि और मज्जा को स्पर्श करता हुआ निकलता है; परन्तु अपनी श्रेष्ठता के कारण अपवित्र नहीं हो सकता है; इसी प्रकार धरती (पृथ्वी) माता भी किसि मनुष्य के केवल छू देने से अपवित्र नहीं हो सकती है। ४—गली गली राहन रास्ते। ५—पृथ्वी में। ६—अपने अज्ञानियों की लगाई हुई छूआ छुत को सिद्ध करने के लिये वेदों के प्रमाण देना छोड़ दीजिये; क्योंकि यह सब छूआ छूत लीला आप लोगों के मन की कल्पना है। वेद में तो "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादि मंत्र से एक ही पिता से सबों की उत्पत्ति का विधान है। ऐसी स्थिति मे किसी भाई को निष्कारण (जन्मनः) नीच ठहराने का आपको क्या अधिकार है। ७—वैदिक—

विचार से तो यही ज्ञात होता है कि, ये सब आप ही लोगों की करतूतियां हैं।

भावार्थ—आप लोग अग्रजन्मा अर्थात्, सब लोगों के बड़े भाई हैं; इस कारण स्वाश्रित छोटे भाइयों को गले से लगाना, और उनकी शिक्षा और दीक्षा के लिये सदैव सतर्क रहना, आप सबों का परम-धर्म्म है। "एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः"। (मनु०)

(४८)

पंडित देखहु हिदय बिचारी, को पुरुषा को नारी[१]।
सहज[२] समाना घट घट बोलै, वाके चरित अनूपा॥
वाको नाम काह कहि लीजै, (ना)*वाके बरन न रूपा।
तैं मैं काह करसि नर बौरे, का तेरा का मेरा॥
राम[३] खोदाय सकति सिव एकै, कहुधों काहि निहोरा।
बेद[४] पुरान कुरान कितेबा, नाना भाँति बखाना॥
हिंदू तुरुक जइनि औ जोगी, ये कल काहु न जाना।
छव-दरसन[५] महँ जो परवाना, तासु नाम मन माना॥
कहँहि[६] कबिर हमहीं पै बौरे, ई सभ-खलक सयाना।

पाठा०—*क, पु, वह।

टि०—[आत्म विचार]

१—आत्मा न पुरुष है न स्त्री है । "हंस न नारी न पुरुष है" २—वह सबों में एक रूप से व्यापक (विद्यमान) है । ३—एक ही 'तत्व' के राम खुदा, शिव और शक्ति आदिक अनेक नाम हैं । अज्ञानता के कारण उक्त व्यक्तियों में स्व स्व मतों के अनुसार हीन और श्रेष्ठ बुद्धि करते हुए उन्हीं की प्रसन्नता के लिये निहोरा = स्तुति किया करते हैं । ४—उसी एक-तत्व का वर्णन वेदादिक नाना ग्रन्थों में नाना प्रकार से है । इस बात को अविवेकी (लड़ाकू) हिन्दू और मुसलमान वगैरह नहीं समझते हैं । सुनिये " रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्य स्त्वमसि पयसा मर्णव इव " (शिवमहिम्न स्तोत्रम्) तथान्यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः । अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोऽयं वो विदधातु मोक्षपदवीं त्रैलोक्यनाथो हरिः । ५—जोगी जंगम से बड़ा संन्यासी दरवेश । छठ्ठे कहिये ब्राह्मन छौ घर छौ उपदेश " ये छः दर्शन (वेष धारी) कहलाते हैं । ये लोग स्व स्व मतानुसार कल्पित ' पशुपति ' आदिक नामों को प्रामाणिक मानते हुए औरों से झगड़ते रहते हैं । ६—कबीर साहब कहते हैं आप सब विजयी रहिये, पराजय को मैं अपनाता हूँ ।

(४६)

बुझबुझ पंडित पद निरबान,[1] साँझ परे कहवाँ बस भान[2] * ।

पाठा०—* क, पु, घाम । अर्थ—घाम = धूप, (ज्योतिः प्रकाश)

ऊँच[3] निच्च परबत ढ़ेला न ईंट, बिनु गायन तहँवा[4] उठे गीत ॥
ओसन प्यास मंदिल नहिँ जहँवा, सहसौं[5] धेनु दुहावहिं तहँवाँ ।
नितै[6] अमावस नित संक्राँती, निति निति नव-ग्रह[7] बैठे पाँती ।
मैं[8] तोहिं पूछौं पंडित-जना, हिदया-ग्रहन[9] लागु केहि खना ।
कहँहिँ कबिर एतनौ[10] नहिँ जान, कवन-सबद गुर लागल कान ॥

टि०—[आत्मा की ज्ञानरूपता का वर्णन]

इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से सूर्यास्त-वर्णन के द्वारा अनात्मज्योतियों का खंडन और आत्म-ज्योति (स्व-प्रकाश) का मंडन किया गया है। १—सांझ पड़ने पर। और दूसरे पक्ष में शरीरान्त होने पर। २— सूर्य। और दूसरे पक्ष में ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश रूपी सूर्य। ३—हठ योगियों का उत्तर। ४—ब्रह्मांड में अनाहत शब्द होते हैं। ५—सात्विक-वृत्तियों का सत्व-प्रस्रवण होना रहता है। ६—सुषुम्णा नाडी के उदय होने से ईड़ा और पिंगला का लय हो जाता है इस कारण "नितै अमावस नित संक्रांती" कहा है। ७—नव द्वार। ८—सद्गुरु का कथन (प्रत्युत्तर)। ९—तुम्हारे हृदय में उक्त अज्ञानता रूपी ग्रहण कब से लगा है। १०—भौतिक प्रकाश (ब्रह्म-ज्योति) और भौतिक-शब्द (अनाहद शब्द) भूतों के सम्बन्ध से ही होते हैं। फलतः पञ्चत्व प्राप्ति के अनन्तर दोनों ही लीन हो जाते हैं। उक्त दोनों पदार्थों के विलीन होने पर भी जिस सूर्य का प्रकाश अम्लान रूप से विद्यमान रहता है वह " आत्म-भानु " है, उसी के दर्शन से निर्वाण-पद मिलता है। तुम्हारे गुरु का वह उपदेश किस काम का है जिससे इतना भी बोध न हो सका।

(५०)

१
बुझ बुझ पंडित बिरवा न होय, आधे (बसे) पुरुष आधे बसे जोय।
२
बिरवा एक सकल संसारा, सरग सीस जरि गयल पतारा॥
३
बारह पँखुरी चौबिस पात, घन-बरोह लागे चहुँ पास॥
४
फूलै न फरै वाकी है बानी, रैनि दिवस बिकार चुवे पानी॥
५
कहँहिँ कबिर किछु अछलो न तहिया, हरिबिरवाप्रतिपालिनिजहिया।

* टीका *

(विश्व-वृक्ष)

१—हे पण्डितो ! इस संसाररूपी वृक्ष के तत्व को आप लोग खूब समझ लीजिये। वस्तुतः यह संसार "बिरवा न होय" वृक्ष नहीं है, क्योंकि वृक्ष तो केवल जड़ होता है, और यह संसार-वृक्ष तो चिदचिदात्मक है, अर्थात् जड़ चेतन उभय रूप है, क्योंकि "आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय" भाव यह है कि संसार प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से बना है। और जोय, नारी, प्रकृति, (जड़) और पुरुष, (चेतन) इन दोनों भागों में विभक्त है।

२—यह संसार इस प्रकार का वृक्ष है कि स्वर्ग-लोक तो इसकी चोटी है और पाताल लोक जड़ है, अर्थात् पाताल से स्वर्ग तक संसार-वृक्ष फैला हुआ है।

३—बारह मास और चौबीस-पक्षात्मक-काल ही इस विश्व वृक्ष की पंखुड़ियाँ और पत्ते हैं। अर्थात् काल भी अचेतन होने से संसार ही के

अन्तर्गत है। और नानाकामना रूप बरोह (जटाओं ने) इसको सब तरफ से घेर कर, बान्ध रक्खा है, अर्थात् यह संसार कामनाओं के ही आश्रित है। वटादिक पुराने वृक्षों को उनकी जटाएं थामे रहती हैं। इस प्रसंग में रहीम कवि ने कैसा अच्छा दोहा कहा है। "आवत काज रहीम हैं, बन्धु विरल गहि मोह। जीरन पेड़हिं के भये, राखन बरहिं बरोह"।

४—विश्व वृक्ष में और वृक्षों से यह भी एक विशेषता है कि इसमें न ज्ञान रूप फूल ही लगते हैं, न मुक्ति रूप फल ही लगता है। यह उसकी बानी = आदत, स्वभाव है। अर्थात् संसार परित्याग के बिना ज्ञान द्वारा मुक्ति नहीं मिल सकती है। "जो गिरही परपंच न होते नृपति जँगल क्यों जाते। दे पाहन-पारस तेली को दत्त खरी क्यों खाते"। संसार-वृक्ष में यह भी एक विचित्रता है कि, काम क्रोधादिक विकाररूपी पानी रात दिन इस पेड़ से चूता ही रहता है "यही पेड़ उत्पति परलय का विषया सबै विकारी" भाव यह है कि वृक्ष अपने पैरों से (जड़ों से) पानी पीते हैं इसी से इन्हों को पादप कहते हैं. संसार भी एक वृक्ष है. अतः वह कामादिक विकार रूपी पानी को पीता है, और सदैव उक्त विकारों को ही चुवाता रहता है। ठीक ही है "जो रहे करवा सो निकरे टोटी"।

५—कबीर साहब कहते हैं कि जब हरि-माली नन्हे पौधे (सूक्ष्म प्रपंच) की रक्षा में लगे हुए थे, उस समय यह कुछ स्थूल पसारा नहीं था। भावार्थ—स्थूल जगत् के नष्ट होने पर भी सूक्ष्म-प्रपंच सुरक्षित रहता है, क्योंकि ज्ञानाग्नि के बिना वासनांकुर नहीं जलता है।

(५१)

[१]

बुझ बुझ पंडित मनचित लाय, कबहुँ भरलि बहे कबहुँ सुखाय।

खन[2] उबे खन डुबे खन औगाह, रतन न मिलै पावै नहिं थाह।
नदिया[3] नहीं सँसरि * बहै नोर, माँझ न मरै केवट रहै तीर।
पोखरि[4] नहिं बँधली तहँ घाट, पुरइनि नाहिं कँवल महँ बाट।
कहँहि[5] कबिर ई मनका धोख, बैठा रहै चलन चह चोख।

* टीका *

(मन की लीला)

१—हे पण्डितो ! आप लोग विद्या और सदाचार सम्पन्न होने से विचार शील हैं, इसलिये समाहित-चित होकर इस मन के स्वरूप को खूब समझ लीजिये, जिससे कि आप मन रूपी नदी में न बह सकें। यह मन रूपी नदी किसी समय (कार्य में सफलता होने से) तो द्विगुणित उत्साह तथा नाना आशा रूप जल से भर जाती है, एवं किसी समय (बार बार असफलता होने से) उक्त नदी का अपार-मनोरथ-जल जहाँ का तहाँ लीन हो जाता है।

२—मन की धारा में बहते हुए लोगों की घटनाएं सुनिये—ये लोग कभी तो ऊबे=जल के ऊपर आ जाते हैं, और थोड़ी ही देर में फिर डूब जाते हैं, एवं कभी कभी तो उक्त लोगों की विकल्प-नदी औगाह (अथाह) हो जाती है।

भावार्थ—योग्य उपाय देख पड़ने से मनुष्य उछलने लगता है, तथा असहाय होने से चिन्ता में डूब जाता है, एवं कभी कभी तो चिन्ता ऐसी बढ़ती है कि वह समुद्र ही बन जाती है। मन नदी का थाह अज्ञानियों

पाठा०—* ग० पु० सांसरि।

को नहीं मिल सकता है, क्योंकि इस नदी के अन्तस्तल में पैठने की शक्ति (ज्ञानशक्ति) और सतत विचार रूप दृढ़ता अज्ञानियों में नहीं होती है, अतएव उनको 'रतन न मिले' अर्थात् निज पद (आत्म-तत्व) रत्न नहीं मिल सकता है। भाव यह है कि जिस प्रकार मृत्यु से निर्भय होकर मोती निकालने वाले मरजीवा लोग (गोताखोर) दरिया के नीचे जाकर मोतियों को निकाल लाते हैं, इसी प्रकार सर्वथा निर्द्वन्द होकर निरन्तर दीर्घ काल पर्यन्त और अत्यन्त ही आदर पूर्वक आत्मविचार में निमग्न रहने वाले ज्ञानी पुरुष ही आत्मतत्व रूपी रत्न को ले सकते हैं "नैष आत्मा दुर्बलेन लभ्यः"। इस आत्मा को चंचल चित्त वाले दुर्बल-हृदय के पुरुष नहीं प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि "जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ। मैं बौरी बूड़न डरी रही किनारे बैठ।

३—वस्तुतः देखा जाय तो यह मन नदी नहीं है, क्योंकि नदी तो दूसरी जगह से आये हुए पानी से बढ़ती है और बहती है; परन्तु यह मन नदी तो स्वयं सांसरि, के अर्थात् नाना संकल्प और विकल्पों से झर झर के बहती रहती है।

भावार्थ—इसके संकल्प और विकल्पों का प्रवाह कभी नहीं रुकता है। इस मन-नदी में काम क्रोध और रागादिक बड़े बड़े मत्स्य (भारी मछलियां) सदैव तैरते रहते हैं, वे मारने में नहीं आते, क्योंकि 'केवट रहै तीर' ज्ञानरूपी केवट (मल्लाह, धीमर) सदैव इस मन रूपी नदी के किनारे पर ही बैठा रहता है। जल में पैठने से मल्लाह अपने जाल से मछलियों को मार सकता है। भाव यह है कि हृदय में ज्ञान का सञ्चार (प्रवेश) होने से ही कामादिक विकार नष्ट हो सकते हैं।

४—अब मन की कल्पनाओं का वर्णन करते हैं—योग उपासना करने वाले सब प्रकार के योगी अपने अपने गुरुओं की दीक्षा प्रणाली के अनुसार पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड में चतुर्दशादि नाना कमलों की तथा नाना प्रकार के लोकों और द्वीपों की कल्पना करके उन्हीं कल्पित लोकों में सदैव संयम (धारणा ध्यान और समाधि) किया करते हैं। "त्रयमेकत्र संयमः। (योग दर्शन)। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास के करने से संकल्पों की स्थिरता एवं दृढ़ता के कारण मन से कल्पित, तथा गंधर्व नगर के समान प्रतीति मात्र नाना प्रकार के लोकों का आभास स्वप्नवत् तथा तडित् (बिजुली) प्रकाशवत् उनको अभ्यास काल में भास जाता है। वस्तुतः ये सब मिथ्या ही है इस बात को बताते हैं कि "पोहकर नहिं बान्धत तहां घाट।" यह ब्रह्माण्ड पोहकर (तालाब) नहीं है जिसमें घाट तथा सीढ़ियां बन सकें, एवं नाना प्रकार की कमल लताऐं लग सकें; तथापि योगी लोग तो ब्रह्माण्ड में रात दिन ही घाट और सीढ़ी रूप नाना लोकों की रचना किया करते हैं। और इसी प्रकार पिण्ड में भी नाना कमलों की तथा (षट्चकों) की कल्पना करते हैं। और प्राणायाम द्वारा षट्चक्रों के भेदन से कल्पित मार्ग बना कर रात दिन उसी मार्ग से आया जाया करते हैं।

५—कबीर साहब कहते हैं कि इन अज्ञानियों के मन को वञ्चक गुरुओं ने यह केवल धोका दिया है, इन सब विडम्बनाओं से मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती है। यह मन तो जहां का तहां (संसार में) ही बैठा हुआ है, क्योंकि लोक और द्वीप तो इसी के बनाये हुए घर हैं, अतः इन कल्पित मोदकों से पेट नहीं भर सकता है। कुछ सच्चे साधन (ज्ञानादिक) प्राप्त करने चाहिये, जिनसे कि निजपद मिल सके। इन अज्ञानियों के मन का काम तो इस कहावत के अनुसार है कि "बैठा रहे

[illegible] चले सोख" ये लोग चाहते हैं कि हम को सहज ही में मुक्ति मिल जाय ।

(५२)

बूझि[1]) बूझि लीजै ब्रह्मज्ञानी ।

घूरि घूरि बरषा बरषावो, परिया बुंद न पानी ।

चिउँटी[2] के पगु हस्ती बांधो, छेरी बीगर खाया ।

उदधि मांह ते निकरि छांछरी, चौरे ग्रीह कराया ।

मेंढुक[3] सरप रहै एक संगे, बिलिया स्वान बियाही ।

निति उठि सिंघ सियार सों डरपै अदबुद कथो न जाई ।

(कवन) संसय[4] मिरगा तन बन घेरे, पारथि बाना मेलै ।

उदधि भूपते तरिवर डाहै, मच्छ अहेरा खेलै ।

कहँहिं[5] कबीर ई अदबुद ज्ञाना, को यहि ज्ञानहिँ बूझै ।

बिनु पंखे उड़िजाय अकासै, जीवहिं*मरन न सूझै ।

टीका

[अनधिकार-चर्चा]

१—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म [illegible] नानास्ति किंचन ।" का पाठ आपामर सबों को पढ़ाने वाले हे ब्रह्मज्ञानियो ! (वाचक ज्ञानियो) अब आप लोगों की [illegible] आ गयी है, इसलिये मेरी भी इस तुच्छ बात को सुन कर समझ लीजिये । [illegible] यह है कि विवेक और वैराग्यादिक साधनों से

पाठा—*जीवन ।

सम्पन्न अधिकारियों को तो ' अहं ब्रह्मास्मि ' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादिक महा वाक्यों का उपदेश देना शास्त्रानुमोदित है ही, परन्तु आप लोग तो अधिकारी परीक्षा को भी धता देकर गजनिमीलिका करते हुए स्वयं ब्रह्मज्ञान के काले काले मेघ बन कर, तथा सावन भादव की घटा की तरह घूम घूम कर सारे संसार में ब्रह्मज्ञान की ही झड़ी लगा रहे हैं; पर जरा देखिये तो सही किसी भी अनधिकारी के हृदय में आपके ब्रह्मज्ञान की तो एक भी बूंद नहीं पड़ती है, इसलिये विचार पूर्वक उपदेश दीजिये।

२—ऐ मेरे भोले भाइयो! आप लोग तो अनधिकारियों को ब्रह्मोपदेश देकर चिऊँटी के पैर में हाथी बाँध रहे हैं। भाव यह है की बिना साधन सम्पत्ति के चित्तवृत्ति ब्रह्माकार नहीं हो सकती है, अतएव मिथ्या ब्रह्म भाव से मन नहीं रुक सकता है। मन के न रुकने से ही "छेरी बीगर खाया" छेरी (अजा = माया) ने बीगर (भेड़िये के तुल्य जीवात्मा) को खा डाला। देखिये यह भी कैसा आश्चर्य है कि इन अनधिकारियों की चित्त-वृत्ति रूप छाछुरि (जल की छोटी सी फुचकारी) अमितानन्द सागर निज रूप से निकल कर (विमुख होकर) इस लम्बी चौड़ी तथा सन्तप्त-संसार भूमि में अपना घर कर रही है। भावार्थ—विषयी-जनों की वृत्ति विषयाकार रहती है।

३—इन अनधिकारियों के हृदय-निश्तन का तो वृत्तान्त आपने अभी तक सुना ही नहीं सुनिये। इनके यहां तो मेंडक (अज्ञानी) और सर्प (अहंकार दोनों साथ ही रहते हैं। भावार्थ—अहंकार इनको कैसे बचने देगा। और बिलिया (अज्ञानियों की चित्तवृत्ति) ने श्वान रूप संसार सुख के साथ विवाह कर लिया है। भाव यह है कि सांसारिक सुख से चित्तवृत्ति कदापि सन्तुष्ट नहीं हो सकती है। और भी सुनिये! सिंह

रूप जीव सियार रूप मन तथा अध्यास [भ्रम] से सदैव डरता रहता है, अर्थात् मन ने तथा अध्यास ने जीव को अपने अधीन कर लिया है। यह अनोखी कथा कहने में नहीं आती है।

४—अब यह बताते हैं कि ऐसे विवेकी (अधिकारी) जनों की मुक्ति में कोई संशय नहीं है जो कि अपने हृदयरूपी वन में विचरने वाले नाना प्रकार के संशय रूप मृगों को घेर कर उनके ऊपर (पारथ = तीर) सद्-गुरु के उपदेश रूपी बाणों को चलाते हैं, अर्थात् सद्गुरु के वचन द्वारा सम्पूर्ण संशयों को निवृत्त कर लेते हैं। एवं वृत्ति-भूमि को आत्मानन्द-समुद्र में आप्लावित कर माया-प्रपञ्च रूप भारी पेड़ को जला डालते हैं। (समुद्र के पानी से पेड़ जल जाते हैं) इसके पश्चात् आत्म साक्षात्कार से मच्छ रूप माया तथा उसके कार्य मन का भी क्षय कर देते हैं।

५—कबीर साहेब कहते हैं कि यह आप का ब्रह्मोपदेश तो बड़ा अलौकिक है शीघ्र ही मुक्ति प्रदान कर देता है, परन्तु इसको समझ कर दृढ़तया धारण करने वाले तो अधिकारी बहुत ही कम हैं, अधिक संख्या तो ऐसे ही लोगों की है जो वैराग्यादिक साधन रूप पाँखों के बिना ही उड़कर आकाश रूप ब्रह्म में विहरना चाहते हैं और प्रपञ्च पंक में पड़े हुए भी अहंब्रह्मास्मि और शिवोहं की हाँक लगाते हुए अपने आपको कैवल्य धाम के पर्यङ्क में पर्यवस्थित जानते हैं, इतना ही नहीं अपने आपको निर्लिप्त ब्रह्म समझते हुए निःशङ्क होकर यथेच्छाचरण में भी लगे रहते हैं। मृत्यु के बाद हमारी क्या दशा होगी यह उनको नहीं सूझता है क्योंकि वे तो भ्रम से अपने को अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानी मानते हुए स्वयं ब्रह्म होने के भ्रम में पड़े हुए हैं।

ऐसे ही अनधिकारियों के ब्रह्म होने के अहङ्कार को लक्ष्य करके ही कबीर पंथी ग्रन्थों में तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी ब्रह्म को भ्रम बतलाया गया है। मेरी बुद्धि में तो ऐसा ही आता है; क्योंकि अपरोक्ष (सच्चे) ब्रह्मज्ञानी बहुत ही कम होते हैं, इस बात को शङ्करावतार भगवान् शङ्कराचार्य ने भी अपने गीता भाष्य में स्पष्ट ही कह दिया है। और वेदान्त के एक जीव वाद के अनुसार यदि देखा जाय तो अभी तक अपरोक्ष [सच्चा] ब्रह्म ज्ञान किसी को हुआ ही नहीं है, यदि एक को भी सच्चा ब्रह्म ज्ञान हो जायगा तो उक्त मतानुसार सारे संसार की मुक्ति हो जायगी इन्हीं सब विवाद-ग्रस्त बातों को समझ कर अर्वाचीन महात्माओं ने निष्कण्टक तथा सरल मार्ग का अन्वेषण किया है और उसी राज मार्ग से चलने के लिये अनुरागी आत्म जिज्ञासुओं को आदेश भी दिया है। परन्तु कितना ही सरल क्यों न हो तथापि यह भी एक मार्ग ही है इसलिए शम्बल बाँध कर बराबर चलते रहना पथिकों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है; क्योंकि बिना पुरुषार्थ के परम पद नहीं पा सकते हैं। "कहैं कबीर यह मन का धोख, बैठा रहे चलन चहैं चोख। मारग चलते जो गिरे, ताको नाहीं दोष। कहैं कबीर बैठा रहै ता सिर करड़े कोष"। "थोड़े ही में बहुत है अति समझन की बात। मेंहदी अधिक लगाय ते कर कारो ह्वै जात"।

एक-जीव-वाद का उल्लेख अद्वैत वाद के ग्रन्थों में सविशेष किया गया है। यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। "एको जीवः, तेन चैकमेव शरीरं सजीवम्। अन्यानि स्वप्नदृष्टशरीराणीव निर्जीवानि। तदज्ञानकल्पितं सर्वं जगत्, तस्य स्वप्नदर्शनवद्यावदविद्यं सर्वा

व्यवहारः। बद्धमुक्तव्यवस्थापि नास्ति, जीवस्यैकत्वात्। शुक मुक्त्यादिक-मपिस्वाप्नपुरुषान्तरमुक्त्यादिकमिव कल्पितम्। अत्र च सम्भावित सकलशङ्कापङ्कप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्तसलिलधारयैव कर्तव्यमिति। (सिद्धान्तलेशसंग्रहे, १ परिच्छेदे. जीवैकत्वविचारः)। तथा "अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते" इत्यादिश्रुतिष्वेकवचन प्राप्तैकत्व विरोधेनोदाहृतश्रुतीनामनेकत्वपरत्वाभावात्। सार्वजनीनप्रमासिद्ध तदनुवादेनाविरोधात्। (अद्वैतसिद्धौ, १ परिच्छेदे, एकजीववादः) एकजीववादकी मूलभूत कुछ श्रुतीयां और स्मृतियां ये हैं। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवः, इत्यादि" "देही कर्मानुगोऽवशः', तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानिगृह्णाति नरः" इत्यादि।

(५३)

वहि[1] बिरवा चिन्है जो कोय, जरा मरन रहितै तन होय।
बिरवा[2] एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तीनि डारा।
मध्य[3] कि डारि चारि फल लागा, साखा पत्र गिनै को वाका।
बेलि[4] एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटैं नहिं ज्ञानी।
कहँहिँ[5] कबिर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेहु बिचारा।

* टीका *

[संसारतरु]

१—सद्गुरु कहते हैं कि जो कोई इस प्रपञ्च-पादप को भली भाँति से पहिचान ले कि यह तो अज्ञानी शुकों को ठगने वाला महा-नीरस

और बड़ा भारी सेंमर का पेड़ है, तो वह जन जरा और मरण रूप नाना दुःखों से छूट जाय । २—सूक्ष्म से सूक्ष्म कीटाणु से लेकर हिरण्यगर्भ (पितामह, ब्रह्मा) पर्य्यन्त चराचरात्मक यह सारा संसार ही एक महाकाय वृक्ष है । इस वृक्ष के अवयवों का वर्णन सुनिये । मूलप्रकृति (माया) ही इस वृक्ष का मूल है, क्योंकि यह सब प्रपञ्च मायिक है । और समष्टिसूक्ष्म शरीराभिमानी प्रथम शरीरी एक आदि पुरुष ही इस प्रपञ्च पादक का पेड़ (मध्यभाग) है । अनन्तर उस आदि पुरुष रूप वृक्ष से क्रमागत ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिगुणात्मक तीन डालियां निकलीं ये तीनों देवता क्रमशः रज, सत्व और तमोगुण के अभिमानी हैं, अतः येही शब्दान्तरित त्रिगुण हैं इन्हीं के द्वारा इस त्रिगुणात्मक प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति और लय बार बार हुआ करते हैं । ३—इस विश्व-वृक्ष की मध्य की डाली सत्व गुण में पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) रूपी चार फल लगते है, अर्थात् सत्वगुणरूप विष्णु की आराधना से सर्व-पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। वैष्णवों की विष्णु आराधना का यही रहस्य है । यह एक डाली का वृत्तान्त है । इसके अतिरिक्त रजोगुण रूप डाली में से काम क्रोधादि रूप अनन्त शाखा प्रशाखाएं और नाना वासना रूप पत्ते इतने निकल पड़े हैं की कौन निठल्लू बैठा २ उनको गिना करे । "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्" । आदि पुरुष एक वृक्ष है निरञ्जन वाकी डार । तिरिदेवा शाखा भये पत्र भया संसार ॥ तथा सार शब्द से बाँचिहो मानहु इतबारा हो । आदि पुरुष एक वृक्ष है, निरञ्जन डारा हो । त्रिदेवा शाखा भये पत्ता संसारा हो । (बीजक शब्द) ११४। ४—बड़ा भारी तो आश्चर्य यह है कि वासना या आशा रूप एक तुच्छ लता ने इतने बड़े विराट् वृक्ष को जड़ से लेकर चोटी

तक घेर कर ऐसा लपेटा है कि स्वर्गादि फलों को तोड़ने की इच्छा से इस वृक्ष पर चढ़े हुए बड़े २ योगी और ज्ञानाभिमानी भी बेचारे इसी आशालता में फँस कर मर गये। अनेकानेक उपाय किये परन्तु न छूट सके। ४—परम दयालु गुरु-कबीर कहते हैं कि हे भाइयो! मैं पुकार २ कर कहता चला जा रहा हूँ कि इस विषवृक्षरूप प्रपञ्च तरु से दूर रहो, और इसके जहरीले फलों को अमृत फल समझ कर न चखो और इस मिथ्या आशा रूप लता को भी मत छूओ। जो पण्डित हों वे इस बातको विचार लें।

(५४)

साँई[1] के संग सासुर आई।

सँग न सूती स्वाद न मानी, गौ जौवन सपने की नाँई॥
[2]जना चारि मिलि लगनसुधायो, जना पाँच मिली माँडो छायो।
[3]सखी सहेलरी मंगल गावैं, दुख सुख माथे हरदि चढ़ावैं॥
[4]नाना रूप परो मन भाँवरि, गाँठी जोरि भई पतियाई।
अरघा दे लै चली सुवासिनि, चौके राँड भई संग साँई॥
[6]भयो बियाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समुझाई।
कहैं कबिर हम गौने जैबे, तरब कंत ले तूर बजाई॥

* टीका *

(कोइ काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीर न जाना।)

१—इस शब्द में अज्ञानी-जीव चित्तशक्ति-रूप स्त्री का वञ्चक गुरुओं के द्वारा मनःप्रपञ्च के साथ मिथ्या विवाह, तथा सद्गुरु के द्वारा पुनः सच्चे पति शुद्ध-चेतन (निजपद) की प्राप्ति का रूपक दिखाया गया है।

यह चित्तशक्ति (जीवात्मा) साँई (शुद्ध चेतन, निजरूप) को साथ लेकर ही (सासुर) संसार में आई है, अर्थात् साँई सदैव इसके संग ही रहता है, परन्तु अज्ञान वश अपने पति को नहीं जानती हुई उसके परमानन्द विहार से सदैव वञ्चित ही रहती है। प्रमाद वश इस जीव-शक्ति का सारा यौवन (नरतन) व्यर्थ ही सपने की तरह चला गया अतएव जीव संसारी बन कर जन्म मरण के चक्र में पड़ गया। किसी प्रकार (मालिक की दया से) फिर भी इस जीव शक्ति को मनुष्य शरीर मिला तो वञ्चक गुरुओं न फिर भी मनः प्रपञ्च ही के साथ इसका विवाह कर दिया। २—अब विवाह का रूपक बताया जाता है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों ने एक मत होकर इस जीव शक्ति रूप कुमारी का देहादि संघात रूप मनः प्रपञ्च के साथ, सगाई संबन्ध रूप लगन लगाने का निर्णय किया, अर्थात् जीव को शरीरासक्ति में डाल दिया। भाव यह है कि मन संकल्प करता है, और बुद्धि निश्चय करती है, पश्चात् चित्त की स्फुरणा से अहंकार के द्वारा जीव नाना कर्मों को करता है, यही सब कर्मों की व्यवस्था है। इस प्रकार प्रपञ्चासक्ति रूप लगन चढ़ने पर पञ्च तत्व रूप पाँच जनों ने मिलकर शरीर रूप मँडवे की रचना कर दी। भाव यह है कि देहाध्यास ही के कारण नाना देह धरने पड़ते हैं। ३—इस प्रकार मडवे के तैयार होने पर इस जीव शक्ति रूप दुलहिन की बालसखी इन्द्रिय रूप सहेलियाँ प्रमुदितचित्त होकर मङ्गल गाने लगीं। अर्थात् सुन्दर २ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि रूप विषय–भोग भोगने लगीं। अनन्तर भोगों से होने वाले तथा पाप-पुण्य के फल भूत नाना दुःख और सुख रूप हरदी जीव रूप दुलहिन के मत्थे डाल दी। भाव यह है कि रूपादि विषयों का भोग तो इन्द्रियाँ करती हैं और उसके फल रूप दुःखादिक जीव आत्मा को मिलते हैं। ४—इस प्रकार

हल्दी चढ़ाने के बाद भोग जन्य नाना वासनारूप भाँवरी इस जीवरूप दुलहिन के मन में पड़ गई। भाव यह है कि सम्पूर्ण शुभा-शुभ क्रियाओं का यह स्वभाव होता है कि उन कर्मों को करने वालों के हृदय-मुकुर में किये हुए कर्मों के शुभाशुभ संस्कार (वासना, सूक्ष्म–भोगेच्छा,) रूप अक्स (फोटो) खिच जाता है, अतएव उन्हीं वासनाओं से विवश होकर संसारी लोग उन्हीं २ कर्मों को करते हैं और फलों को भोगते हैं क्योंकि जीवों ही के कर्म संस्कार द्वारा स्वसजातीय–क्रियाओं को पुनः २ पैदा किया करते हैं। इस प्रकार भाँवरी पड़ने के बाद जब इस जीव-दुलहिन (चेतन) का मन:प्रपञ्च (जड़) के साथ गँठबन्धन हो गया, तब इसने भ्रम वश झूठे खसम प्रपञ्च को अपना पति मानकर उसके साथ घनिष्ठ प्रेम कर लिया। भाव यह है कि अज्ञानजन्य–देहासक्ति ही के कारण यह जीव चेतन के धर्म–आनन्दादिका को विषयों के धर्म समझ रहा है (अर्थात् यह परम सुख मुझको विषय भोग से मिला है ऐसा जान रहा है) और जड़ के अनन्त धर्म, वर्ण आश्रम और अवस्था तथा बालपन जवानी और बुढ़ापा एवं दुबलापन और मुटाई रंग रूप व्याधिपीड़ा आदिकों को अपने (चेतन के) धर्म मान रहा है। इसी अनमेल खिचड़ी को दार्शनिकों ने अन्योन्याध्यास तथा जड़ चेतन की ग्रन्थि भी कही है। इसकी विशेष कथा अध्यासभाष्यादिकों में "सत्यानृतेमिथुनीकृत्य प्रवर्तन्ते सर्वेव्यवहाराः" इत्यादि ग्रन्थ से स्पष्ट की गई है। हमारे गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी इस विषय में लिखा है कि "जड़ चेतनहिं ग्रन्थी परिगई। जदपि मृषा छूटत कठिनई"। इस प्रकार अनात्म पदार्थों में फँसकर यह जीव संसारी हो गया है। इस प्रकार विवाह–विधि सम्पन्न होने के पश्चात् जीव–दुलहिन को (सुवासिनी) सौभाग्यवती, (अहिवाती) की रूप

वंचक-गुरुओं की वाणियाँ अरवा दे देकर (दुलहिन के आगे २ पानी गिराती हुईं) अपने संग ले चलीं। भाव यह है कि नाना सकाम कर्म रूप अनात्म पदार्थों में उरझाने वाले वञ्चक गुरुओं ने नाना प्रकार की रोचक वाणियों से वस्तुतः नित्यतृप्त जीव को भी स्वर्ग-लोकादिकों को भूखा बना दिया, इसी कारण यह अज्ञानी, वञ्चक गुरुओं से मिथ्या मुक्तिरूप बासी भात लेने के लिये उनके द्वार पर पड़कर नाक रगड़ने लगा। "झूँठि मुक्ति नर आस जीवन की उन्ह प्रेत को झूठ खयो" । (बीजक शब्द) अब इस विवाह का नतीजा सुनिये। इस जीव दुलहिन ने थोड़ेही काल में चल बसने वाले इस झूँठे संसार रूप पति के साथ अज्ञान-वश विवाह कर लिया, इस कारण थोड़ेही काल में अपने प्रिय जनके विनाश से मँड़वे (शरीर) में बैठी २ ही रांड हो गयी। और सच्चे साँई (पति) तो बेचारे बगल ही में बैठे रह गये। उनके देखते २ यह सब खेल हो गया। भाव यह है कि यह जीव मोह वश धन दारा और शरीरादिक प्रपंच से ऐसा प्रगाढ़ प्रेम बाँध लेता है कि उनकी विकलता तथा वियोग से स्वयं अकर्मण्य और अनाथ बन जाता है। इसी भाव को कबीर गुरु ने एक स्थल पर कैसे अच्छे रूपक में झलकाया है "फूल भल फूलल, मालिन भल गाँथल, फुलवा विनसि गैल भँवरा निरासल। ४—इस प्रकार विवाह होने पर भी यह जीव दुलहिन विना ही पति के रह गयी। इसके पश्चात् अनेक सांसारिक-आपत्तियों से त्रस्त होकर अपने सच्चे पति (निजपद) की खोज में यह निकल पड़ी। अनन्तर नाना कर्म और उपासना रूप अनेक मार्गों में घूमती हुई जब यह सत्संग रूपी बाट (रास्ते) पर पहुँच गयी, तब इसके सच्चे सम्बन्धी संत जन मिल गये। इन्होंने इसको बोध (होश)

राया कि तूँ नाहक ही निज पति (स्वरूप) के मिलने के लिये स्वर्ग ौर पाताल को छान रही है, और मुक्ति रूप पति सुख के लिये पानी ौर पत्थरों में सिर मार रही है। तुझको स्वार्थियों ने धोका दिया है। ेवल इस विधिवाद (कर्मकाण्ड) के बल से तू पति को नहीं पा सकती, ू किस उलझन में पड़ गयी है। तेरा पति तो यह देख तेरे साथ ही है। ू (संसार से) पीछे घूम कर और आंख खोलकर तो देखती ही नहीं, प्राँख बन्द कर औरों ही के पीछे दौड़ा करती है सुन—"जेहि खोजत कल्पौगये, घटही मांहि सो मूर। बाढ़ी गर्ब गुमान ते, ताते परि गौ दूर" ॥ "सोते काहि ये ऐस अबूझ। खसम अछत ढिग नाहीं सूझ" ॥ बेचारे इस पति का क्या दोष है, ये सब तो तेरी ही अज्ञानता के फल हैं। इस प्रकार अमृत रूप वचनों से जब महात्मा ने अज्ञानी जीव-शक्ति को खूब समझाया तब जीव-आत्मा के हृदय में बोध हुआ। अनन्तर बहुत पश्चात्ताप करके जीव शक्ति कहने लगी कि अब तो हम अपने पति के साथ गौने जायेंगी और सदैव उन्हीं के चरण कमल रूप नौका में बैठी रहेंगी, जिस से कि तूर (तुरही) बजाकर संसार-सागर से पार हो जांयगी। यही भाव इन साखियों में भी झलकता है "पाछे लागा जाय था लोक वेद के साथ पैंडे में सतगुरु मिले दीपक दीन्हा हाथ। दीपक दीन्हा तेलभर वाती दई अघट्ट, पूरा किया बिसाहना बहुरिन आवे हट्ट"। भजन—"आछत खसम राँड भइ धनियां, झूठ खसम मन भावत रे"।

(५५)

नल[१]को ढाढस देखहु आई, (किछु) अकथ कथा है भाई।
सिं[२]घ सद्दूल एक हर जोतिन्हि, सीकस बोइन्हि धाने ॥

बनकि भुलइया चाखुर फेरे छागर भये किसाने।

काागा कापर धोवन लागे, बकुला खिरपै दांते॥

माँखी मूँड मूंडावन लागे, हमहूँ जाइब बराते।

४

छेरी बाघहिं व्याह होत है मंगल गावहिं गाई।

बनके रोंफ धै दाइज दीन्हौ, गोह-लोकंदै जाई॥

५

कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै।

सोई पंडित सोई ज्ञाता, सोई भगत कहावै॥

* टीका *

[अन्धा कहै अन्धा पतियाय। जस विसवा का लगन धराय।]

१—सच्चे सद्गुरु के मिलने से जीवों के कल्याण की चर्चा तो ऊपर कर चुके हैं, अब वञ्चक गुरुओं के फन्दे में पड़े हुए अज्ञानियों की दुर्गति का दिग्दर्शन कराते हैं। गुरुदेव कहते हैं कि हे भाइयो! इन अज्ञानियों की जरा हिम्मत तो देखिये, ये लोग जन्म मरणादि द्वारा अनन्त बार माया के कोल्हू में पेरे जा चुके हैं; परन्तु फिर भी दूने उत्साह से उसी कोल्हू में सिर देने के लिये सब से आगे रहते हैं। जादूगर गुरुवा लोगों ने इन बेचारे अज्ञानियों के ऊपर माया की ऐसी पुड़िया डाल दी है कि ये लोग बड़े प्रसन्न होकर सबसे प्रिय अपने नर जीवन को भी तुच्छ भेंट समझते हुए उनके चरणों में रख देते हैं, और नाचते

कूदते तथा हँसते खेलते हुए परमशोचनीय गति को चले जाते हैं। अज्ञानियों की यह कथा तो बड़ी ही विचित्र है। २—अब वञ्चक गुरुओं की करतूती भी देखिये छागर = माया के स्वामी बकरे रूप वञ्चक गुरु स्वयं किसान बन कर, और सिंह, तुल्य जीवात्मा तथा शार्दूल = सिंह को खा जाने वाले उनके मन को, बैल बना कर कर्म रूप एक ही हल में उन्होंने जोत दिया; अर्थात् सब लोगों को सकाम कर्मों में लगा दिया। इसके अनन्तर सीकस = ऊसर-भूमि भूत संसार में नाना कामना तथा विविध आशारूप धान (अन्न) बोने लगे। भाव यह है कि "रामकृष्ण की छोडिन आशा। पढ़ि गुनि भये क्रितम के दासा। कर्म पढ़ें औ कर्म को धावैं। जेहि पूछा तेहि कर्म दिढ़ावें। निःकर्मी की निन्दा कीजै। कर्म करै ताही चित दीजै॥ ऐसी बिधि सुर विप्र भनीजै। नाम लेत पञ्चासन दीजै॥ बूड़ि गये नहिं आपु संभारा। ऊंच नीच कहि काहि जु हारा॥ ऊंच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥ एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सबन का सिरजनिहारा॥ एक चाक सब चित्र बनाई नाद विन्द के मध्य समाई। व्यापक एक सकल की ज्योति। नाम धरे का कहिये भौति॥ राच्छस करनी देव कहावें। बाद करैं गोपाल न भावैं॥ इत्यादि (बीजक)। इसके बाद बन की भुलैया = लोमड़ी रूप लालची गुरुलोग इस ऊसर संसार को निभाने लगे अर्थात् इसकी रक्षा करने लगे ३—इस तरह खेती होने के बाद अब छेरी और बाघ के विवाह का रूपक दिखाते हैं। कागामलीन चित्तवाले पाखण्डी गुरु अपने उपदेश रूपी जल से अज्ञानियों के हृदय रूप कपड़ों को धोने लगे। और बकुला रूप नकली साधुवेष-धारी उनके हृदय रूप कपड़ों पर इस्तरी फेरने

लगे। अर्थात् उक्त गुरुओं के उपदेश का ये भी अनुमोदन करने लगे। अनंतर मक्खी रूप अशुद्धचित्त वाले पुरुष मूंड मुड़वाने लगे। और कहने लगे कि हम भी उक्त विवाह की बारात में शामिल होयेंगे। ठीक ही है "जस दूल्ह तस बनी बाराता"। ४—इस प्रकार बारात सजने के बाद छेरी माया और सिंह तुल्य जीवात्मा का विवाह होने लगा। अर्थात् उक्त गुरुओं के उपदेश से जीवों को माया घेरने लगी। वस्तुतः यह जीव सिंह रूप है, यदि यह अपने रूप को जान ले तो बेचारी माया बकरी इसके सामने क्या चीज है। विवाह में मङ्गल गाये जाते हैं, अतएव इस विवाह में भी 'गाई' गो = इन्द्रियाँ मङ्गल गाने लगीं।

भावार्थ—यह जीव जब माया के फन्दे में पड़ गया तब इसकी इन्द्रियां नानाविषयों को भोगने लगीं। इस प्रकार (अनमेल) विवाह के हो जाने पर उक्त विवाह के उपलक्ष में वन के रोझ की तरह इधर उधर घूमने वाले मन को दहेज में दे दिया। अर्थात् मन को प्रपञ्च के साथ कर दिया। विवाह होने के बाद दुलहा और दुलहिन डोले में बैठकर जाया करते हैं। अतः इस विवाह के पश्चात् भी नाना शरीर रूप लोकन्दा = डोले तैयार किये गये कि जिन में बैठ २ कर दुलहा (जीवआत्मा) ने अपने गुरु बरातियों के साथ अपने घर (चौरासी) का रास्ता पकड़ लिया।

भावार्थ—"घर २ मन्तर देत फिरतु हैं महिमा के अभिमाना। गुरू सहित सीख सब बूड़े, अन्त काल पछताना॥" तथा "गुरु लोभी सिख लालची दोनों खेलै दांव। दोनों बूड़े बापुरे बैठि पथर की नाव" (बीजक) "गोह लोह कन्धे" में गोह पद से यह सूचित किया है कि जिस तरह गोह एक प्रकार का विषैला जीव होता है, इसी तरह अज्ञानियों के शरीर

भी विषय रूपी विष से भरे रहते हैं "विषविषयों का खाय हो रात दिवस मिलिझार"। (बीजक)

५—कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! जो इस पद्य के अर्थ को समझ कर उक्त भ्रम फांस (धोके की टट्टी) में नहीं पड़ते हैं वेही पण्डित और ज्ञानी हैं, तथा वेही आत्मोपासक सच्चे-भक्त भी कहलाते हैं।

(५६)

नलको नहि परतीति हमारी।

झूठे बनिजि[1] कियो झूंठासों[2], पूँजि[3] सभनि मिलि हारी ॥
षट-दरसन[4] मिलि पंथ[5] चलायो, तिरिदेवा अधिकारी।
राजा[6] देस बड़ो परिपंची, रैयति[7] रहति उजारी ॥
इतते[8] ऊत ऊतते इत रहु, जमकी साँड[9]*-सवारी।
ज्यों[10] कपि डोरि बांधु बाजीगर, अपनी खुसी परारी ॥
इहै[11] पेड़ उतपति परलै का विषया[12] सभै बिकारी।
जैसे स्वान[13] अपावन[14] राजी, त्यौं लागी संसारी ॥
कहँहिँ कबीर[15] इ अदबुद ज्ञाना, को माने बात हमारी।
अजहूँ[16] लेउँ छुड़ाय काल सों, जो करे सुरति[17] संभारी ॥

टि०—[सुरति (वृत्ति) के निरोध की आवश्यकता]

पाठा० क० पु० साट सवारी।

१—व्यापार। २—मन से। ३—मूल-पूँजी [ज्ञान] ४—योगी जङ्गम सेवड़ा दरवेश आदिक छः भेषधारी लोग। ५—शैवादि मत। ६—मन राजा [यम] "तीन लोक में है जम-राजा चौथे लोक में नाम निशान। लखै कोइ विरला पद निर्बान"। ७—प्रजा (कामी) स शान्ति माप्नोति न काम-कामी" (गीता) ८—इस लोक से उस लोक और उस लोक (स्वर्गादि) से इस लोक (नर्कादि) को। ९—ऊंट की सवारी। पूर्व काल में लम्बी यात्रा ऊंटों के द्वारा की जाती थी। १०—बन्दर खाने के लोभ से बंध जाता है। ११—मन और मन की कामनाएं १२—विषय-रूपविष-फल। "विष-फल फले अनेक हैं मत कोइ देखो चाख" (कबीर-साखी) १३—कुत्ता (विषयी और पामर) "कामी-नर कुत्ता सदा छः ऋतु बारह-मास" १४—मलिन-वस्तु। १५—यह हमारा दिया हुआ। १६—अब भी (ऐसी पतित दशा में भी) "सर्वथा वर्तमानो पि न स भूयोऽभिजायते" (गीता) १७—यदि चित्त की एकाग्रता करे (विषयों से मन को हटाले)। तावदेव निरोद्धव्यं-यावद्धृदि गतं क्षयम्। एतज्ज्ञानंच मोक्षश्च ह्यतोन्यो ग्रन्थ-विस्तरः।" काल = जन्म-मरण रूप काल-चक्र।

(५७)

ना हरि[1] भजे न आदति[2] छूटी।

सब्दहिँ समुझि सुधारत नाहीं, अँधरे[3] (भयहु) हियहु की फूटी॥

पानीमाँह पखान कि रेखा[4], ठोंकत उठै भभूका[5]।

सहसघड़ा[6] नित उठि जल ढारै, फिरि सूखे का सूखा ॥
सीतै[7] सीत सोत अंग भौ, सैनि[8] बाढि अधिकाई * ।
जो सनिपात[9] रोगियहिं मारै, सो साधुन सिधि पाई ॥
अनहद[10] कहत कहत जग विनसै, अनहद सिस्टि समानी ।
निकट पयाना[11] जमपुर धावै, बोलै एकै[12] बानी ॥
सतगुर मिलै बहुत सुख लहिये, सतगुर शब्द सुधारै ।
कहँहिं कबीर सो सदा सुखारी, जो यह पदहिं[13] बिचारै ॥

टि०—[बन्ध्य–ज्ञानी (वाचक ज्ञानी) और हठयोगियों की दशा]

१ आत्माकार–वृत्ति नहीं होती है। २–स्वभाव [मन की कल्पना] ३–लोकाचार और विवेक-विचार दोनों छूट गये। ४—पत्थर की टुकड़ी ५—चिनगारियां। वन्ध्य–ज्ञानी और ज्ञान हीन हठयोगियों का मन पत्थर के टुकड़े के समान है जो सदैव जल में पड़ा रहता है परन्तु भींजता नहीं। ६—वन्ध्यज्ञानी दिखाने के लिये 'अहंब्रह्मास्मि' का (अहंग्रहोपासना) वृत्तिप्रवाहरूप हजारों घड़े मन रूपी पत्थर पर प्रतिदिन ढरकाया करते हैं। इसी प्रकार हठयोगी भी सहस्र कुम्भक रूप हजार जल के घड़े उक्त मन पर डाला करते हैं; परन्तु वह सूखे का सूखाही रह जाता है। इसका कारण यह है कि उनके मन-रूपी पाषाण कामनाग्नि से नीरस और अभेद्य

---

* ख. पु. सेते सेते सेत अंग भौ सयन बढ़ी अधिकाई ।

(अत्यन्तही कठिन) हो गये हैं अतएव सब साधन विफल हो जाते हैं। ७—उक्त बन्ध्य-ज्ञानी और हठयोगी शमदमादि साधनों से हीन होते हैं और उनके हृदय में मल विक्षेपादिक दोषों का संचय भी अधिक मात्रा में रहा करता है, अतः आमज्वर से पीड़ित रोगी की तरह ये लोग उपासनादिक उपवास (लङ्घन) और तपोऽनुष्ठानरूप स्वेद-प्रस्रवण (पसीना कराने) के अधिकारी हैं। अहंग्रहोपासनादि रूप जो शीतल-सरोवर का स्नान है उसके अधिकारी ये लोग नहीं है। इसी कारण (उक्त शीतोपचार से) इन लोगों के मन को "शीतांगवायु" (सन्निपात) हो जाता है। ठीक ही है "स्वेद्य मामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति" [माघकाव्य] भाव यह है कि अनधिकारियों को अहंब्रह्मास्मिरूप महावाक्य का उपदेश देना उचित नहीं है। ८—पूर्व—उक्त अनधिकार उपदेश से अहंकारादिक विकारों की सेना अत्यन्त बढ़ जाती है। ९—जिस प्रकार सन्निपात होने पर रोगी कदाचित् ही बचता है इसी प्रकार सिद्धि प्राप्त होने पर हठयोगियों की दशा होती है। भाव यह है कि सिद्धि के अहंकार से उक्त योगी लोग योग भ्रष्ट हो जाते हैं। और बन्ध्यज्ञानी भी उभयलोक से भ्रष्ट हो जाते हैं। यहाँ पर "सेते २ सेत अंग भो सेन बाढ़ी अधिकाई" ऐसा भी नूतन पाठ है। अर्थ-अधिकार-शून्य होने पर भी अहंग्रहोपासना तथा हठयोग का सेवन करते २ शरीर सफेद हो गया [वृद्धावस्था चली आई] परन्तु मन के विकार दूर न हुए प्रत्युत मनराजा की सेना (काम क्रोधादिक) बढ़ती ही चली गयी। "ऊपर उजर कहा भौ बौरे भीतर अजहूं कारो हो। तनके वृद्ध कहा भौ बौरे मनुवा अजहूं बारो हो।" [बीजक] १०—केवल अनाहत शब्द की उपासना करने वाले आत्मतत्व से बंचित रहने के कारण नष्ट हो गये। क्योंकि अनाहत शब्दोपासना साधन मात्र है साध्य

रूप नहीं। ११—चलना, कूंच करना। (अन्त काल) १२—साधन हीन होने से उक्त लोग यमपुर के रास्ते में दौड़े चले जा रहे हैं तिस पर भी शिवोऽहं और अनहद अनहद आदि की हाँक लगाते जाते हैं। १३—शमदमादिक साधनों से संपन्न होकर आत्मतत्व का विचार करे।

भावार्थ—बंध्य-ज्ञानियों का यथेष्टाचरण होता है सच्चे ज्ञानियों का नहीं। "बुद्ध्वाऽद्वैतस्य तत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्वदृशां चैवं को भेदोऽशुचि भक्षणे॥ (पंचदशी)

(५८)

(नरहरि)[1] लागो दव[2] विकार बिनुइंधन[3], मिले न बुझावनिहारा।

मैं जानौं तोही सों ब्यापै, जरत सकल-संसारा॥

पानी[4] माँह अगिनि को अँकुल[5], मिल न बुझावन पानी*।

एक[6] न जरै जरै नौ नारी, जुगुति काहु नहिं जानी॥

सहर[7] जरै पहरू सुख सोवै, कहै कुसल घर मेरा।

पुरिया[8] जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा॥

कुबुजा-पुरुष[9] गले एक लागा, पूजि न मनकी सरधा।

करत विचार जन्म गौ खीसै[10], ई तन रहत असाधा॥

---

* ग० पु० जरत बुझावै पानी।

जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि[11] अस मंद[12] न कोई।
कहँहिं कबीर सभ नारि रामकी मोते अवर न होई* ॥

टि० — [कामना-अग्नि-विचार]

१—अज्ञानियों को हरण करने वाली। अथवा 'नरहरि' यह सम्बोधन है। २—विषय, विकार रूप दावाग्नि (वन की आग) ३—जो रोचक, वाणी रूपी ईन्धन से उक्त कामनाग्नि को न बढ़ाता हो ऐसा बुझाने वाला नहीं मिलता है। अथवा केवल कल्पना से। ४—वञ्चकों की वाणी रूप पानी में अग्नि की ज्वाला छिपी रहती है, इस कारण यथार्थ शान्ति नहीं होती है ५—कामनाग्नि को सचमुच बुझानेवाला तत्वोपदेश रूप सच्चा पानी नहीं मिलता है ६—असत्कामनाओं से केवल मन को ही सन्ताप होता है यह बात नहीं, किन्तु नवनारी के आश्रय भूत शरीर को भी महा कष्ट, सन्ताप उठाना पड़ता है। ७—शरीर जलता रहता है और साक्षी आत्मा सुख से सोता रहता है। ८—पुडिया (अन्नमयकोष, स्थूल शरीर) वस्तु = आत्मा। यह स्थिति ज्ञानियों की है। इसके विपरीत अज्ञानी लोगों का चित्त अज्ञान के कारण विकल रहता है। हे राम ! यह तेरी लीला है। ९—मन। "ओछे नेह लगाय के मूलहु आवै खोय" (बीजक) १०—चला गया। ११—अज्ञानी लोग। १२—आत्मा से भिन्न। [प्राप्त करने के योग्य]

(५९)

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरिगुन[1] फांस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी-बानी ॥
केसो के कमला[2] होय बैठी, सिवके[3] भवन भवानी।

---

* ग० —पु० कहँहिं कबीर तेहि मूढ़ को भला कवन विधि होई।

पंडा के मूरति होय बैठी, तीरथहू महँ पानी।
जोगी के जोगिनी[4] होय बैठी, राजा के घर रानी॥
काहू के हीरा होय बैठी, काहु के कौड़ी कानी।
भगता के भगतिनि होय बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी॥
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ अकथ-कहानी[5]।

टि०—[माया-विचार]

१—सत्व रज और तमोगुण रूप। २—केशव = विष्णु। ३—लक्ष्मी। ४—योग-मुद्रा। ५—माया की वँचना (ठगौरी) कथा पूरी तरह कही नहीं जा सकती है।

(६०)

माया मोह मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान-रतन हरि लीन्हा॥
जीवन* ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना।
सब्द[1] गुरू उपदेस दीन्हौ (तैं) छाँड्यो[2] परम-निधाना॥
जोति† देखि पतंग हुलसै, पसुना पेखै आगी।
काल-फाँस नल मुगुध न चेतै, कनक[3]-कामिनी लागी॥
सेख सैयद कितेब[4] निरखै, सुम्रिति[5] सास्त्र बिचारि।
सतगुरू उपदेस बिनु तैं, जानिके जिव मारि॥

---

* सार छन्द † छन्द रूप माला। "रल दिसि कल रूप माला कीजिये सानन्द" इसमें १४ और १० परयति होती है।

करु विचार विकार परिहरु तरन तारन सोय।
कहँहि कबीर भगवंत भजु नल, दुतिया अवर न कोय॥[6]

टि०—[अहिंसा-विचार]

१—गुरु का शब्द, सार-शब्द, यथार्थ-वचन "सार-शब्द निरनय को नामा" (पंचग्रंथी) २—परम-धन रूप उपदेश को छोड़ दिया। ३—अज्ञानी " दीप-सिखा सम जुवति-जन मन जनि होसि पतंग " (रामायण) ४—कुरान वगैरह। ५—और पण्डित लोग स्मृति और शास्त्रों का विचार करते रहते हैं। ६—आत्मा को पहिचानो। (अपनी आत्मा को मत मारो) " आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सपश्यति " (गीता)

(६१)

मरिहो[1] रे तन काले करिहो, प्रान छुटे बाहर लै डरिहो[2]।
काया-बिगुरचनि[3] अनिबनि[4] भांती, कोइ जारे कोइ गाड़े मांटी।
हिंदू जारैं तुरुक ले गाड़ैं, यहि-बिधि अंत दुनौ घर छांड़ैं।
करम-फांस जम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा।
राम बिना नल होइहो कैसा, बाट मांझ[5] गोबरौरा[6] जैसा।
कहँहिं कबिर पाछे पछितैहो, या घर से जब वा घर जैहो।

टि०—[अन्त-दशा-विचार]

१—मरने पर शरीर की रक्षा का कौन उपाय करोगे। २—बाहर फेंके जाओगे। ३—विनाश। ४—अनेक। ५—रास्ते में। ६—एक प्रकार की

बड़ी मक्खी होती है जो कि बरसात में गोबर वगैरह की गोलियाँ बना बना कर लुढ़काया करती है। (रास्ते में लुढ़कने वाले गोबरैारा कदाचित् ही बचते हैं)

(६२)

माइ[1] ! मैं दूनौ कुल उजियारी ॥

सासु-ननदि[2] पटिया मिलि बँधलों, भसुरहिं परलों गारी ।
जारों[3] मांग मैं तासु नारिका, (जिन्हि) सरवर रचलि धमारी ॥
जना[4] पांच कोखिया मिलि रखलौं, अवर दुई औ चारी ।
पार-परोसिनि[5] करौं कलेवा, संगहिँ बुधि महतारी ॥
सहजे[6] बपुरे सेज बिछौलन्हि, सुतलि मैं पाँव पसारी ।
आउँ न जाउँ मरौं नहिं जीवौं, साहब[7] मेट लगारी ॥
एक[8]—नाम मैं निजुकै गहलौं, ते छूटलि संसारी ।
एक[9]-नाम मैं बदिकै लेखौं, कहँहिँ कबीर पुकारी ॥

टि०—[सहज-भावना विचार]

१—सहज-भावना विद्या माता से कहती है। मैंने इस लोक और परलोक को प्रकाशित कर दिया २—मैंने सासु (माया) और ननदि (कुमति) को पटिया (खटिया की पटिया) से बाँध दिया। अर्थात् दोनों को पूरी तरह अधीन कर लिया। और भसुर जेठ (अविवेक) को भी खूब फटकारा। अर्थात् अविवेक को भी लज्जित कर दिया। ३—मैंने उस स्त्री

(अविद्या) की माँग (सौभाग्य को सूचित करने वाले केशपाश) को जला दिया है जिसने मेरे साथ सरवर धमारि=रण-रंग (युद्ध क्रीड़ा) मचाया था । ४—मैंने पांचो वीरों (पंचज्ञानेन्द्रियों) को पेट में रख लिया है । और द्वैत-भाव तथा मन बुद्धि चित्त और अहंकार को भी जीत लिया है । अर्थात् शमदम को धारण कर लिया है । ५—नाना कल्पना रूप पड़ोसिन और महल्ले में रहने वालियों का तो मैंने जलपान (नाश्ता) कर डाला । और उन्हीं (कल्पनाओं) के साथ साथ सात्विक-बुद्धि वृत्ति रूप माता को भी आत्मसात् (अपने में लीन) कर डाला । भाव यह है कि स्वानुभूति तथा सहज भाव रूप सूर्य के उदय होने पर वृत्ति रूप तारे अपने आप छिप जाते है । और उलूक-वृन्द रूप नाना कल्पनाएँ न जाने कहाँ चली जाती हैं । ६—विचारे सहज भावने । ७—सद्गुरु ने मेरी लगारी= लगाव, सम्बन्ध (जन्म और मरण रूप संसार के सम्बन्ध) को मेट दिया । ८—निजरूप, राम । ९—एक=राम है नाम जिसका अर्थात् चेतन देव, " रमैया राम " को मैं सब पदार्थों से श्रेष्ठ समझती हूँ । सहज भावना की यह स्थिति है इस बात को कबीर (गुरु) पुकार पुकार कर कहते हैं ।

(६३)

*कासों कहौं को सुने को पतियाय, फुलवा के छुवत[१] भवँर[२] मरि जाय ।
गगन मँडल महँ फुल[३] एक फूला, तरि भौ डार उपर भौ मूला ।
जोतिये न बोइये सिंचिय न सोय, विनुडार विनुपात[४] फूल एक होय

---

* छन्द दण्डक ।

फुलभलफूलमालिनि[5] भलगाँथल[6] फुलवाविनसि गैलभँवरा[7] निरासल
कहँहि कबीर सुनहु-संतो भाई, पंडित[8] जन फूल रहल लुभाई ।

टि०—[कल्पना-विचार]

१—यहाँ पर फुलवा पद से वंचकों की पुष्पितवाणी, कल्पना, ज्योति का ध्यान, विश्व-वृक्ष, शरीर, भोग्य धन दारादिकों का तुल्य रूप से बोध होता है, क्योंकि ये सब फूलवत् आशु विनाशी हैं । २—जीवात्मा उक्त फूल (शरीरादिक) की आसक्ति से मरण जन्य दुःख को उठाता है ३—विश्व-वृक्ष और शरीर "ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (गीता) ४—कल्पना तथा संसार ५—माया रूप मालिन ने इसको अच्छी तरह गूंथा है, अर्थात् रचा है । ६—ज्योतिः प्रकास तथा भोगों की सामग्री ७—मन या जीव ८—नाना कल्पना तथा शरीरासक्ति आदिरूप जहरीले फूलों की मोहनी गन्ध में पण्डित रूप चतुर भवँरे भी लुभाये रहते हैं। देखिये यह कैसा अचरज है । " विजानन्तोप्येते वयमिह वियज्जालजटिलान् । न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा' (भर्तृहरिः)

(६४)

जोलहा[1] बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर नर मुनि धरें ध्याना ।
ताना[2] तनैको अहुँठा लीन्हैा, चरखी चारिहुँ बेदा ॥
सर[3] खूँटी एक रामनरायन, पूरन प्रगटे कामा ॥
भवसागर एक कठवत कीन्हौं, तामहँ माँड़ी साना ॥

४
माड़ी के तन माँडि रहाहै, मांडी बिरले जाना।
५
चांद सुरज दुइ गोडा कीन्हौं, मांझ-दीप कियो मांझा।
६
त्रिभुवननाथ जो मांजन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा॥
७
पाई करि जब भरना लीन्हो, वै बांधे को रामा।
८
वै भरा तिहुं लोकहिं बांधे, कोइ न रहत उबाना॥
९
तीनिलोक एक करिगह कीन्हौ, दिगमग कीन्हों ताना।
१०
आदि-पुरुष बैठावन बैठे, कबिरा जोति समाना

टि० —नाम सुमिरन का उपदेश

इस पद्य में प्रपंच-परायण अज्ञानियों को जुलाहे के रूपक द्वारा हरि नाम का ताना बाना तनने और बुनने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि प्रपंची लोग प्रपंच के तनने और बुनने में जुलाहों को भी परास्त (मात) कर देते हैं। अधिकारी भेद से उपदेश दिया जाता है अतः प्रपंचियों को सब से प्रथम नाम की उपासना करनी चाहिये। १ ऐ जुलाहा, प्रपञ्ची जीव तुम हरि नाम का ताना तानो, और उसको बुनो (आप की उपासना को पूर्ण करो)। यहां पर समष्टि और व्यष्टि भाव से कार्य करने वाले ईश्वर और मन को भी जुलाहा कहा गया है। और हरिनाम और श्वासा दोनों को सूत बताया गया है। एवं नामोपासना, मनोज्योति-उपासना, तथा प्राणायामादिक योगाङ्गों का साथ साथ ही वर्णन किया गया है। शब्दार्थ—अहुंठा = नापने का गज। चरखी = जिस पर सूत लपेटा जाता है। सर = सरकंडे, ताने के सूत को अलग अलग रखने वाली छोटी छोटी छड़ियां।

खूंटी = मेख, दोनों ओर से ताने को थांमने वाली खूटियां। कठवन = लकड़ी का कठौता, मांडी सानने का बरतन। मांडी = पिच, लई। गोड़ा = लकड़ी की दो घोडियां, कैंची की तरह बन्धी हुई ताने के दोनों ओर की लकड़ियां जो कि ताने को थांभे रहती है। मांझा = सूत का भांझा। मुररिया = टूटे हुए सूत को ऐंठ कर जोड़ने वाला। पाई करना = कूंचे से सूत को साफ करना और सुलझाना। भरना करना = कमचियों के बीच से सूत को निकाल लेना। भरा = नालियों पर सूत को लपेटना। करघा = कपड़ा बुनने का यंत्र, ताना = कपड़ा बुनने के लिये सूत को फैलाना। आदि पुरुष = चेतन देव। बैठावन बैठे = कपड़ा बुन कर फुरसत पाना (निष्काम नाम-उपासना से मुक्त होना) (कबिरा = अज्ञानी, भौतिक-ज्योति के उपासक)। व्याख्या—

२—ईश्वर और मन ने रचना करने के लिये अहुंठा (संकल्प) को धारण किया। अनन्तर चारों वेद रूप चरखियां घुमायी गयीं। ३—नामो पासक नाम के ताने को स्थिर रखने के लिये राम और नारायण रूप 'सर' और 'खूटी' उसमें लगा देते हैं। ४—माड़ी के तन = निःसार और हेय शरीर में मांड़ी रहा है, भूल रहा है। प्रसन्न हो रहा है। ५—योगी लोगों ने प्राणायाम का ताना तनने के लिये चान्द और सूर्य, (ईड़ा और पिंगला) का 'गौंडा' लगाया। मांझ दीप = सुषुम्णा नाडी ६—त्रिभुवन नाथ = मन "तीन लोक में है जमराजा"। हरिनाम का ताना यदि किसी कारण से टूट जाता है तो नामोपासक 'श्याम' 'गोपाल' आदिक नामों की मुररी देकर जोड़ देते हैं। ७—इस प्रकार नामोपासना परिपक्व होने पर उक्त ताने को समेट कर बड़ी सावधानी से उस सूत को रामरूप नरापर लपेट दिया। इस प्रकार उपासना से राम को बांध कर अपने अधीन कर लिया जिससे कि मुक्ति रूप पटके बनने में उक्त रामरूप 'भरा' पूर्ण सहायक

हो सके । ८—इस प्रकार रामरूप भरा के साथ प्रेम सम्बन्ध होने से अर्थात् आत्मपरिचय होने से विश्व प्रीति (विश्व बन्धुत्व) संपन्न हो जाता है । संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आत्म-सूत्र से लिपटी हुई न हो । "एतस्मिन्नुखल्वाकाश ओतश्चप्रोतश्च" (छान्दोग्योपनिषद्) ९—वीश्व, तैजस और प्राज्ञ परिचय रूप एक करिगह, मुक्ति पट बुनने का साधन [यन्त्र] बनाया और उससे दिगमग = हृदय में ताने हुए अपरोक्ष-ज्ञान रूपी ताने से मुक्ति पद रूप पट को सम्पन्न किया । १०—इस प्रकार निष्काम उपासक विवेकी जन तो आदि पुरुष शुद्ध चेतन का साक्षात्कार करके अनन्त विश्राम करने लगे । अर्थात् मुक्त हो गये । और अनात्म ज्योति [भौतिक-ज्योति, निरञ्जन, मन] के उपासक अज्ञानी लोग अन्त समय अपने उपास्य भौतिक ज्योति में समा गये, इस कारण मुक्त न हो सके । "भूतानि यान्ति भूतेज्या मद्भक्ता यान्ति मा मपि" [गीता] कहैं कबीर सुनो नर लोई, भुतवा के पुजले भुतवा होई [बीजक] "अन्ते मतिः सा गतिः" । "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः" ।

(६५)

१ जोगियाफिरि गयो नगर मँझारी, जाय समान पांच जहां नारी ।
२ गयउ देसंतर कोइ न बतावै, जोगिया बहुरि गुफा नहिं आवै ।
३ जरि गौ कंथा धजा गौ टूटी, भजि गौ डंड खपर गौ फूटी ।
४ कहँहिं कबीर इ कलिहै खोटी, जो रहै करवा (सो) निकरै टोटी

* टीका *

(हठयोगियों की गति)

इस पद्य में यह भाव योगी के रूपक द्वारा दिखाया गया है कि,

हठयोगी योग-क्रियाओं से कुण्डलिनी को शोधकर तथा षट्चक्रों और कमलों को बेध कर ब्रह्माण्ड में प्राणों का आयाम करते हुए समाधिस्थ हो जाते हैं, और महाकाल को भी धोका देने की चिन्ता में सदैव लगे रहते हैं। 'साहू से भौ चोरवा, चोरहु से भौ हीत'। परन्तु स्वरूप ज्ञान से वंचित रहने के कारण ये लोग मुक्ति पद नहीं पा सकते, विपरीत इसके हठ योगी पारदादि सिद्धियों के बल से अपने शरीर को पक्का करके अमर बनाने की धुन में लग कर शरीरान्त होने पर नाना योनियों में भ्रमण करते हैं। राज योगियों से हठ योगियों का पद नीचा है, क्योंकि हठ योग राजयोग का साधन है, इस कारण हठ योगियों को योगिया कहा है। और अज्ञानियों को भी योगिया शब्द से कहा है, क्योंकि ये भी योगी की फेरी की तरह नाना शरीरों में फेरी लगाते रहते हैं।

अर्थ—

१—देहावसान के अनन्तर हठयोगी तथा अज्ञानी फिर नगरी (शरीर) में चला गया और इसके साथ ही पंच प्राणरूप पाँच नारियां भी उस नगरी (शरीर) में जाकर बस गयीं, एवं प्राणों के बसने से इन्द्रियाँ भी बस गयीं। जीव प्राणों का धारण तथा पोषण करता है, अतएव इसकी जीव संज्ञा है "जीवो वै प्राणधारणात्" इस अभिप्राय से प्राणों को नारी कहा गया है। २—योगी दूसरे देशों में चला गया अब उसका हाल कोई नहीं बतला सकता कि "उन कहां कियो है वासा" इतना ही नहीं अब वह योगी फिर लौट कर छोड़ी हुई गुफा में पहले शरीर में नहीं आ सकता है। ३—योगी के निकलते ही उसकी कन्था (शरीर) जल गयी और गुफा की ध्वजा (सांस) टूट गयी। तथा योग दण्ड (मेरुदण्ड) और खप्पर (खोपड़ी) भी टूट फूट गया। ४—कबीर साहब कहते हैं कि यह कलि-

रूप दुःखदायिनी वासना बड़ी खोटी है, क्योंकि जैसी वासना रहती है, अन्त में वैसी ही गति होती है । अन्ते मतिः सागतिः । ठीक ही है "जो रहे करवा सो निकरे टोटी" । भाव यह है कि जिस प्रकार पानी से भरे हुए बधने की टोटी से दूध की धारा नहीं गिर सकती है, इसी तरह देहाध्यासी हठ योगी भी शरीरान्त होने पर विदेह मुक्ति नहीं पा सकते हैं क्योंकि जन्मान्तर के देनेवाले वासना-रूपी-बीज इनके हृदय-तल में पड़े रहते हैं । "सिद्ध भया तो क्या हुआ चहुँदिशि फूटी वास । अन्तर वाके बीज है फिर जामन की आस" । और ब्रह्माण्ड में प्राण निरोध करके सदैव जीते रहने की आशा भी मृगतृष्णा ही है । क्योंकि यह शरीर नश्वर तथा क्षणभङ्गुर है । "कोटिक जतन करो यहि तन की अन्त अवस्था धूरी हो ।" तथा "काँचे वासन टिकै न पानी, उड़ि गौ हंस काया कुम्हिलानी । "बालू के घर वा में बैठे चेतत नाहिं अयाना" । मेरुदण्ड पर डारि दुलैचा जोगी तारी लावें, सो सुमेर की खाक उड़ैगी कच्चा जोग कमावें ।" अवधू छांड़हु मन विस्तारा । सो पद गहो जाहि ते सद्गति पार ब्रह्म सो न्यारा, इत्यादि ।

(६६)

जोगिया के नगर बसो मति कोय, जो रे बसै सो जोगिया होय ।[१]

वहि-जोगिया का उलटा ज्ञाना, काला चोला नाहि मियाना ।[२]

प्रगट सो कंथा गुपताधारी, ता महँ मूल-सजीवनि भारी ।[३]

वहि-जोगिया की जुगुति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै ।[४]

अम्रितबेली छिन छिन पीवै, कहँहिँ कबिर सो जुगजुग जीवै ।[५]

* टीका *

(अमृत-वल्ली)

१—योगिया = देहादि प्रपंचासक्त हठ योगी तथा अज्ञानी के, नगर (शरीर) में कोई मत बसो, अर्थात् प्रपञ्च को छोड़ो, क्योंकि जो इस नगर [प्रपंच] में बसता (पड़ता) है वह योगिया (रमता राम) हो जाता है। भाव यह है कि प्रपंच ही के कारण जीव की दुर्गति होती है। २—इस योगिया (अज्ञानी) की उल्टी समझ है। और दूसरे पक्ष में प्राणों को उलट कर ब्रह्माण्ड में चढ़ा देना यह हठ योगियों का ज्ञान है। इन योगियों ने अज्ञानता रूप काला चोला ऐसा पहिना है कि वह जरा भी छोटा नहीं है (मझले को फ़ारसी में मियाना कहते हैं; जैसे—मियानाक़द) अर्थात इनका हृदय अज्ञानता से पूरी तरह ढका हुआ है ३—इनकी अज्ञानता रूप कन्था तो साफ ही दीखती है, परन्तु उसको पहनने वाला जीव-आत्मा दृष्टिगत नहीं होता है। उसी जीव का स्वरूप (शुद्ध चेतनता) संजीवनी मूरि है "रामसजीवनी मूरी"। भावार्थ—स्वरूपज्ञान होने पर जीव-आत्मा जन्म मरण से छूट जाता है।—"अज्ञानता वश वह योगिया बार २ काय-प्रवेश किया करता है" इस प्रकार उसकी युक्ति (अज्ञानता) को यदि कोई समझ ले, तो वह अज्ञान को दूर करके सब में रमे हुए शुद्ध चेतन में स्वयं रमने लगे। अर्थात् आत्मपद को पहुँच जाय तथा तटस्थ साक्षी होकर त्रिभुवन को देखने लगे। ४—कबीर साहब कहते हैं कि यह योगी (जीवआत्मा) यदि अमृत बेली रूप उक्त रामसजीवनी मूरी को खूब घोट २ कर और छान छान कर सदैव पीता रहे; अर्थात् आत्मचिन्तन में निरन्तर लगा रहै, तो मृत्यु पर विजय पाकर सदैव जीता रहे। भाव यह है कि अध्यास (भ्रम) ही से कारण देहादिकों के जन्म मरणादि धर्मों को यह

जीव अपने में मानकर अपार अन्धकार से भरे हुए दुःख सागर में डूबा रहता है; अनन्तर ज्ञान भानु के उदय होने से जब अपना स्वरूप निर्विकार तथा कूटस्थ रूप (निश्चल) साक्षात् भास आता है, तब कल्पित जन्म मरणादि रूप बन्धनों से छूट जाता है और जीवन्मुक्ति (जीते जी मुक्ति) हो जाती है। "इहैव तैर्जितः सर्गोयेषां साम्ये स्थितं मनः" जिनको आत्मसाक्षात्कार हो जाता है वे जीते ही मुक्त हो जाते हैं। यदि जीते जी संशय न छूटे तो मर कर मुक्ति को चाहना आकाश के फूल का सूंघना है। "जियत न तरै मुये का तरिहो जियतहि जो न तरै।

(६७)

जो पै बीजरूप भगवान, तो पंडित का पूछहु आन।
कहँ मन कहँ बुधि कहँ हँकार,*सतरजतमगुनतीनिप्रकार।
बिष अम्रित फल फरे अनेका, बौधा बेद कहैं तरबेका।
कहँहिं कबिर तैं मैं का जान, कोधौं छूटल को अरुझान।

टि०—[बीजेश्वर वादियों के मत की आलोचना]

बीजेश्वरवादियों का मत यह है कि बीज वृक्षन्याय से सारा संसार लोक विशेष निवासी और चतुर्भुजादिविग्रहधारी ईश्वर का परिणाम (कार्य) है १—यदि बीज रूप भगवान् से उत्पन्न होने के कारण यह विश्व-वृक्ष

पठा०—* क. पु. ॐ कारा।

कार्य और कारण की अभिन्नता से स्वयं भगवान् ही है, तो हे पंडित ! आपकी ईश्वर जिज्ञासा व्यर्थ है। इतनाही नहीं विश्वेश्वरान्तःपाति होने के कारण अन्तःकरण चतुष्टय त्रिगुण और शुभाशुभ कर्म इनमें से कोई भी हेय नहीं हो सकता है, एवं व्यक्तिभेद–व्यवहार–व्यवस्था तथा बद्ध मुक्तव्यवस्था भी नहीं बन सकती है, इत्यादि आपत्तिशतजर्जरिताङ्ग होने के कारण यह आपका मत—मल्ल सुमल्ल नहीं है।

(६८)

जो[1] चरखा* (हो) जरिजाय, बढ़ैया ना मरै,

(मैं) कातौं सूत हजार, चरखुला जनि जरै।

बाबा[2] मोर ब्याह कराव, अच्छा बरहिं तकाव,

जोलौं अच्छा बर ना मीलै तोलौं तुमहि बियाहु।

प्रथमहिं[3] नगर पहुंचते, परिगौ सोक सँताप,

एक अचंभव देखिया, बिटिया ब्याहल बाप।

समधी[4] के घर समधी आये आये बहुके भाय,

गोडे चुल्हा दैदै, चरखा दियो दिढ़ाय।

देवलोक[5] मरिजायँगे, एक न मरै बढ़ाय.

---

* इस में अमृतकुंडली, रोलाविशेष, दोहा और हरिपद—छन्द का मिश्रण है।

यह मन-रंजन कारने, चरखा दियो दिढाय।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, चरखा लखै जो कोय,
जो यह चरखा लखि परै, आवागवन न होय।

* टीका *

[मन की कल्पना]

१—कबीर गुरु कहते हैं—यद्यपि चरखा रूप शरीर जल जाते हैं, परन्तु उनका बनाने वाला मन बढ़ई नहीं मरता है, इस कारण अपनी कल्पना से नाना शरीर रूप चरखों को बार २ गढ़ा करता है। भाव यह है कि जीव आत्मा मन की कल्पना से कर्मों को करता हुआ उन्हीं के फलभूत नाना शरीरों को धरता रहता है, क्योंकि बिना ज्ञान के मन का नाश नहीं होता है। "माया मरी न मन मरा मरि २ गये शरीर"। स्वर्गादिलोकोंकी इच्छासे सकाम कर्म करने वाले कर्मी लोग तथा उपासक योगियों की तो सदैव यही इच्छा रहती है कि हमारा चरखा सदा बना रहै जिससे कि हम कर्मों के द्वारा स्वर्गादि में तथा योग द्वारा सहस्रार [सहस्र दल कमल] में पहुंच जायं २—अब पूरे अज्ञानियों की कथा सुनिये, जो कि वञ्चक गुरुओं के दिये हुए मुक्तिग्रास के लिये सदैव मुँह बाये रहते हैं, पर स्वयं कुछ भी विचारादि करना नहीं चाहते हैं यह कथा कन्या विवाह के रूपक द्वारा बतायी जाती है। वे लोग उक्त गुरुओं के चरणों में गिर कर सदैव यही प्रार्थना किया करते हैं कि हे बाबा (गुरु) किसी अच्छे वर=दुलहा (दूसरे पक्ष में) देवता से मेरा विवाह (प्रेम करा दो। और जब तक कोई अच्छा वर नहीं मिलता तब तक तुमही मुझको व्याह लो। भाव यह है मिथ्या मुक्ति के भूखे "तन मन धन सब गुरुजी के चरण" रखकर उनके अधीन हो जाते हैं।

हैं। ३—उक्त अन्धे गुरुओं के पीछे लगा हुआ अन्धा शिष्य फिर उसी पहली नगरी—[प्रपंच] में पहुंच गया जिसमें कि यह रहने से बहुत दुखी होरहा था। अनन्तर वहाँ पहुंचतेही जीवात्मा नाना शोक और सन्तापों में पड़ गया। भाव यह है कि पाखण्डियों के संग से जीवात्मा प्रपञ्च पङ्क में फंस जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि यह एक भारी अचम्भा हमने देखा है कि उक्त गुरुओं की कृपा से पिता (जीव—आत्मा) ने अपनी बेटी (अविद्या) को ब्याह कर स्त्री बना लिया है, अर्थात् पूरा अज्ञानी बन गया है। ४—(यह बात यहां पर जान लेना चाहिये कि वर और वधू के पिता परस्पर समधी कहलाते हैं, और समधियों के भाई परस्पर समधी कहाते हैं।) इसके बाद अज्ञानियों का दुर्गुण-सम्मेलन उक्त गुरुजी के सभापतित्व में होने लगा। समधी (विवेक) के घर (जगह) पर समधी [अविवेक] चले आये और वधू (अविद्या) का भाई कुविचार भी आ गया। अनन्तर सबों के उपस्थित होने पर उक्त गुरु—बाबा ने देहात्मवाद पर यह भाषण सुनाया—

"जो कछु है सो देहरे भाई * ताका सेवन करो बनाई।
इन्द्रिन भोग भली विधि दीजे * बहुत-विचार काहे को कीजे।
मरै फेर को जन्मै आई * जन्मेको कोइ देखा भाई।
बहुरि जन्मना मिथ्या मानो * जोव-ब्रह्म मिथ्या सब जानो।
पांच तत्वकी देह बनाई * अन्त पांच में पांच समाई।
जैसे वृक्ष से पत्र झराई * बहुरि वृक्ष में लगै न जाई।
औरहि पत्र वृक्ष से निपजे * तैसेहि जगजोनी जिव उपजे।
पांच तत्वको वृक्ष अनादी * तामें उपजत बिनसत सादी।
ताते कहा हमारा मानो * बोध-विचार संसकरिजानो।

(पंचग्रन्थी)

एवं "न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः । नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः" ॥ अतः "यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणंकृत्वा घृतं पिवेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" ॥ जब तक जिये सुख से जिये, करज ले ले कर घी को पानी की तरह पीता रहे, क्योंकि जल बल कर खाक हुए शरीर का फिर आना कहाँ है ।" इस प्रकार गुरुबाबा ने यह उपदेश देकर और नाना युक्तियों से देहात्मवाद को पुष्ट करके चरखा रूप देह देवता की भक्ति में सबों को लगा दिया । इस प्रकार अज्ञानियों को देहासक्ति में डाल देना तो मानों उनके गोड़ों (पैरों) को चूल्हे में दे देना है । अर्थात् जिस प्रकार पैरों के बिल्कुल जल जाने से उत्तमगति [गमन] नहीं होती है इस प्रकार देहात्मवादियों की भी उत्तम गति नहीं होती । ५—यह तो देहात्मवादियों का हाल हुआ, अब कर्मी और योगियों की दशा सुनिये । हे भाइयो ! जिन लोकों के लिये आप लोगों ने भारी कष्ट उठाया है, वे स्वर्गादिक लोक तो आप के क्षीण-पुण्य के साथ ही नष्ट हो जायँगे, परन्तु यह आपका मन बढ़ई तो फिर भी न मरेगा । आप लोग क्यों धोके में पड़े हैं । ये सब स्वर्गलोक और सत्यलोकादिक तो आप ही के मन की कल्पनाएं हैं । "लोक कहूं तो लोको नाहीं । लोकौ आहि काल की झाँई ।" [अमरमूल] । सिर्फ झूठे सुख के भूखे आपके मन को प्रसन्न करने के लिये नाना लोकों की कल्पना रूपी चरखे के फेर में उसको डाल दिया है, जिससे कि "कबहुंक ऊँचे कबहुंक नीचे" हुआ करे । ६—कबीर साहब कहते हैं कि विरले पुरुष मन की कल्पनाओं को चरखा रूप जानते हैं । अर्थात् वे सब उक्त लीलाएं मनही की हैं ऐसा जान लेना कठिन है । जो इन कल्पनाओं को तथा मन को पूरी तरह पहचान लेता है वह संसार से पार हो जाता है ।

(६६)

जंत्री[1] जंत्र अनूपम बाजे, (वाके) अष्ट-गगन[2] मुख गाजे।
तूहीं[3] बाजे तूहीं गाजे, तूहिं लिये कर डोलै॥
एक-सब्द[4] महँ राग छतीसों, अनहद बानी बोलै।
मुखको नाल स्रवन को तुंमा, सतगुरु[5] साज बनाया॥
जीभिके तार नासिका चरई, माया (का) मोम लगाया।
गगन-मँडल महँ भौ उजियारा, उलिटा[6] फेर लगाया॥
कहँहि कबिरजन भये बिबेकी (जिन्हि) जंत्री सों मन लाया।

टि०—[शब्द और शब्दी का विचार]

१—यन्त्र बजाने वाला, शब्दी, चेतन देव। २—उक्त शब्दी का बजाया हुआ जंत्र=वैखरी-शब्द, तथा अनाहत-शब्द सुन्दर स्वर से बजता है. और वर्णों के आठों स्थान रूपी गगन में प्रतिध्वनित होता हुआ वैखरी शब्द मुख में आकर गरजता है। एवं अनाहतशब्द भी अष्टम-गगन=सुरति—कमल के द्वारा गरजता है; अष्टौ स्थानानि वर्णाना मुरः कण्ठः शिरस्तथा, जिह्वामूलंच दन्ताश्च नासिकोष्ठौच तालु च। [शिक्षा] भजन—"सुनता है गुरु ज्ञानी, गगन में अवाज हो रही झीनी"। ३—वस्तुतः विचारा जाय तो चेतन ही बाजता है और गाजता है, क्योंकि जड़ स्वयं कार्य करने में असमर्थ है। ४—"आत्मा बुध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया" इत्यादि कथन से पराशब्दादि द्वारा आत्मा स्वयमेव छः राग और छत्तीस रागिनियों और

ब्रह्माण्डोद्भव दिव्य अनाहत शब्द रूप वाणी को बोलता रहता है। ५—साहब ने यह नरतन रूपी एक विलक्षण (चलता फिरता) साज (बाजा) तम्बूरा बनाया है। जिस में मेरुदण्ड से सम्बद्ध—मुखरूपी नाल [तम्बूरे की डंडी] लगी हुई है और तुम्बारूपी कान है। एवं जिह्वा रूपी तार, तथा नासिका रूपी तार की खूँटी लगी हुई है। उक्त तम्बूरे के छिद्रों को बन्द करने के लिये माया रूपी मोम का उपयोग किया गया है। भाव यह है कि शब्द और ब्रह्माण्डोद्भव-भौतिकज्योति, माया से उत्पन्न एवं सुरक्षित होने के कारण मायिक हैं, अतः इन मायिक यन्त्रों (बाजों) की रसीली तानों में न भूलकर यन्त्री (चेतन—देव) का परिचय प्राप्त करना चाहिये। ६—योगी लोग श्वासा को उलट कर ब्रह्माण्ड में निरुद्ध कर देते हैं, इस कारण वहाँ पर ज्योति का प्रकाश हो जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि जो यन्त्री से प्रेम करते हैं वेही विवेकी हैं। "कहैं कबीर सुना नरलोई भुतवा के पूजते भुतवा होई" भजन—"यह तन ठाठ तम्बूरे का"।

(७०)

जस मस पसकी तस मस नलकी, रुधिर रुधिर एक सारा (जी)[1]
पसुकी मांसु भखैं सभ कोई, नलहिं न भखै सियारा (जी)
ब्रह्म-कुलाल मेदिनी भइया, उपजि विनसि कित गइया (जी)[2]
मांसु मछरिया तौ पै * खइगे, जौ खेतन्हि महँ बोइया (जी)
माटी के करि देवी देवा, काटि काटि जिव देइया (जी)[3]

---

* ग, पु, तैं पै खइया ज्यों खेतन मों बोइया जी।

जो तुहरा है सांचा देवा, खेत चरत क्यों न लेइया (जी)

[४] कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, रामनाम निज लेइया (जी)

जे किछु कियहु जीभ के स्वारथ, बदल पराया देइया (जी)

टि०—[मांसभक्षण विचार]

१—मनुष्य और पशुओं के शरीरों में मांस और रुधिर आदिक की समानता होते हुए भी पशुओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग सर्वोपयोगी होते हैं। और मनुष्य के मृत शरीर को तो सियार भी अत्यन्त रुचि से (चाव से) नहीं खाते हैं। ऐसी दशा में निरुपयोगी अपने मांस की पुष्टि के लिये परमोपयोगी पशुओं को मारकर खा जाना कितना अनर्थ है। २—ब्रह्मारूपी कुम्हारने पृथ्वीपर अनेक प्राणियों की सृष्टि की है। भाव यह है कि जिस प्रकार एक किसान की पकी हुई खेती को काट लेने का अधिकार दूसरे किसान को नहीं है, इसी तरह विरंचि-(ईश्वर) विरचित मछली आदिक प्राणियों को मारकर खा लेने का स्वत्व (हक्क) किसी भी मनुष्य को नहीं है। हां यदि शाकभाजी की तरह मांस और मछलियों को भी खेतों में बोकर पैदा कर सकें तो अवश्य ही उन्हों को खाने का अधिकार हो सकता है। ३—देववलिरूप से पशुवध करना भी लोकवञ्चना करके स्वरसनास्वादन करना ही है; क्योंकि देवता सबों के रक्षक होते हैं, भक्षक नहीं। यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि मिट्टी के बनाये हुए देवी और देवता सच्चे होते हैं; और वे सचमुच पशुओं के खून के प्यासे होते हैं; तो भला यह तो बतलाइये कि "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" के अनुसार वे स्वयं (समर्थ होते हुए भी) पशुओं को पकड़ कर क्यों नहीं खालेते हैं? ४—कबीर-साहब कहते हैं कि इस अभक्ष्य-भक्षण को

छोड़कर राम को भजिये। जिह्वा के स्वाद से जो घोर पाप (जीव-हिंसा) किया जाता है, उसके बदले में अपनी गरदन देनी पड़ेगी, और नर्क भी भोगना पड़ेगा। साखी--' खुश-खाना है खीचड़ी मांहि पड़ा टुक नोन। मांस पराया खायके, गला कटावे कोन॥तिलभर मच्छी खायके कोटि गऊ दे दान। काशी करवत लै मरे तौ भी नरक निदान" ॥

(७१)

चात्रिक[1] ! कहा पुकारो दूरा, सो जल जगत रहा भरपूरी।
जेहि जल नाद बिंदुका भेदा, षट-कर्म सहित उपाने बेदा।
जिहि-जल जीव-सीव[2] का बासा, सो जलधरनी अमर प्रगासा।
जिहि–जल उपजल सकल-सरीरा, सो जल भेद न जाने कबीरा।

टि०—[चेतन की व्यापकता का विचार]

इस पद्य में तटस्थेश्वर (स्वविजातीयेश्वर) उपासकों का चातक (पपीहा) रूपसे, तथा आत्म-देवका जलरूप से वर्णन किया गया है। १—हे उपासक रूप चातको ! आपलोग अतिनिकट रहने वाले आत्म-देव को भ्रम से दूर समझ कर क्यों पुकार रहे हैं ? यह आत्म जल तो सर्वत्र ही भरपूर है। "तज्जलानि शान्त उपासीत" यह श्रुति का वचन है। "नियरे न खोजै बतावै दूरि, चहुंदिसि बागुरि रहलि पूरि" (बीजक) भजन—है नियड़े तेहि दूरि बतावै दूर की आस निरासी। सन्तो पानी में मीन पियासी : देखि २ आवै मोहि हांसी। सन्तो। २--जिस शुद्ध-चेतन के आश्रित शबलित (औपाधिक] जीव और ईश्वर हैं। "मायाख्यायाः कामधेनो धेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ"। और जिस आत्मा से वियदादिक्रम से

निखिल सृष्टि हुई है। "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादि। और जिस आत्मा से षट्कर्मादिप्रतिपादक वेदों का आविर्भाव हुआ है। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतदृग्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति" और जिस आत्मा से परस्पर विभक्त पवन तथा शरीरोपादान भूत रज और वीर्य्य की रसादिक क्रम से सृष्टि हुई है। एवं जिस आत्मा से पूर्वोक्त—क्रमानुयात निखिल कार्यों का निर्माण हुआ है; उस आत्म-देव के रहस्य (स्वरूप) को अज्ञानी (उपासक) नहीं समझते हैं। भावार्थ-"जा खोजत कल्पौ गये घट हीं माहिं सो मूरि। बाढ़ी गरब गुमान ते, ताते परिगयो दूरि"। (बीजक)

(७२)

चलहु का टेढ़ो टेढ़ो टेढ़ो।

दसहूँ[1] द्वार नरक भरि बूड़े, तू गंधी[2] को बेढ़ो॥
फूटे[3] नयन हिदय नहिं सूझै, मति एकौ नहिं जानी।
काम क्रोध त्रिस्ना के माते, बूड़ि मुयहु[4] बिनु पानी॥
जो जारे तन होय भसम धुरि, गाड़े क्रिमि-किट खाई।
सौकर*स्वान काग+का भोजन, तन की इहै बड़ाई॥
चेति न देखु मुगुध नल बौरे[6], तोहिते काल न दूरी।
कोटिक जतन करहु यह तन की, अन्त अवस्था धूरी॥
बालूके घरवा महँ बैठे, चेतत नाहिं अयाना।

पाठा.+मोर। *ग पु, सूकर।

कहँहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बूड़े[६] बहुत सयाना ॥

टि० — [शरीर की असारता और विनाशिता का वर्णन]

१--"झरना झरै दसौंदिसि द्वारा" । २--ऐ मनुष्य ! तू सचमुच दुर्गन्धि का रक्षक कोट रूप ही है । ३—"ऊपर की दोऊ गई हियहु कि गई हिराय । कहँहिं कबिर चारिउँ गईं ताकर काह बसाय" । ४—विना पदार्थ के । (मिथ्या भ्रम से) मृत-शरीर भस्म, क्रिमि-कीट, और विड्रूप में परिणत होजाता है । ५—ऐ प्रमादी अज्ञानियो ! । "सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः शरीरकस्यापि कृते मूढाःपापानिकुर्वते" । ६—चतुर । "चतुराई चुल्हे परो जो नहिं शब्द समाय । कोटिन गुन सूवा पढ़ै अन्त बिलैया खाय" सीकर = सियार । मुगुध = अज्ञानी । मुग्धः सुन्दर-मूढयोः (अमर) ।

(७३)

फिरहु[१] का फूले फूले फूले ।

जब दस-मास अउँध मुख होते, सो दिन काहे (को) भूले ।

जौं माखी सहते* नहिँ बिहुरे[२], सोंच सोंचि धन कीन्हा ।

मुये पिछे[३] लेहु लेहु करैं सब, भूत रहनि कस दीन्हा ।

जारे देह भसम होइ जाई, गाड़े माँटी खाई ।

कांचे कुंभ उदक जौं भरिया, तनकी इहै बड़ाई ।

दैहरि लौं बर-नारि संगि है, आगे संग सुहेला[४] ।

* क० पु० साठो ।

मृतक-थान[5] लौं संग खटोला[6], फिरि पुनि हंस[7] अकेला।
राम न रमसि मोह के माते, परेहु काल बसि कूवा[8]।
कहँहिं[9] कबिर नल आपु बँधायो, जो ललनी-भ्रम सूवा।

टि०—[भारी-भ्रम]

१—अपने शरीर की सुन्दरता और यौवन के गर्व से प्रमत्त होकर क्यों फिर रहे हो, सुनो ! भजन-"जोवन धन पाहुना दिन चारा, याको गरब करै सो गँवारा। पशु-चाम की बनत पन्हैयां, नौबत मढ़त नक़ारा। नर तेरी चाम काम नहिं आवे, जर बर होसी छारा। जोबन धन। इत्यादि। २—बिहुरै=स्वयं नहीं खाती हैं। ३—मुर्दे को जल्दी उठाले चलो। ४—सखा (इष्ट-मित्र) ५—श्मशान। ६—खटिया वगैरह (रथी) ७—जीव-आत्मा। ८—नर्क कूप में पड़गया। ९—कबीर-साहब कहते हैं कि हे अज्ञानी नर ! तू अपनी अज्ञानता के कारण इस प्रकार बँध गया है, जिस तरह सूवा (तोता) धोके से ललनी में फँस जाता है। ललनी=बांस की बनी हुई चरखी।

(७४)

ऐसो[1] जोगिया बद करमी जाके, गगन अकास न धरनी।
हाथ[2] न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा।
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई-लेखा।
करम[3] न वाके धरम न वाके, जोग न वाके जुगुती।
सिँगि-पत्र किछुवो नहिं वाके, काहे को माँगै भुगुती।

[४] मैं तोहि जाना, तैं मोहि जाना, मैं तोहि-माँहि समाना।
उतपति परलै किछुवौ न होते, तब कहु कवन(ब्रह्म)को ध्याना।
[५*] जोगी एक आनि ठाढ़ कियो है, राम रहा भरि पूरी।
औषध-मूल किछौ नहिँ वाके, राम सजीवनि--मूरी।
[६] नटबट बाजा पेखनि पेखै, बाजीगर की बाजी।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, भई सो राज-बिराजी।

टि०—(जीव-आत्मा के स्वरूप का परिचय)

शब्दार्थ—योगिया = हीन-योगी (जीव-आत्मा)। बदकर्मी = कुचाली। हटवाई = बाजार। बयाई-लेखा = व्यापार का हिसाब। सिङ्गी = नाद बजानेके लिये मृग का सींग। पत्र = खप्पर। मूरी = जड़ी। नट-बट बाजा = नट के बाजे के समान। पेखनी = दृश्य को। बाजी-खेल। सो = माया। राज-बिराजी = बेदखल।

व्याख्या—१-यह जीव आत्मा वस्तुतः ऐसा है कि जिसके न आकाशहै न अन्तरिच, और न धरणी आदिक ही है, अर्थात् यह अभौतिक है। २—जीवात्मा रूपी बनिये के रूप और आकार कुछ नहीं है। और न स्थायी बैठने को आधार भूत कोई हाट ही है, न हाथ और पैर ही हैं। तिसपर भी नाना-प्रपंच रूपी बाजार लगाया करता है। और हिसाब किताब [उधेड़-बुन] भी सदैव किया करता है। ३—यह जीव आत्मा ऐसा विलक्षण योगी है कि इसके योग-कर्म और तज्जन्यफल (समाधि-लाभादिक) कुछ भी नहीं है, न

---

* ग० पु० जोगी आन एक ठाठ कियो है। जोगिया ने एक ठाड़ कियो है।

कोई योग युक्ति ही रखता है। एवं सींगी और भिक्षापात्र इसके पास नहीं हैं, तिस पर भी यह कुचाली योगिया, भोग-भिक्षा मांगता फिरता है, यह कैसा आश्चर्य है। ४—मुक्ति के लिये तो केवल इतना ही पर्याप्त है कि "मैं" और "तू" की यथार्थता को जान लिया जाय। "मैं और तू" यही द्वैत और आवर्ण है, जो कि निजरूप पर भारी परदा है। "मैं अरु मोर तोर ते माया"। "मोर तोर की जेवरी बटि बाँधा संसार।"

५—इस योगिया ने अपनी अज्ञानता के कारण मिथ्या प्रपंच रूप यह महा व्याधि स्वयं उत्पन्न करली है, वस्तुतः नित्य-सिद्ध राम तो सर्वत्र ही भरपूर हैं। उक्त अज्ञानी योगिया, अतएव रोगिया जीव-आत्मा के भवरूप रोग की निवृत्ति के लिये परम-औषध रामरूप का परिचय ही है। यह निज रूपका बोध "अमृत संजीवनी" जड़ी है। ६—अब माया की निवृत्ति का उपाय बताते हैं—पेखनी = (दृश्य-प्रपञ्च) विषयों को नट के बाजे के समान (अपनी ओर आकर्षित करने वाले) समझे। और माया को बाजीगर की बाजी (खेल) के समान (मिथ्या) समझे। कबीर साहब कहते हैं कि इस प्रकार समझने से यह माया राज-बिराजी (अधिकार-रहित) हो जायगी। भाव यह है कि माया रूपी ठगनी की ठगौरी को ठीक २ जान लेने से वह लज्जित हो जाती है, अतएव फिर कभी (ज्ञानियों के) सामने नहीं आती है। "माया तो ठगनी भई ठगत फिरै सब देस। जा ठगने ठगनी ठगी, ता ठग को आदेस"। "गई ठगौरी (जब) ठग पहिचाना"

(बीजक)

(७५)

ऐसो[1] भरम-बिगुरचन भारी।

वेद कितेब दीन[2] औ दोजक[3], को पुरुषा को नारी।

माँटी के घट साज बनाया, नादे बिंदु समाना।
४
घट बिनसे का नाम धरहुगे, अहमक खोज(त)भुलाना।
एकै तुचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बूँद सों सिस्टि कियो है, को ब्राह्मन को सूद्रा।
५
रजगुन बह्मा, तमगुन संकर, सत्तगुना हरि सोई।
६
कहँहिँ कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई।

टि०–[एक-जाति (मनुष्य-जाति) वाद]

१—भ्रम रूपी भारी फन्दा लगा हुआ है। २—धर्म (स्वर्ग) ३—दो जख=नर्क। ४—मूर्ख-जन सत्य-पथ से विचलित होगये। ५—वस्तुतः रजः-प्रधान-मनुष्य ही 'ब्रह्मा' हैं, क्योंकि "चलञ्च रजः" इस सिद्धान्त के अनुसार रजोगुण क्रिया शील है। और तमःप्रधान-नर शङ्कर हैं, क्योंकि तमोगुण कार्यों का लयकारी है। एवं सत्व-प्रधान-मनुष्य हरिरूप हैं, क्योंकि ज्ञान-प्रकाश और सुखादिकों की अभिवृद्धि सत्वगुणोद्रेक ही से होती है। ६—कबीर–साहब कहते हैं कि आप लोग इन दोनों जातियों में समान रूप से रमने वाले निज रूप "राम" का साक्षात्करिये। वस्तुतः हिन्दू और तुरुक ये दोनों ही जातियां बनावटी हैं। "हिन्दू तुरुक कहां ते आया किन यह राह चलाई"। सच्ची तो एक मनुष्य-जाति है, क्योंकि जो आकृति को देखते ही जान ली जाय वही जाति है। "आकृति-ग्रहणा जातिः" (वार्तिक)

(७६)

अपन[1] पौ आपुही बिसरो ।

जैसे[2] सुनहा कांच मँदिल महँ, भरमते भूँसि मरो (रे)

जों केहरि बपु निरखि कूप-जल, प्रतिमा देखि परो (रे)

वैसे ही गज फटिक सिला पर, दसनन्हि आनि अरो (रे)

मरकट मँठि स्वाद नहि बिहुरै, घर घर रटत फिरो (रे)

कहँहि कबिर ललनी के सुगना, तोहि कवने पकरो (रे)

टि०—[निज–भ्रम—विनाश]

१–अपने आपको । २–जैसे काच के महल में घुसा हुआ कुत्ता अपने प्रतिबिम्बों को सच्चे कुत्ते समझ कर भूँकते २ मर गया, और जैसे सिंह कुएँ में अपनी परछाहीं देखकर कूद पड़ा, और जैसे स्फटिक–शिला पर वार २ आक्रमण करने वाला हाथी पराहत होगया, और जिस प्रकार तंग बरतन में फसी हुई मूँठी को नहीं छोड़ने वाला बन्दर बन्धन में पड़ गया, और जिस तरह बांस की नलिका पर बैठा हुआ तोता पकड़ा गया; इसी प्रकार यह जीव–आत्मा अपने ही भ्रम से आपही माया के फन्दे में पड़ गया । "स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते" । बिहुरै = छोड़ना । ललनी = बांस की नली, (फोंफी)

(७७)

आपन[1] आस* किजै बहुतेरा,† काहु न मरम पाव हरि केरा ।

* क पु० आपन अस । † ख पु० किये ।

इन्द्री कहाँ करैं बिसरामा, (सो)कहाँ गये जो कहत होते रामा[2]।
सो कहां गये जो होत सयाना[3], होय म्रितक[4] वहि पदहिँ समाना।
रामानन्द[5] रामरस माते, कहँहिँ कबिर हम कहि कहि थाके।

टिप्पणी—[स्वावलम्बन-विचार]

१—'नात्मान मवमन्येत' (मनु) २—ज्ञानहीन-नामोपासक न जाने किस गति को पहुँचे। अथवा दैष्टिक नर (प्रारब्धवादी)। ३—मिथ्या अभिमानी। ४—जीवन्मृतक (निरहंकार) होने से निजरूप की प्राप्ति होती है। ५—केवल राम नाम के उपासक रामानन्द—जन केवल राम–नाम के जपरूप–रस को पीकर मतवाले हो रहे हैं। कबीर—साहब कहते हैं कि हम उनको उपदेश देते २ थक गये कि "राम के कहे जगत गति पावै खांड़ कहे मुख मीठा" तथा बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु नाम लिये का होई। धन के कहे धनिक जो होवे, (तो) निरधन रहै न कोई। इत्यादि। सूचना—इस पद्य में स्वावलम्बन का मण्डन और परावलम्बन का खण्डन किया गया है अतः 'रामानन्द, पद से उक्तार्थ ही विवक्षित है। श्रीयुत स्वामी रामानन्द जी इस प्रसङ्ग में विवक्षित नहीं हैं। क्योंकि इस ग्रन्थ में माते पद सर्वत्र खंडन परक है। यथा "सबही मद—माते कोइ न जाग" इत्यादि।

(७८)

अब[1] हम जानिया हो, हरि बाजी का खेल।
डंक बजाय दिखाय तमासा, बहुरि हु * लेत सकेल।

पाठा०—* ख पु, बहुरि सो।

हरिबाजी सुर-नर-मुनि जहँडे, माये चाटक लाया ॥
घरमँह डारि सभै भरमाया, हृदया ज्ञान न आया ।
बाजी[२] झूँठि बाजिगर सांचा, साधुन की मति ऐसी ।
कहँहिँ कबिर जिन्हि जैसी समुझी, ताकी गति भौ तैसी ।

टि०—[ज्ञानोदय-दशा का वर्णन]

१—सद्गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर जिज्ञासु जन कहते हैं कि "अब हम जानियो हो'। "गुरू मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप। हर्ष शोक व्यापै नहीं तब गुरु आपै आप"। बाजी (माया-खेल) डंक (डंका) सकेल (समेटना) जहँडें (भ्रममें पड़ गये) चेटक (तमाशा या जादू) २—"खेल झूठे हैं और खिलाड़ी सच्चा है यह सन्तों का निश्चय है। सद्गुरु कहते हैं-जो जैसा निश्चय करता है वह वैसाही फल पाता है। फलतः जो माया को सत्य समझता है वह उसमें अनुरक्त होकर भव-धार में बह जाता है। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः"।

(७६)

कहु हो अंमर[१] कासों लागा * चेतनि हारे चेतु सुभागा ।
अंमर[२] मध्ये दीसै तारा * इक चेतै दुजे चेतवनि हारा ।
जो[३] खोजहु सो उहवाँ नाहीं * सो तो आहि अमर-पद माहीं ।
कहँहिँ कबिर पद बूझै सोई * मुख[४] हृदया जाके एकै होई ।

टि०—[शून्यवाद निरास तथा आत्मोन्मुखता]

१—हे अमर जीव ! तू किस अनात्म प्रपंच में लग गया है। दूसरे पक्ष में, तू अम्बर (आकाश, शून्य) को तत्व क्यों समझता है। कहँहिँ

कबिर खोजै असमाना'' २–जिस तरह आकाश में तारे दीखते हैं, इसी प्रकार हे अमर ! ये सब ज्योतिः प्रकाश आदिक तेरे (चेतन) ही अन्तर्गत हैं। गुरु और शिष्य भाव भी तुझ ही में है। ३ –जिस तत्व (निजरूप) को तू अनात्म पदार्थों में ढूँढ़ता है, वह वहां नहीं है; किन्तु अमर पद (आत्मा, अपने) में है। ४—''जैसी कहै करे पुनि तैसी' यह उत्तम-अधि-कारी का लक्षण है। पद, (निजपद, स्वरूप)

(८०)

बन्दे करिले आपु[1]-निबेरा।

आपु जियत लखु आपु ठवर करु, मुये कहां घर तेरा॥

यहि अवसर नहिँ चेतहु प्रानी, अंत कोई नहिँ तेरा।

कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, कठिन काल का घेरा॥

टि०, (जीवित-मुक्ति-विचार)

१-अपरोक्षज्ञान। अन्वय—जियत आपु लखु। ठवर=स्थिति 'यहि अवसर (जीतेजी) ''यावत्स्वस्थमिदंशरीरमरुजमित्यादि'' घेरा=आक्रमण

(८१)

ऊ तोरहु ररा ममाकी भांतो हो।

सभ संत उधारन चूनरी॥

*

बालमीकि बन बोइया, चूनि लिया सुखदेव।

करम बिनौरा हो रहा, सुत कातहिं जैदेव॥

[३]

तीनि लोक ताना तनो, ब्रम्हा बिसुन महेस।

नाम लेत मुनि हारिया सुरपति सकल-नरेस॥

---

* छन्द दोहा।

४
बिनु जीभै गुन गाइया, बिनु वस्ती का देस

५
सूने घरका पाहुना, कासों लावै नेह ॥

चारि-वेद कैंडा कियो, निरंकार कियो राछ ।

६
बिनै कबीरा चूनरी (मैं) ×नान्हनि बांधल बाछ ॥

टि०—[सुगम—भक्ति (रामनामोपासना) का विचार]

१—सन्तों ने सबों के उद्धार के लिये रामनाम की चुनरी बनायी है; परन्तु उसको ओढ़कर वेही सुरक्षित रह सकते हैं जो रकार और मकार की तरह निज रूप (राम) से मिले जुले रहते हैं। "बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव इव सहज संघाती' (रामायण)। भाव यह है कि ज्ञानपूर्वक राम को भजने वाले ज्ञानी भक्त ही मुक्त होते हैं। २—अब राम नामकी चुनरी के बनने का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाता है। (बन) कपास की खेती। करमा बाई ने बिनोले अलग किये अर्थात् कपास को ओंटा और जयदेवजी भक्त ने सूत को काता।

३—"अनन्तर ब्रह्मा विष्णु और महेश, अर्थात् राजसी सात्विकी और तामसी सभी कोटी के लोग तीनों लोकों में, अर्थात् सर्वत्र रामनाम को जपने लगे। यह जापरूप ताना बाना सब जगह फैल गया। ४—उक्त मनुष्यों में अधिक संख्या तो ऐसे ही लोगों की है कि जो राम की वस्ति और

सूचना—इस शब्द में पाठ—भेद अधिक हैं। जैसे तूतो ररा म मा की भाँति हो। ऊतोरहु ररा ममा०। तूतों ररा रमा की भाँति हो। वो ररा रामा की भाँति हो। × क० ग० पु० में नहि बांधल बारि।

देश को जाने बिना ही (अर्थात् राम के पूर्ण परिचय के बिना ही) केवल महिमा सुन २ कर बिन जिह्वा के (अजपा जाप द्वारा) उसके गुणों का गान करते हैं। "अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते (महारामायणे शिववाक्यम्) ४—"बिनु देखे जो नाम जपतु है सो तो रैनिका सपनाजी" इस कथन के अनुसार अज्ञानी नामोपासक सूने घर के पाहुँन है। ६—कबीरा= नामोपासक लोग विहित वैदिक क्रिया रूप कैंड़ा बनाकर अर्थात् प्रथमतः शुभ क्रिया रूप सूत्र को व्यवस्थित करके और निराकार रूप मन का राछ (साधन) बनाकर रामनाम की चुनरी को बिनते हैं, परन्तु "नान्हनि बाँधल बाछी" चुनरी को दोनों किनारियों को अच्छी तरह नहीं बांधते। भाव यह है कि विना निर्विशेष ज्ञान के निर्गुण सगुण द्वैत और अद्वैत नहीं मिट सकते हैं।

(८२)

तुम[१] यहि बिधि समुझहु लोई, गोरी मुख मंदिर बाजे।
एक[२] सगुन षट—चक्रहिं बेधै, बिना बृषभ कोल्हु मांचै।
ब्रह्महि पकरि अगिनि महँ होमै, मच्छ गगन चढ़ि गाजे।
नितै[३] अमावस नितै ग्रहन हो(इ), राहु ग्रास नित दीजे।
सुरही-भच्छन करत बेद-मुख, घन बरिसे तन छीजे।
त्रिकुटि[४]—कुंडल-मधि मन्दिरबाजे, औघट अंमर छीजे।
पुहुमि के पनिया अंमर भरिया, ई अचरज को बूझै।
कहँहिं[५] कबीर सुनहु हो सन्तो, जोगिन सिद्धि पियारी।
सदा रहै सुख संजम अपने, बसुधा आदि कुमारी।

* टीका *

(योगी माते योगध्यान)

१—कबीर साहब कहते हैं कि हे जिज्ञासुओ ! आप लोग योगियों की लीला को सुनकर समझिये। गोरी = कुण्डलिनी—शक्ति के मुख रूपी मन्दिर में अर्थात् नाभी कमल में पराशब्द रूपी बाजा बजता रहता है। यही पराशब्द पश्यन्ती तथा मध्यमा रूप में परिवर्तित होता हुआ अन्त में बैखरी बन जाता है। २—त्रिगुण फांस में पड़ा हुआ यह योगियों का मन अकेला प्राणायाम क्रिया से षट्—चक्रों को बेध देता है। अनन्तर सब चक्रों के मार्ग को तय करता हुआ ब्रह्माण्ड में पहुंचकर ज्योति का उद्घाटन कर देता है। षट्चक्र और उनके स्थान—

नाम।		स्थान।
१—आधार—चक्र।	—	गुदा स्थान।
२—स्वाधिष्ठान "	—	लिंग "
३—मणिपूरक "	—	नाभी "
४—अनाहत "	—	हृदय "
५—विशुद्ध "	—	कण्ठ "
६—आज्ञा "	—	भ्रूकुटी "

इन योगियों की लीला विचित्र है, इनके यहाँ बिना बैल के कोल्हू (कुण्डलिनी) का सञ्चलन होता रहता है। ये लोग सबके जनक ब्रह्मा [रजोगुण] को पकड़ कर योगाग्नि में जला देना चाहते हैं। तथा संसार सागर में विहरने वाला इनका मन रूपी मत्स्य ब्रह्माण्ड में चढ़कर दश अनहद शब्द रूप से 'गाजै' गरजता रहता है। भाव यह है कि सार

शब्दादिक नाम वाले सम्पूर्ण शब्द मिथ्या हैं, क्योंकि वे संघर्ष से पिण्ड तथा ब्रह्माण्डान्तर्गत आकाश में होते रहते हैं, अतः वे सब विराट् चक्र के शब्द हैं। ब्रह्माण्ड से परे कोई शब्द नहीं होता, क्योंकि वह तो चेतन की सीमा है, जिसमें कि नाना शब्द रूपी बाजे बजते रहते हैं। सुतरां इन सबों को बजाने वाला चेतन सत्य है और ये सब शब्द मिथ्या हैं, और मिथ्या के ग्रहण से मुक्ति नहीं हो सकती। "कहैं कबिर ते भये विवेकी जिन जन्त्री से मन लाया"। जंत्री = बजाने वाला ३—ईडा (चन्द्र), पिंगला (सूर्य) और सुषुम्णा मध्य नाड़ी, ये तीन नाड़ियां है। जिस समय सुषुम्णा (मध्य की नाड़ी) चलने लगती है उस समय ईडा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) दोनों का लय (अस्तभाव) हो जाता है। योगी लोग प्रतिदिन ही सुषुम्णा में ध्यान लगाया करते हैं, अतः उनके नित अमावस (चन्द्रलय-कुहू, "सा नष्टेन्दुकला कुहू") (अमरकोष) और नितही सूर्य—ग्रहण (सूर्य नाड़ी का लय) हुवा करता है। अतः रोज २ राहु को ग्रास दिया जाता है। इसके अनन्तर खेचरी मुद्रा तथा अमृत पान की विधि का वर्णन किया जाता है। हठ योगी लोग साधन विशेष से अपनी जिह्वा को ऐसी बना लेते हैं कि वह उलट कर तालु के ऊपर छिद्र में पैठ कर कुम्भक में सहायक हो जाती है। अनन्तर जिह्वा के संघर्ष से झरने वाले रस (अमृत) को अमर होने की इच्छा से पीते हैं। उक्त विधि को हठयोग के सांकेतिक शब्दों में क्रमशः सुरभी—भक्षण, तथा अमर-वारुणी पान कहा गया है, और इस विधि का माहात्म्य भी बहुत लिखा है। जैसे कि—

> "गोमांसंभक्षयेन्नित्यं, पिबेदमरवारुणीम् ।
> कुलीनं तमहं मन्ये, चेतरे कुलघातकाः ॥४७॥
> गोशब्देनोदिता जिह्वा, तत्प्रवेशोहि तालुनि ।

गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥४८॥
जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥४९॥

हठ योगदीपिका उपदेश ३ ॥ अर्थात् जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो कि आगे लिखा है) भक्षण करते हैं । और अमर–वारुणी (जो आगे दिखाई जायगी) को पीता है, वह अपने कुल का पालक है । और लोग कुल-घातक हैं । गोमांस शब्द का यह अर्थ है कि गो नाम जीभ का है अतः जिह्वा को तालु के छिद्र में चढ़ा देना ही गो मांस भक्षण है । यह विधि महापातक को दूर करने वाली है । तथा अमर वारुणी शब्द का यह अर्थ है कि तालु के ऊर्ध्व छिद्र में जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न हुई जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चन्द्रमा से झरता है । (अर्थात् भ्रकुटियों के मध्य वाम भाग में स्थित चन्द्रमा से विन्दुरूप सार गिरता है उसको अमर वारुणी कहते हैं । शब्दार्थ—वेद मुख (श्रेष्ठ मुख से) " जेहि मुख बेद गाइत्री उचरे " पूर्वोक्त सुरभी भक्षण हठ योगी करते हैं । तथा 'घन' (बंक नाल रूपी मेघ से) पूर्वोक्त जो अमृत बरसता है (उसको पीते रहते हैं) एवं योगियों का शरीर प्रतिदिन कृश होता चला जाता है । शरीर का कृश होना तथा कान्ति का बढ़ना हठयोग सिद्धि का लक्षण है, यथा—

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता, नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता विन्दुजयोऽग्निदीपनं, नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्" ॥

[हठ योग दीपिका २ उपदेश ।]

अर्थात् देह की कृशता, मुख की प्रसन्नता, नाद की प्रकटता, नेत्रों की निर्मलता, रोग का अभाव और विन्दु (वीर्य) का जय अग्नि का दीपन तथा मल शुद्धि ये हठ योग सिद्धि के लक्षण हैं ।

४—योगियों के त्रिकुटि (भ्रू मध्य से कुछ नीचे का भाग) कुण्डल के बीच में मन्दर=मृदंग गरजता है, अर्थात् अनाहत—शब्द होता है और औघट घाट (बङ्कनाल=गगन गुफा) से अमृत (पूर्वोक्त) झरता है। और पृथ्वी के पानी (नाभी की वायु) को ब्रह्माण्ड में भर देते हैं। इस आश्चर्य को कोई २ समझेगा।

५—कबीर साहब कहते हैं कि हठ योगी मुक्ति नहीं चाहते, किन्तु उनको तो सर्वभोगकरी अष्टसिद्धियाँ ही प्रिय हैं। क्योंकि "कच्चे सिद्धन माया प्यारी"। अपने मन के संयम से मनुष्य सदा सुखी रह सकता है। हठ योगी अपने मन को वासना–रहित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ये लोग तो राजा बन कर नाना भोग भोगना चाहते हैं। परन्तु यह नहीं विचारते कि यह वसुधा सदा से कुमारी ही है, क्योंकि "वसुधा काहू की न भई" भाव यह है कि हठ योगी आत्मज्ञान रूपी नौका के आरोहण से वञ्चित रहकर संसार सागर में डूब जाते हैं।

(८३)

*भूला बे[१] अहमक नादाना (तुम), ह[२]रदम रामहिं ना जाना।
ब[३]रबस आनिके गाय पछारिन्हि, गरा काटि जिव आपु लिया॥
जीयत जी मुरदा करि डारिन्हि, तिसको कहत ह[४]लाल हुवा॥
जाहि माँसु को पाक कहतु हो, ताकी उतपति सुनु भाई॥
रज बीरज सों माँसु उ[५]पानी, माँसु नपाकी तुम खाई।

---

* छन्द ताटङ्क विशेष।

अपनी देखि करत नहिँ अहमक, कहत हमारे बड़न किया ॥
उसकी[6] खून तुम्हारी गरदन, जिन्ह तुमको उपदेस दिया ।
स्याही[7] गई सफेदी आई, दिल सफेद अजहूँ न हुवा ॥
रोजा बंग[8] निमाज का कीजै, हुजरे[9] भीतर पैठि मुवा ।
पंडित वेद पुरान पढतु हैं, मोलना पठहिँ कुराना ॥
कहँहिँकबिरदोउगयेनरकमहँ, (जिन्हि) हरदम रामहिँ ना जाना ।

टि० —[हिंसा और अभक्ष्य भक्षण-विचार]

१—मूर्ख । २—श्वासोच्छ्वास में । ३—जबरदस्ती से । ४—पाक (पवित्र) ५—उत्पन्न हुआ है । ६—जिसने तुमको कुरबानी की नसीहत की है, उसने सचमुच तुम्हारा खून कर डाला क्योंकि "बदला पराया देइयाजी" । ७—जवानी बीत गई और बुढ़ापा चला आया, परन्तु हृदय से पापबुद्धि न गयी । ८—बांग । ९—एकान्त-स्थान, गुफा आदिक । भाव यह है कि हृदय-शुद्धि के बिना रोजा और नमाज आदिक सब व्यर्थ हैं । "यदि हृदयमशुद्धं सर्वमेतन्न किञ्चित्" ।

(८४)

काजी (तुम) कवन कितेब बखानी ।
झंखत[1] बकत रहहु निसु बासर, मति एकौ नहिँ जानी ।
सकति[2] अनुमाने सुनति[3] करतु हो, मैं न बदौंगा भाई ॥

जो खुदाय तेरि सुनति करतु है, आपुहि कटि क्यों न आई ।
सुनति कराय[4] तुरुक जो होना, औरति को का कहिये ॥
अरध-सरीरो नारि बखानी, ताते हिन्दू रहिये ।
घालि जनेऊ ब्राह्मन होना, मेहरिहिँ[5] का पहिराया ॥
वै जनम की सुद्रि परोसै, तुम पाँडे क्यों खाया ।
हिन्दू तुरुक कहां ते आया, किन यह राह चलाई ॥
दिल महँ खोजि देखु खोजा दे[6], भिस्ति कहाँ किन्हि पाई ॥
*कहहिँ कबीर सुनहु हो सन्तो, जोर[7] करतु है भाई ।
कबिरन्ह[8] ओट राम की पकरी, अन्त चलै पछिताई ॥

टि० --[हिन्दू जाति और तुरुक जाति का विचार]

१ --बकते झकते । २—मुसलमानी (खतना) की प्रथा प्रचलित होने के विषय में यह किम्वदन्ती है कि किसी अति प्राचीन बादशाह ने या मुहम्मद साहब न अपनी प्रियतमा की आज्ञा से मूछों के बीच के बाल और खतना करवाया था । अतः शक्ति (स्त्री) की आज्ञा से यह घृणित कार्य प्रचलित हुआ है, खुदा की प्रेरणा से नहीं । ३ —सुन्नत, मुसलमानी । ४—मुसलमान लोग जन्म से हिन्दू ही पैदा होते हैं । अनन्तर

* क० पु० छाँडु पसार राम भजु बौरे ।

मुसलमानी कराने पर भी पूरे मुसलमान नहीं हो सकते हैं, क्योंकि स्त्री अर्धाङ्गिनी मानी गयी है, और उसकी सुन्नत होना असम्भव है। अतः 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तोव्याधिः" इस कहावत के अनुसार मुसलमान लोग अङ्ग भङ्ग होकर भी पूर्ण मनोरथ न होसके। "न इधर के रहे न उधर के रहे।" इससे तो यही अच्छा था कि ये लोग सुन्नत न कराते और हिन्दू ही रह जाते। ५—स्त्री को, (ब्राह्मणी को) यही दशा ब्राह्मणों की भी है। भाव यह है कि ईश्वरीय जाति एकही है, और वह मनुष्य जाति है। "करि मत सुन्नति और जनेऊ। हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ"। ये सब अनेक जातियां मनुष्यों ने स्वयं बनायी हैं और बनाते रहेंगे। ६—अत्यन्त गवेषणापूर्वक अपने हृदय में विचार कर देखिये कि निरपराध और परमोपयोगी गौ आदिक पशुओं की हिंसा (कुर्वानी) से किसने झूठी विहिश्त (स्वर्ग) पायी है। "यही खून वह बन्दगी क्योंकर खुसी खुदाय"। ७—हठ, दुराग्रह। ८—इसी प्रकार अज्ञानी हिंसक—हिन्दू लोग राम को अपना रक्षक समझ कर महा अनर्थ करते चले जाते हैं यह उनकी भारी मूर्खता है। "जब जम ऐहैं बान्ध चलै हैं नैन भरी भरि रोया"।

(८५)

भूला[१]—लोग कहैं घर मेरा।

जा घरवा महँ भूला डोलै, सो घर नाहीं तेरा॥

हाथी घोड़ा बैल बाहनो,[२] संग्रह कियो घनेरा।

बस्ती महँ से दियो खदेरा,[३] जंगल कियो बसेरा॥

गाठी[4] बाँधि खरच नहिं पठयो, बहुरि कियो नहिँ फेरा।
बीबी[5] बाहर हरम[6] महल में, बीच मियाँ का डेरा॥
नौ[7] मन सूत अरुझि नहिँ सुरझै, जनम जनम अरुझेरा।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, पद[8] का करहु निवेरा॥

टि८–[धन और धाम की ममता का विचार]

१–अज्ञानी लोग। २–सवारियाँ। ३–मरने पर बस्ती से निकाल दिया गया। ४–मृत-मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये न किसी ने खरचा भेजा, और न किसी ने सुधिही ली। भाव यह है कि सुकृत के सिवाय परलोक का संगी कोई नहीं है। ५–विवाहिता स्त्री। ६–साधारण-स्त्रियां। अथवा माया और वासना के बीच में जीवात्मा का निवास हो गया। ७–पंच विषय तीन गुन और मन। अथवा नाना सकाम कर्म रूप नौ मन सूत का ताना बाना उरझ गया है। भाव यह है कि अनेक कर्मजन्य अनेक वासनाओं से अनेक शरीर धरने पड़ते हैं। ८–निजपद (स्वरूप) को पहिचान कर प्राप्त करिये।

(८६)

कबिरा[1] तेरो घर कँदला में, या जग रहत भुलाना।
गुरु की कही करत नहिँ कोई, अमहल--महल[2] दिवाना॥
सकल ब्रह्म महँ हंस[3], कबीरा, कागन्हि चौंच पसारा।

मनमथ-करम धरैं[४] सभ देही, नाद-बिंद-बिस्तारा ॥
सकल-कबीरा[५] बोलैं बानी, पानी में घर छाया।
अनँत लूटि होती घट भीतर, घट का मरम न पाया ॥
कामिनि रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिंदा[६] होई।
बड़ बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सकै नहिँ कोई ॥
ब्रह्मा बरुण कुबेर पुरंदर, पीपा औ प्रह्लादा।
हिरणाकुस नख बोद्र बिदारा, तिनहुँ को काल न राखा ॥
गोरख ऐसो दत्त दिगंबर, नामदेव जैदेव दासा।
उनकी खबरि कहत नहिँ कोई, कहाँ कियो है बासा ॥
चौपरि[७] खेल होत घट भीतर, जन्म के पासा ढारा।
दम दमकी कोइ खबरि ना जानै, करि न सकै निरुवारा ॥
चारि-दिग महि मंडल रचो है, रूम साम बिच डीली[८] ॥
ना ऊपर किछु अजब तमासा, मारो है जम कीली ॥
सकल-अवतार[९] जाके महि मंडल, अनँत खड़ा कर जोरे।
अदबुद अगम अगाह रचो है, ई सभ सोभा तोरे ॥
सकल कबीरा बोलै बीरा, अजहूँ हो हुसियारा।
कहँहिँ[१०] कबिर गुरु सिकली-दरपन, हरदम करहिँ पुकारा ॥

टि०—[वासना-विचार-और स्वरूपस्थिति]

१—हे अज्ञानी जीव ! तेरा घर आनन्द-कन्द (शुद्ध स्वरूप) है। उसको

भूलकर तू जगत में पड़ा हुआ है। अथवा संसार रूपी कीचड़ में पड़ा है तो भी प्रसन्न रहता है। २—नाना कल्पित-लोकों की प्राप्ति के लिये प्रमत्त हो रहा है। ३—'हंस' विवेकी जन शुद्ध-मानस सरोवर में विहार करते हैं और सद्गुण रूपी मोतियों को ग्रहण करते हैं। और अज्ञानीजन रूपी कौवे विषय रूप मलिन वस्तुओं में अपनी मनसा-रूपी चौंच को चलाते (फैलाते) रहते हैं। ४—संसार को बढाते रहते हैं। ५—वंचक-गुरु दूसरों को तो मुक्ति का उपदेश देते हैं, और स्वयं संसार-सागर में डूबे रहते हैं। ६—आध्यात्मिक-सद्गुण-शस्य (खेती) को चरजानेवाला (स्थलचर पशु) सोरठा—"जो नहिं होती नार, तो जग में तरिबो सुगम। यह लंबी तरवार. मार लेत अध बीच में"। ७—जीवात्मा मन के साथ चौपड़ या चौंसर (जूवा, दाव पेंच) खेलता रहता है, इस कारण अच्छे और बुरे—जन्मरूपी पासे पड़ते रहते हैं। (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चौपड़ के चार भाग हैं) दमके दम में (क्षण भर में) क्या अनर्थ हो जायगा यह कोई नहीं बता सकता है।" "पावपलक तो दूर है मोसे कहा न जाय। ना जाने क्या होयगा पल के चौथे भाय"। "पल में परले बीतिया लोगन लागु तवांरि" (बीजक)। ८ दिल्ली की किल्ली का वृत्तान्त। यह ऐतिहासिक-किंवदन्ती है कि, भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली के किसी हिन्दू राजा ने राज्य की सुचिरस्थिति के लिये किले की भूमि में शुभ मुहूर्त में लोहे का एक भारी कीला (स्तम्भ) गड़वाया था। अनन्तर किसी अज्ञानी राजा ने उसको उखड़वाकर अपने नाम का स्तम्भ (कीला) गड़वा दिया, तबसे हिन्दू राज्य नष्ट होगया। इस पद्य में यह घटना रूपकातिशयोक्ति से दिखायी गयी हैं। अर्थ—शरीर-रूपी पृथ्वी मंडल में नाभी, कंठ हृदय, और त्रिकुटी रूपी चार दिशाएं बनी हुई हैं और 'रूम'

शाम' अर्थात् पूर्व-देश और पश्चिम देश (शरीर का पूर्व भाग और उत्तर भाग) इन दोनों के बीच में दिल्ली स्थानीय हृदय-नगर आत्म-देव की राजधानी है। "गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। "ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" "हृदय बसे तिहि राम न जाना"। जिस में कि ऋषियों के द्वारा बड़े प्रयत्न से आध्यात्मिक-ज्ञानरूपी विजय-स्तम्भ (कीला) गाड़ा गया था। बड़े ही खेद का विषय है कि विषयी और पामरों की प्रमादता के कारण यम राजने अवसर पाकर उस स्तम्भ को उद्ध्वस्त (मटियामेट) कर डाला, और उसकी जगह अपना सन्तप्त स्तम्भ (भोगवासना और अज्ञानता रूप) गाड़ दिया। अथवा शरीर का मध्य-केन्द्र नाभी स्थल दिल्ली है और उसके ऊपर रहने वाले हृदयरूपी किले में यमराज ने अज्ञानता रूपी कीला गाड़ दिया है। ९—जीव आत्मा यदि निजरूप को पहचानले तो यह स्वयंसिद्ध (बना बनाया) ऐसा सम्राट् है कि सारे अवतार इसके मांडलिक राजा हैं। और अनन्त—शेष सदैव इसके रूप की स्तुति किया करता है। इसके ऐश्वर्य की महिमा अपार है। १०—कबीर साहब कहते हैं कि ऐ अज्ञानियो! सद्गुरु पुकार २ कर सदैव कह रहे हैं कि "अजहूं लेहु छुड़ाय काल से जो करु सुरति संभारी" इस कारण सावधान होकर अपने हृदय को सैकल किये हुए दर्पण के समान बना डालो। सुनो! सद्गुरु रूपी सिकली गर बड़े भाग्य से मिलता है। "गुरु तो ऐसा चाहिये ज्यों सिकलीगर होय। जनम जनम का मोरचा पल में डारै धोय" (कबीर-साखी)। नोट-यदि हरदमकरो पुकारा "ऐसा पाठ होतो "यह अर्थ है—मुक्ति के लिये सद्गुरु से सदैव प्रार्थना करते रहो। दिल्ली भूमध्यरेखा के पास है। "यल्लङ्कोज्जयनी पुरोपरि कुरु क्षेत्रादि देशान् स्पृशत्। सू ' मेरु गतं बुधैर्निगदिता सामध्य रेखा भुवः। (सिद्धान्तशिरोमणौ)

(८७)

कबिरा[1] तेरा बनकँदला में, मानु अहेरा खेलै ॥
†बफु-बारी आनंद-मीरगा, रूचि रूचि सर मेलै ॥
चेतत[2] रावल पावल * खेड़ा, सहजै मूल[3] बाँधै ।
ध्यान—धनुष ज्ञान—बान, जोगेसर साधै ॥
षट-चक्र बेधि कमल बेधि, जा उजियारो कीन्हा ।
काम क्रोध लोभ मोह, हाँकि सावज[4] दीन्हा ॥
गगन मध्ये रोकिन्हि द्वारा[5], जहाँ दिवस नहिँ राती ।
दास[6] कबीरा जाय पहूँचे, बिछुरे[7] संग रु साथी ॥

टि०—[मनरूपीशिकारी और हठयोगियों का वर्णन]

१—हे संसारी जीव ! तेरे हृदय-कानन में मनरूपी शिकारी शिकार खेलता रहता है । "घरघर सावुज खेलै अहेरा, पारथ ओटा लेई" । उक्त शिकारी इन्द्रियरूपी बाड़ी में चरने वाले विषयानन्दी मृगों को उत्कट भोगेच्छा रूपी तीक्ष्ण बाणों से मार २ कर गिराता रहता है । २—यह हठ योगियों का कथन है—जो योगी-राजा सावधान रहता है वह अपने योग राज्यको सुरक्षित रखता है । रावल = राजा । खेड़ा = गांव । भजन—"योगी

† छन्द सरसी और शुभ गीता । * क, पु, पवन खेडा ।

जन जागत रहियो भाई । ३—सबसे पहले मूल-चक्र (आधार चक्र) को जीते । भजन—प्रथमें मूल सुधार काज हो साग हैं । कर नैनों दीदार महल में प्यारा है । ४—वन के पशु । ५—दशम-द्वार (सहस्रदल-कमल) ६ योगी-उपासक । ७—समाधिकाल में कुछ कालके लिये बाह्यप्रपंच छूट गया । सूचना—सहस्रार और सुरति कमल तथा षट् चक्र रूप छः कमल ये आठ कमल हैं ।

(८८)

सावज[1] न होय भाइ सावज न होय, वाकी माँसु भखैं सभकोय ॥
सावज एक सकल संसारा, अबिगति वाकी बाता ।
पेट[2] फारि जो देखियरे भाई, आहि करेज न आँता ॥
ऐसी वाकी माँसु रे भाई, पल[3] पल माँसु बिकाई ।
हाड़[4] गोड़ ले घूर पँवारै, आगि[5] धुवाँ नहिँ खाई ॥
सीर सींग किछुवो नहिँ वाके, पूँछ कहाँ वै पावै ।
सभ-पंडित[6] मिलि धंधे परिया, कबिरा बनौरी गावैं ॥

टि०—[मनमाया रूप मृग-मांस के लोलुपों का वर्णन]

१—हे भाइयो ! मन और माया वस्तुतः (मिथ्या होने के कारण) सावज = शिकार नहीं है । आश्चर्य है, फिरभी उसके मिथ्या मांस (भोगों) को सब कोई खाते रहते हैं । २—मन अनुमित है और माया तो अनिर्वचनीय है ही, अतः दोनों मिथ्या हैं । ३—भोगेच्छा सदैव रहती है । ४—इस भोगामिष ने तो पारे को भी परास्तकर दिया, अग्नि की तो कथाही

[3] बूंद से जिन्हि पिंड सँजोयो, [4] अगिनि-कुंड रहाया ।
दसै मास माता के गरभे, बहुरी लागल माया ॥
बारहु ते पुनि बिरध हुआ है, होनि रहा सो हूवा ।
जब जमु ऐहैं बांधि चलै हैं, नैन भरी भरि रोया ॥
जीवन की जनि राखहु आसा, काल धरे हैं [5] सांसा ।
बाजी है संसार [6] कबीरा, चित चेति ढारो पाँसा ॥

टि०—[चेतावनी]

१—हे सज्जनो ! २—पहिले जन्म के संस्कार रूपी पृथ्वी में फिर दोबारा वैसा ही बीज तुमने क्यों बोया । अर्थात् फिर जन्म देने वाले कर्मों को क्यों किया । ३—पिता के वीर्य से । ४—जठराग्नि (गर्भाशय में) ५—तुम्हारी श्वासा रूपी डोरी को पकड़ कर काल खेंच रहा है । ६—हे जिज्ञासुओ ! इस संसार में कर्मों की बाजी [जूवा, खेल] लगी हुई है । "पासा पड़े सो दाव" इस कहावत के अनुसार जैसा कर्म वैसा फल । इसलिये तुमको उचित है कि खूब समझ बूझ कर कर्मों को करो, जिससे कि—"अब के गवना बहुरि नहिं अवना यही भेंट अँकवारी हो" । यह सत्य हो जाय ।

(६०)

संत महंतो सुमिरहु सोई, काल-फाँस सो बाँचा होई ।
दातात्रेय मरम नहिं जाना, [1] मिथ्या-स्वाद भुलाना ॥
सलिता मथिके घृत को काढिन्हि, ताहि समाधि समाना ।

गोरख पवन राखि नहिँ जाना, जोग जुगुति अनुमाना ॥
रीधि सीधि संजम बहु तेरे, पार-ब्रह्म[2] नहिं जाना ।
बसिस्ट सिस्ट विद्या संपूरन, राम ऐसे सिख-साखा[3] ॥
जाहि[4] रामको करता कहिये, तिनहुँ को काल न राखा ।
हिंदू कहैं हमहि ले जारब, तूरुक कहैं हमारे पीर ॥
दोनौं आय दीन महँ झगरैं, ठाढ़े देखैं हँस-कबीर[5] ।

टि०—[स्मरणीयवस्तु 'तत्व']

१—मन की कल्पनाओं में पड़ गये । २—निर्विशेष आत्मा [शुद्ध चेतन, निजरूप] सूचना—कबीर-पन्थी ग्रन्थों में निज पद का स्मरण पारब्रह्म-शब्द से बाहुल्येन किया गया है । यथा ' पारब्रह्म से न्यारा" । इत्यादि ३—शिष्य—प्रशिष्य । ४—जिन (अवतार) राम को संसार का कर्ता मानते हैं उनका भी अयोध्या के 'गुप्तार घाट' पर शरीरान्त हो गया, साधारण मनुष्यों की तो कथा ही क्या है । ५—ज्ञानी-पुरुष । "राम मरैं तो हमहूं मरिहैं, हरि न मरैं हम काहे को मरिहैं," इस निश्चय के अनुसार कबीर साहब ने यह भविष्यद् घटना का उल्लेख किया है । ऐसा मालूम पड़ता है ।

(६१)

तनधरि सुखिया काहुँ न देखा, जो देखा सो दुखिया ।
उदै अस्त[1] की बात कहतु हौं, ताकर करहु विवेका ॥
बाटे बाटे[2] सभ कोइ दुखिया, का गिरही बैरागी ।

सुखाचार्ज[३] दुख ही के कारन, गरभहिँ माया त्यागी ॥
जोगी जंगम[४] ते अति दुखिया, तपसी को दुख दूना ।
आसा त्रिस्ना सभ घट व्यापै, कोइ महल नहि सूना ॥
सांच कहौं तो सभ जग खीझै, झूठ कहा नहि जाई ।
कहँहिं कबिर तेई भौ दुखिया, जिन्हि[५] यह राह चलाई ॥

टि०—[दुःखमय-जगत]

१—आदि-अन्त तथा उत्पत्ति और प्रलय । २—कर्मादिक मार्ग । ३—शुकदेवजी । ४—शैवमतावलम्बी । ५—जिन ब्रह्मादिकों ने इन सकाम कर्मों का विधान किया है ।

(६२)

ता मनको चीन्हहु × मोरे भाई * तन छूटे मन कहाँ समाई ।
सनक सनंदन जैदेव नामा * भक्ति-हेतु[१] मन उनहुं न जाना ।
अंबुरीषि[२] प्रहलाद सुदामा * भगति सही मन उनहुँ न जाना ।
भरथरि गोरख गोपीचंदा * ता मन मिलि मिलि कियो अनंदा ।
जा मनको कोइ जाने न भेवा * ता मन मगन भये सुख[३] देवा ।
सिव[४] सनकादिक नारद सेसा * तनके भितर मन उनहुं न पेखा ।
एकल निरंजन[५] सकल सरीरा * तामहँ भ्रमिभ्रमि रहल कबीरा ।

×क० पु० ढूंढहु ।

टि०—[मनो-विज्ञान]

१—मन के निरोध के लिये उपासना की जाती है परन्तु उपासना का जनक मनही है। "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धिनेदं यदिदमुपासते" २—अम्बरीष-राजा। ३—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" यह समझते हुए विलक्षण मानसिक आनन्द का अनुभव किया। ४—अधिकारी पुरुषों को अधिकार-रक्षा के लिये मन का अनुसरण करना अनिवार्य्य होता है। ५—समष्टि सूक्ष्मशरीर में मन की प्रधानता है, और उसका अभिमानी हिरण्य—गर्भ है अतः वह सूत्रात्मा सब शरीरों में सूत्र रूप से अनुस्यूत है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे"। समष्टिमनोभिमानी का नाम पारिभाषिक निरंजन है, यह पहले सविस्तर लिखा जा चुका है। फलतः सारे शरीर में एक मन है और उसी के भोगस्वाद में पड़कर कबीरा = जीवात्मा अनेक योनियों में भटक रहा है।

(९३)

(बाबू)[१] ऐसो है संसार तिहारो, ई है कलि बेवहारो।
को अब अनुख[२] सहै प्रति दिनको, नाहिँन रहनि[३] हमारो॥
सुम्रिति[४] सुहाय सभै कोई जानै, हिरदया ततु ना बूझै।
निरजीव आगे सरजिव थापै, लोचन किछुवो न सूझै॥
तजि अम्रित[५] विष काहे को अँचवै, गांठी बांधै खोटा।
चोरन[६] दीन्हों पाट सिंघासन, साहुन से भौ ओटा॥

कहँहिँ कबिर झूठे मिलि झूठा, ठगहीं ठग बेवहारा।
तीनिलोक भरि पूर रह्यो है, नाहीं है पतियारा॥

टि०–[संसार-व्यवहार]

तीन-लोक (त्रिगुणात्मक-भव-सागर) में मन का आधिपत्य होने के कारण संसार का राजा मन ही है। "तीन लोक में हैं जमराजा चौथे लोक में नाम निसान" स्वभावतः दुःखदायी होने के कारण मन यम कहा जाता है। यह पद्य मन राजा को उद्देश्य करके कहा गया है (इसी प्रकार के बचन "निरंजन-गोष्ठी" नाम से प्रसिद्ध हैं) १–हे बाबू! (मन!)। २–भ्रमजन्य-दुःख। ३-हमारे अनुकूल नहीं हैं। ४-मांसाहारी-शास्त्रव्यवसायियों को केवल शब्द दृष्टि है, अर्थ-दृष्टि (आत्म-दृष्टि) नहीं, इसी कारण अपने अनुकूल होने से हिंसा विधायक आधुनिक स्मृति वचनों का तो "यः शब्द आह" यह कहते हुए अक्षरशः पालन करते हैं, और "मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इत्यादिक श्रुति वचनों की अवहेलना करते हैं। इसके अतिरिक्त यह महा अनर्थ किया जाता है कि मुरदे (जड़-मूर्तियों) की प्रसन्नता के लिये ज़िन्दे (बकरा आदिक बलिपशु) को मारकर उसके चरणों मे रख देते हैं। स्वार्थियों को मुरदा और ज़िन्दा भी नहीं सूझता है। सच्ची बात तो यह है कि "जिभ्या स्वाद के कारने (नर) कीन्हे बहुत उपाय"। ५–आत्म-प्रीति को छोड़कर आत्मद्वेष क्यों करते हो। और कुकर्म रूपी खोटा 'दाम' (रूपयादिक) पल्ले क्यों बाँधते हो। ६–ऐ अज्ञानियो! ज्ञान रत्न को चुराने वाले वंचकों को तो तुम गुरु बनाकर पूजते हो और सच्चे वीतराग-महात्माओं से मुंह छिपाते

हो, यह महा अन्याय है। ७–निरंजन देव ! तीनों लोकों में तुम्हारा अप्रतिहतशासन है। हमारे वचनों का तो किसी को विश्वास ही नहीं है।

(६४)

कहहु निरंजन[1] कवने बानी।

हाथ पाँव मुख स्रवन जीभि नहिँ, का कहि जपहु[2] हो प्रानी॥

जोतिहिँ[3] जोति-जोति जो कहिये, जोति कवन सहिदानी।

जोतिहिँ जोति-जोति दै मारे, तब कहाँ जोति समानी॥

चारि-बेद ब्रह्मा जो कहिया, तिनहुँ न या गति[4] जानी।

कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, बूझहु पंडित ज्ञानी॥

टि०—[ब्रह्मज्योति के उपासकों से प्रश्न]

१–निरंजन (मन) का क्या परिचय है। २–उसके स्वरूप का क्या वर्णन है। ३– 'दूरङ्गमंज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'' इस यजुः श्रुति के अनुसार ज्योतिःस्वरूप मन को आप लोग ज्योतियों का ज्योति (प्रकाशक) कहते हैं तो उसकी नित्य प्रकाशता की क्या पहचान है। अथच प्रतिसंचरानक्षर में जब उक्त भौतिकज्योति, स्वप्रकाश स्वयं ज्योति (चेतन) में विलीन हो जाती है, तब कहिये उक्त ज्योति कहाँ रही ? ४–वह स्वयं ज्योति स्वसंवेद्य है, अतः वेदादिक का विषय नहीं। ''यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह'' अतः वही ज्ञातव्य है।

(६५)

[1]को असकरइ नगर कोटवलिया * मांसु फैलाय गीध रखवरिया।

[2]मुस भौ नाव मँजार कँडिहरिया * सोवै दादुल सरप पहरिया॥

३
बैल बियाय गाय भै बंझा * बछवहिँ दूहहिँ तिनितिनि मंझा।
४
निति उठि सिंघ सियारसों जूझै * कबिर का पद जन बिरला बूझै।

टीका

(" ये कलि गुरू बडे परिपंची डारि ठगौरी सभ जग मारा ")

१—कबीर साहब कहते हैं कि ऐसे महा विकट इस नटखट संसार नगर की कौन कोतवाली (ज्ञानोपदेश, रक्षा) करे, जिसकी यह दशा है कि ' सांच कहै तो मारा जावै, झूठहि जग पतियाई हो ' । इस नगरी की तो सारी ही चालें उलटी हैं, " गोकुल गांव को पैंड़ोहि न्यारो " । "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः " । देखिये मांस (नाना विषय) फैला हुआ है और गिद्ध (मन) उसका रखवार बनाया गया है। भाव यह है कि पूर्वोक्त नाना प्रपंच रूपी पङ्क से सना हुआ अज्ञानियों का मन बिना आत्मज्ञान रूपी जल के कभी निर्मल नहीं हो सकता है, जिस प्रकार कीचड़ से कीचड़ नहीं धुल सकता है, उसी प्रकार वञ्चकों के प्रपंचोपदेश से अज्ञानियों का प्रपंच भी दूर नहीं हो सकता है। "विष के खाये विष नहिं जावे, गारुड़ सो जो मरत जियावे " । २—यह भी एक अचरज ही है कि मूस (अज्ञानी) तो बेचारे नाव (दूसरों के चलाने से चलने वाले) बने बैठे हैं। और मंजार (वञ्चक गुरु) इनके कँडिहार, कर्णधार, (नाव चलाने वाले मल्लाह) बने हुए हैं। भाव यह है कि वञ्चक गुरु अन्ध श्रद्धा वालों को भटका कर अपना स्वार्थ बना रहे हैं। एवं दादुर = मेंडक (अज्ञानी) अपने उक्त गुरुओं के भरोसे सो रहे हैं और सर्प (अहंकार) उनका पहरेदार बना हुआ है। भाव यह है कि अज्ञानियों के वचनों को

मानकर अपने आपको जीवन्मुक्त मान लेना केवल मिथ्या अहंकार है। ऐ भाइयो ! जो स्वयं सत्य मार्ग पर नहीं चलते उनके वचनों में पड़कर अपना सर्वनाश क्यों करते हो "लोग भरोसे कवन के बैठ रहे अरगाय। ऐसे जियरहिं जमु लुटै, (जस) मटिया लुटै कसाय"। ३—अज्ञानियों के घर में तो सदैव बैल (अज्ञान) ही बियाया करता है। और निरन्तर भूखी रहने वाली बेचारी गाय (सात्विक बुद्धि) तो बाँझ (बन्ध्या) ही हो गई है। "सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई"। (रामायण उत्तर काण्ड) तथा उक्त बैल से पैदा हुए मन के संकल्प रूपी बछड़े को तीनों बेर दुहने लगे। अर्थात् असत्योपदेश से अज्ञानी लोग नाना संकल्प विकल्पों में पड़ गये। ४—कबीर साहब कहते हैं कि यह सिंह [जीवात्मा] प्रति दिन सबेरे उठकर सियार [मन] से युद्ध करता है। और मेरे बताये हुए निज पद [आत्म-तत्व] को तो कोई बिरलाही समझता है।

भावार्थ—इस अज्ञानी सिंह को मन मदारी खूब ही नचाया करता है। " बाजीगर का बाँदरा ऐसा जिउ मन साथ। नाना नाच नचाय के राखे अपने हाथ " (बीजक)।

(६६)

काको रोउँ गयल बहुतेरा * बहुतक मुवल फिरल नहिँ फेरा।[१]
जब हम रोया तैं न सँभारा * गरभ बास की बात बिचारा ॥*[२]
अब तैं रोया का तैं पाया * केहि कारन तैं मोहि रुवाया।[३]
कहँहिँ कबीर सुनहु नरलोई * काल के बसी परै मति कोई ॥[४][५]

---

* पाठा०—बिसारा।

टि०—[काल की प्रबलता का विचार]

१—मरगये, और किसी के लौटाने से नहीं लौटे। "वहां के गये बहुरि नहिं आवे ऐसो है वह देसवा"। २—जवानी में। ३—अन्तसमय। ४—लोगो!। (इसी लोई, शब्द के आधार से अज्ञानी लोग लोई माई की कल्पना करते हैं]। ५—निज रूप को न भूलो तथा कामना रूपी जाल में न पड़ो।

(६७)

अल्लह राम जिवो तेरि नांई, * जन पर * मेहर होहु तुम साँई[१]।

का मूंडी भूमी सिर नाये, का जल देह नहाये॥

खून करै मसकीन[२] कहावै, अवगुन रहै छिपाये।

का ऊजू[३] जप मंजन[४] कीन्हे, का महजिद सिर नाये॥

हिदया कपट निमाज गुजारैं, का हज मंका[५] जाये।

हिंदु एकादसि करैं चोबीसों, रोजा मूसलमाना॥

ग्यारह मास कहो किन टारे *एकहि माह नियाना।

जो खोदाय महजीद बसतु है, अवर मुलुक केहिकेरा॥

तीरथ मूरति राम निवासी, दुइ महँ किन्हहु न हेरा।

पूरब दिसा हरी को बासा, पच्छिम अलह मुकामा॥

---

* क, पु. जनके मेहर। * ग, पु, एक महीना आना।

दिल महँ खोजु दिलहि महँ खोजो, इहैं करीमा रामा ॥[6]
वेद कितेब कहो किन झूंठा, झूंठा जो न बिचारै।[7]
सभ घट एक एक करि जानै, वै * दूजा केहि मारै ॥
जे ते औरति मरद उपाने, सो सभ रूप तुम्हारा।
कबिर पोंगरा अलह रामका, सो गुरु-पीर हमारा ॥[8]

टि०—[राम और रहीम की एकता तथा पाखंड विचार]

१—ऐ साईंजी ! ये सब (हिन्दू और गाय वगैरहः) आपही की तरह अल्लाह और राम के पैदा किये हुए जीव (प्राणी) हैं। और आप कहलाते भी साईं (स्वामी, रक्षक) हैं, इस लिये सबों पर दया करिये। याद रखिये दीन की दुहाई देकर बेगुनाहों का ख़ून करने वाले जाहिल मुसलमानों का रोजा और नमाज हराम हैं। और इसी तरह हज़ करने के लिये मक्का और मदीने में जाना भी फिजूल है, क्योंकि दिलही की सफाई से बिहिश्त मिलती है "यदि हृदयमशुद्धं सर्वमेतन्न किञ्चित्। २—ग़रीब (फकीर) ३—इन्द्रिय शुद्धि। ४—मज्जन (स्नान) ५—मक्का शरीफ। ऐ मुसलमानो ! आप लोग सिर्फ रमजान माह [महीना] को पाक समझ कर रोजा रखते हैं। भला यह तो बतलाइये-बाकी के मुहर्रम वगैरह एगारह महीनों को किसने नापाक बतला कर अलग कर दिया है ? । नियाना = निदान। फलतः 'नियाना' यह प्राकृत शब्द संस्कृत निदान शब्द का तद्भव रूप है। ६—यदि सचमुच अल्लाह और राम के

* ग, भय दूजा के मारे।

दर्शन करना है तो बड़ी सावधानी नम्रता और प्रेम के साथ सब प्राणियों के हृदय निकेतनों को ढूँढो । अर्थात् सर्वप्रिय [विश्व-बन्धु] बनो । "इस बोलते का खोज करो जिसका इलाही नूर है,जिन प्राण पिण्ड सवारिया सो तो हाल हजूर है। कहैं कबीर पुकारि के साहब घट २ पूर है" । ७— वेद और कुरान के 'एकात्म तत्व' को जो नहीं जानता है, वह अपराधी है । ८—कबीर साहब कहते हैं कि सब जीव अल्लाह और राम के पौंगरा = (बच्चे) हैं । क्योंकि एक ही मालिक के वे सब नाम हैं । और वह "साहब" हमको भी मान्य है ।

(९८)

*आव बे आव (मुझे) हरि को नाम, अवर सकल तजु कवने काम
कहँ तब आदम कहँ तब हव्वा, कहँ तब पीर पैगंबर हूवा
कहँ तब जिमीं कहां असमान, कहँ तब बेद कितेब कुरान
जिन्हि दुनियां महँ रची[1] मसीद झूठा रोजा झूठी ईद
सांचा एक अलह[2] को नाम, जाको नै नै करहु सलाम
कहु धौं भिस्त[3] कहां ते आई किसके कहे तुम छुरी चलाई
करता किरतम[4] बाजी लाई, हिन्दु तुरुक की राह चलाई
कहँ तब दिवस कहां तब राती, कहँ तब किरतम किन उतपाती
नहिं वाके जाति[5] नहिँ वाके पांती, कहँहिं कबिर वाके दिवस न राती

*इस में चोपई और चौपाई छन्द है । चोपई में १५ मात्रा और अंत में गुरु लघु होते हैं । तिथिकल पौन चोपई माहि"

टि०—[नाम चर्चा और आदि कथा]

१—मस्जिद। जिन उल्माओं ने ये सब झूठे खेल रचे थे वे भी आरम्भ काल में न थे। २ केवल एक मालिक का नाम सच्चा है जिसको तुम लोग अल्लाह कहते हो, और झुक २ कर सलाम करते हो। ३—भला यह तो बतलाइये कि ऐसी बिहिश्त को किसने बनाया है, और कहाँ पर है, जो कि निरपराधों के ख़ून से मिलती है। ४—ये सब मालिक की माया के खेल हैं, जिससे कि हिन्दू और मुसलमान अपने आप को भिन्न २ देशों (पूर्व और पश्चिम) के पथिक समझ रहे हैं ५—तत्व तो यह है कि वह मालिक न हिन्दू है न मुसलमान, अतः किसी भी श्रेणी का पक्षपाती नहीं है। खेद है कि इस तत्व के न जानने से हिन्दू और मुसलमान कल्पित नाना पाखण्डों में पड़ कर एक दूसरे को मिटा देने पर उद्यत हो रहे हैं।

(६९)

अब कहँ चलेहु अकेले मीता * उठहु न करहु घरहु की चिंता।
खीरि खांड घ्रित पिंड सँवारा * सो तन लै बाहरि करिडारा।
जिहि-सिर रचि रचि बांधेउ [1] पागा * सो सिर-रतन [2] बिडारत कागा।
हाड जरैं जस लकरी [3] झूरी * केस जरैं जस [×] घास की पूरी।
आवत संग न जात सँगाती * काह भये दल बांधल हाथी।
माया के रस लेन न पाया * [4] अंतर जमु बिलारि होय धाया।
कहँहिं कबिर नर अजहुं न जागा * जम का मुदगर मँझ-सिर लागा।

पाठा०—× क० पु० जस त्रिन की झूरी।

टि०—[अन्तिम अवस्था का विचार]

१—खूब सँवार सँवार के। २—उस सुन्दर-शिर को कौवे नोचते हैं या अलग करते हैं। (छिन्न-भिन्न करते हैं)। ३—सूखी हुई। ४—अन्त समय। "इत उत मुस फिरे ताकि रहे मिनकी" (सुन्दर विलास)

(१००)

देखहु[1] लोगा हरिकि सगाई * माय धरै पुत धिय संग जाई।
सासु-ननँदि[2] मिलि अदल चलाई + * मादरिया ग्रिह बैठी जाई।
हम[3] बहनोइ राम मोर सारा * हमहिं बाप हरि पूत हमारा।
कहँहि[4] कबिर ई हरि के बूता * राम रमे तैं कुकरिके पूता॥

* टीका *

(राम न रमसि कवन दँड लागा, मरि जैबे का करब अभागा)

१—कबीर साहब कहते हैं कि हे विवेकी लोगो! सर्व-पापों के हरण करने वाले शुद्ध चेतन को जान कर आप सब उसी से अपना प्रेम सम्बन्ध (अभेद-बुद्धि, आत्मचिन्तन) जोड़िये। यह पवित्र सम्बन्ध आप को संसार सागर से पार कर देगा। अज्ञानियों ने तो बड़ा ही अनुचित औ घृणित सम्बन्ध जोड़ा है। सुनिये! पूत=पुत्र (अज्ञानी) माय=माता (ममता) को धरता है, और असद्बुद्धि रूप धी (निज कन्या) के साथ भी गमन करता है। भाव यह है कि जीवात्मा ममता में पड़ कर बार २ संसरण करता हुआ मिथ्या कल्पना में पड़ा रहता है।

+ क० पु० अचल चलाई, मादरिया ग्रिह बेटी जाई।

२—अविद्या पति जीवआत्मा की सासु (माया) और अविद्या की ननँद (कुमती) ने मिल कर सारे संसार में अदल (अधिकार) जमा लिया है। इतना ही नहीं उन दोनों ने तो मदारी ईश्वर के रहने के घर (हृदय) में भी आकर अपना दखल जमा लिया है। "नट मरकट इव सबहि नचावत, राम खगेश बेद अस गावत"। "नाना नाच नचाय के नाचे नट के भेख। घट २ अविनासी अहै सुनहु तकी तुम सेख"। अर्थात् अज्ञानियों के हृदयों में कुमति और माया बैठ गई है। कैसा अनर्थ हुआ ईश्वर का भी घर छिन गया।

३—इस प्रकार माया की प्रबलता हो जाने से निज रूप राम में भी भेद मूलक नाना सम्बन्धों की कल्पना करते हुए भेद बुद्धि वाले कहने लगे कि "हम बहनोई राम मोर सारा, हमहिँ बाप हरि पुत्र हमारा"।

४—कबीर साहब कहते हैं कि यह सब हरि के बूता (रचना, माया) हैं, इस लिये इसको पीठ देकर कुकरी (माया) के पूतो ! ऐ जीवो ! तुम लोग राम में [सब में रमने वाले शुद्ध चेतन में] रमो अर्थात् अपने को पहचानो।

यहाँ पर ऐसा भी पाठ है कि "सासु ननद मिलि अचल चलाई, मादरिया गृह बेटी जाई" शब्दार्थ—जब मदरिया [मन] के घर में बेटी इच्छा पैदा हुई, तब सासु ननद ने मिल कर अचल को चलाया।

भावार्थ—वस्तुतः कूटस्थ (अचल) जीवात्मा भी माया और कुमति के चक्र में पड़ कर नाना योनियों में दौड़ सा रहा है। यह जीव का संसरण अभ्यास जन्य भोगेच्छा के कारण होता है। "भरमक बाँधलाई जग, यहि बिधि आवे जाय"। अज्ञान दशा में मन भी मदारी बन कर जीवात्मा को नचाया करता है, इससे मन को भी मदारी कहा है। "बाजीगर का

बाँदरा, ऐसा जीव मन साथ" । इस पद्य में भी हम बहनोई राम मोर सारा का वही अर्थ है कि हम बहनोई (सुमति के धारण करने वाले हैं) इस नाते से राम हमारे सारे हैं, तथा राम हमारे पुत्र [पूत्=नर्क से त्र=रक्षा करने वाले] हैं, इस नाते से हम हरि के पिता हैं। कबीर साहब कहते हैं कि भक्तों का यह कथन हरि के बूता (बल या भरोसे) से है, परन्तु हरि में रम रहने वालों को ये (भेद बुद्धिमूलक) सम्बन्ध नहीं भासते हैं। अतः हे भक्तो ! आपभी राम में पूर्णतया रम जाइये।

(१०१)

[1] देखि देखि जिय अचरज होय, ई पद बूझै बिरला कोय।
[2] धरती उलटि अकासहिं जाय, चिउँटी के मुख हस्ति समाय।
[3] बिनु पवने जो परबत उड़ै, जिया—जंतु सभ बिरछा बूड़े।
[4] सूखे सर-वर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करै किलोल।
[5] बैठा पंडित पढ़ै पुरान, बिनु देखे का करै बखान।
[6] कहँहिं कबिर जो पदको जान, सोई सत सदा परवान।

* टीका *

योगियों के ये दो मार्ग बहुत प्रसिद्ध हैं एक पिपीलिका मार्ग और दूसरा बिहंगम मार्ग । प्राणायाम द्वारा षट्चक्रों को बेध कर धीरे २ प्राणों को ब्रह्माण्ड में चढ़ाना पिपीलिका मार्गी हठ योगिया का काम है। और जिस प्रकार पक्षी एक पेड़ से उड़ कर दूसरे पेड़ पर बिना ही अधिक परिश्रम के बैठ जाता है, इसी प्रकार सुरति (वृत्ति) द्वारा मनो-निग्रह करके सत्य लोक में पहुँच जाना, सन्त मत के अनुसार अभ्यास

करने वाले विहङ्गम मार्गियों का काम है। हठ योगियों की अपेक्षा सुरति योगियों का अभ्यास-मार्ग अच्छा है। क्योंकि इससे साधन-सम्पन्न अधिकारियों का थोड़े से परिश्रम से ही मनो-निग्रह हो जाता है। निरक्षर—सार शब्द का अभ्यास (अर्थात् नादोपासना रूप सहज योग) को केवल साधन मात्र समझ कर आत्म-परिचय रूप साध्य की प्राप्ति के लिये यदि किया जाय तो कोई हानि नहीं है; परन्तु आज कल तो सहज योग के अभ्यासी पूर्वोक्त साधन को ही साध्य समझ कर " तत्व " की ओर तो पीठ ही कर बैठे हैं। और दिनों दिन नाना कल्पित लोक और धामों का सन्देशा सुनाते हुए अन्धकार में पड़े हुए अज्ञानियों को अधिक अन्धकार में ढकेलते जा रहे हैं। सन्त मत के प्रवर्तक कबीर साहब आदिक सन्त महात्माओं की यह आज्ञा कदापि नहीं है कि अधिकारियों की आँखों पर अज्ञानता की पट्टी बाँध कर कल्पित नाना लोक और धामों में उनको घुमाते हुए आत्मतत्व से वंचित कर दिया जाय। जीव के स्वरूप को ही कबीर साहब तथा अन्य महात्माओं ने अमर पद, पद, अमर लोक, और सत्यलोक आदिक नामों से निर्दिष्ट किया है। और उक्त लोक की प्राप्ति का एक मात्र साधन आत्मज्ञान को बतलाया है। अतः ज्ञानातिरिक्त अन्यान्य पाखण्डों से (जो कि जीवात्मा को सत्य मार्ग से गिराने वाले हैं) उक्त सत्यलोक की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है क्योंकि सत्य लोक (आत्मा) तो अत्यन्त समीप है और ये पाखण्ड तो जीवों को बवंडर (बबूला) की तरह सोरह असंख्य योजन दूर आकाश में फेंक देते हैं। इसी बात को श्रुति ने स्पष्ट ही कर दिया है कि "तस्यायमात्माऽयं लोकः" इस जीव की आत्मा (शुद्ध चेतन) ही लोक है। तथा "एतमेव लोक

मभीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति" इसी आत्मलोक को पाने के लिये महात्मा संसार को त्याग देते हैं। और कबीर साहब ने भी कहा है कि "ज्ञानअमर पद बाहिरे नियरे ते हैं दूर। जो जाने तेहि निकट है, रहा सकल घट पूर"। अमर लोक फल लावें चाव। कहहिँ कबीर बूझै सो पाव। नियरे न खोजै बतावै दूरि। चहुंदिसि बागुलि रहलि पूरि।

※ सहज योग विहङ्गम मार्ग ※

१—व्याख्या—कबीर साहब कहते हैं कि यह देख कर मुझको बड़ा आश्चर्य होता है कि सब प्रकार के योगी लोग मन के कल्पित नाना लोक और धाम रूपी सराय में ही पड़े रह जाते हैं, और इस निजपद, अपना घर (अमर पद) अमर लोक आत्म-तत्व को तो कोई २ बूझता है। २—अब सुरति योग की प्रक्रिया बतलाते हैं। अभ्यास के बल से। धरती (सुरती) उलट कर=अन्तरङ्ग होकर आकाश में ऊर्ध्व गमन करती हुई अष्टम सुरति कमल से पार होकर सारशब्द में समा जाती है। "सार शब्द है शिखर पर, मूल ठिकाना सोय। बिन सतगुरु पावे नहीं लाख कथे जो कोय॥ धरति अकाश के ऊपरे, जोजन अष्ट प्रमान। तहाँ सुरति ले राखिये देह धरै नहिं आन। और भी सुनिये—

३—'चिऊँटी' (सुरति) के मुख 'सुरति कमल में 'हस्ति' (मन) समा जाता है। भाव यह है कि उक्त अभ्यास से मन का बाह्य जगत् से तो निरोध हो जाता है, परन्तु बिना आत्मपरिचय के आन्तरजगत् (नाना-कल्पना तथा वासनाओं) से छुटकारा नहीं होता है, क्योंकि यह तो तेली के बैल की तरह भीतर ही दौड़ लगा २ कर पूरी मिहनत (व्यायाम) कर लेता है। "तेली केरे बैल ज्यों, घरहीं कोस पचास।" इसी बात को आगे

स्पष्ट करते हैं। बिना 'पवन' (प्राणों) के पर्वत की तरह फैला हुआ योगियों का मन उड़जाता है। और नाना जीव जन्तु वृक्ष रूप बाह्य जगत् बूड़ जाता है। भाव यह है कि मन और पवन (प्राणों) का अत्यन्त ही सम्बन्ध है, यहाँ तक कि मन की चंचलता और स्थिरता से प्राण भी चंचल और स्थिर हो जाते हैं और मन की चंचलता तथा स्थिरता का भार प्राणों की चंचलता एवं स्थिरता पर रहता है, यह बात योग के ग्रन्थों में स्पष्ट है कि "चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति; ततो वायुं निरोधयेत्"। इसका अर्थ पहले लिख दिया गया है। विहंगमार्गी केवल सुर्ति योग द्वारा मन को अन्तरङ्ग करते हैं इस लिये (बिनापवन बिना प्राणायाम) के कहा है।४—इस प्रकार सुरति-शब्द के मेल से सूखे सरोवर रूपी कल्पित अकह और अगम लोक में कल्पित आनन्द की तरंगें उठती हैं, और बिना ही आत्म रूप जल के उक्त अनात्म (मिथ्या) सागर में चकवा=जीवात्मा (अज्ञानान्धकार से दुखी होनेवाला) प्रमत्त होकर अविद्या रूपी चकई के साथ विहार करता है। भाव यह है कि उक्त योग द्वारा होने वाले क्षणिक मनो निग्रह से जो कुछ आन्तरसुख झलक जाता है उसको भ्रम से लोक और धामों का सुख समझते हुए विहंगमी, सदैव उसी चक्र में पड़े रहते हैं। ५—उक्त प्रकार से अभ्यास करके मनो निग्रह द्वारा आत्मकैवल्य ज्ञान से मुक्ति पद प्राप्त करने वाले सुरतियोगी (विहंगममार्गी) तो बहुत थोड़े होते हैं अधिकतर तो सुनी सुनायी ही कहने वाले होते हैं, ऐसे लोगों को मिथ्या-पुराण पाठी कहना चाहिये जो कि स्वयं अनुभव न रखते हुए दूसरों को उपदेश देकर भटकाते हैं। ६—कबीर साहब कहते हैं कि जो इस पद (निज पद आत्म-तत्व) को साक्षात् रूप से जानते हैं, वे उक्त सम्पूर्ण प्रपंचों से रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं ऐसे ही सज्जनों

को "सन्त" कहना चाहिये यथा—"साधु सन्त तेई जना (जिन्ह) मानल वचन हमार"।

(१०२)

(होदारीके[1]) ले देऊँ तोहि गारी, तैं समुझि सुपंथ-बिचारी।
घरहु के नाह[2] (जो) अपना, तिन्हहुँ से भेंट न सपना॥
†ब्राह्मन छत्री बानी[3], तिन्हहुँ कहल नहिं मानी।
जोगी जंगम जेते, आपु गहे[4] हैं तेते।
कहँहि कबिर[5] एक जोगी, (ते) भरमि भरमि भौ भोगी॥

टि०—(प्रेमोपालम्भ और दयापूर्वक उपदेश)

१—ऐ दारी के ! (कुलटा के पुत्र ! माया को माता की तरह पूजने वाले–अज्ञानी जन !) "राम रमे तैं कुकरि के पूता"। "सतगुरु ऐसे चाहिये गढ़ि गढ़ि काढ़ैं खोट, भीतर रच्छा प्रेम की ऊपर मारैं चोट"। (कबीर–साखी)। इस कथन के अनुसार यह "दारी के" शब्द प्रेम बचन हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। २—अपने स्वामी, "साहब" ३—बनिये (वैश्य) ४–अपने २ अहंकार में पड़े हुए हैं। ५—कबीर साहब कहते हैं कि जीवात्मा वस्तुतः स्वयं सिद्ध एक विलक्षण योगी है परन्तु सम्प्रति तो भ्रमवश योग भ्रष्ट होकर यह भोगी बन गया है। अतएव संसारोद्यान में घूम २ कर प्रमत्त-भवँरे की तरह "कली कली रस लेत"

---

† छन्द दिगपाल—विशेष। (अर्थात् २४ मात्रात्मक 'अवतारी' जात्यन्तर्गत छन्दोविशेष)। "दिगपाल छन्द सोई, सविता विराज दोई"।

(१०३)

लोगा तुमहीं मति के भोरा।

जौं पानी पानी महँ मिली गौ, त्यौं धुरि मिलै कबीरा[१]।

जो मैं थीको[२] साँचा ब्यास, तोर मरन हो मगहर पास।

मगहर[३] मरै सो गदहा होय, भल परतीति राम सों खोय।

मगहर मरे[४] मरन नहिं पावे, अनते मरे[५] तो राम लजावे।

का कासी का मगहर ऊसर, हृदय राम बस मोरा।

जो कासी[६] तन तजइ कबीरा, रामहिं कवन निहोरा।

टि०—[सम्वाद]

मालूम होता है काशी से मगहर जाते समय किसी मिथिला निवासी व्यासजी से कबीर साहब का सम्वाद हुआ था उसी सम्वाद का परिचायक यह पद्य है। १—जीव-आत्मा। अज्ञानियों की यह धारणा नितान्त ही भ्रम मूलक है कि शरीर की पंचत्व प्राप्ति की तरह जीवात्मा भी भूतों में विलीन हो जाता है। २—थिको=हूँ। यह मिथिला भाषा है। इस स्थल पर "जौं मिथिला का सांचा वास। तौंहि मरन हो मगहर पास"। ऐसा पाठान्तर नूतन पुस्तकों में है। अर्थ—जिस प्रकार जानकी जी की जन्म भूमि होने के कारण मिथिला मुक्तिदायिनी है इसी प्रकार ज्ञानी के लिये मगधादि निषिद्ध प्रदेश भी मुक्ति दायक हैं। ३—कबीर साहब का कथन। ४—ज्ञानी पुरुष आत्माराम होते हैं अतः निषिद्ध प्रदेश में

शरीरान्त होने पर भी वे मुक्त हो जाते हैं अतएव; पुनः 'मरन नहिं पावै' क्योंकि "न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते" यह श्रुतिवचन है। "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" (गीता)। ५—यदि कोई राम भक्त "काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस अर्थ-वाद को सुन कर मुक्ति की इच्छा से काशी आदिक क्षेत्रों में शरीर त्यागता है, तो वह क्षेत्र से राम को न्यून समझता हुआ उसका तिरस्कार करता है। ६—काशी में मिलने वाली मुक्ति में मुझको कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु मैं तो अपने राम (निज रूप) से मुक्ति लेने का इच्छुक हूँ। क्योंकि रामद्वार (निज पद) पर आरूढ रहने वालों को वह अवश्य ही मिलती है। "द्वारे धनी के पड़ि रहो धका धनी का खाय। कबहुंक धनी निवाजई जो दर छांड़ि न जाय"।

(१०४)

कैसे तरो नाथ कैसे तरो, अब बहु कुटिल भरो॥

कैसी तेरी सेवा पूजा, कैसो तेरो ध्यान।

ऊपर उजर देखो, बग अनुमान॥

भावतो भुजंग देखो, अति बिभिचारी।

सुरति सचान[१] तेरी * मति तो मँजारी॥

अतिरे बिरोधि देखो, अति रे दिवाना †।

---

* क पु, देखो। † ग पु, सयाना।

कुब-दरसन देखो, भेष लपटाना ॥

कहँहिँ कबीर सुनहु नल बंदा, डाइनि[2] डिंभ सकल जग खंदा ।

टि०—[सम्वाद या उपदेश] यह केवल वेषधारी किसी नाथ (गोरक्ष नाथानुयायी) के साथ सम्वाद है । अथवा वंचक भक्तों को उपदेश है । १—बाज । २—माया डाकिनी ने अज्ञानी जन रूपी बालकों को खा डाला ।

(१०५)

यह भ्रम-भूत[1] सकल-जग खाया * जिनिजिनिपूजातिनि जहँ डाया[2] ।
अंड[3] न पिंड न प्रान न देही * काटि काटि जिव कौतुक देही ।
बकरी मुरगी कीन्हेउ छेवा[4] * अगिलि जनम उन[5] अवसर लेवा ।
कहँहिँ कबीर सुनहु नर लोई * भुतवा (के) पुजले भुतवा[6] होइ ।

टि०—[भ्रमभूत-विचार]

१—भूत प्रेतों तथा मिट्टी आदि के बने हुए तामसी देवी देवताओं को अपना रक्षक समझना । २—धोका खायगा । ३—जड़ मूर्तियोंके प्राणादिक नहीं होते । ४—प्रहार (बध) ५—वे मारे हुए पशु बदला लेंगे । ६—उपासक को उपास्य रूपतः प्राप्त हो जाना ही उपासना—सिद्धि है, इस सर्वतंत्र सिद्धान्त के अनुसार "भुतवा के पुजले भुतवा होई" । ठीकही है- " यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी " । यहाँ पर भूत शब्द अनात्म परक है जैसा कि गीता का वचन है कि " भूतानि यान्ति भूतेज्या मद्भक्ता यान्ति मामपि " । " जो तन त्रिभुवन माँहिँ छिपावै ! तत्तहिँ मिलै तत्त सो पावै (बोजक)

(१०६)

भँवर[1] उड़े बग बैठे आया, रैनि[2] गई दिवसौ चलि जाय।
हल हल कांपे बाला[3] जीव, ना जानौं का करिहैं पीव।
कांचे[4] बासन टिकै न पानी, उड़ि गौ हंस[5] काया कुँभिलानी।
काग[6] उड़ावत भुजा पिरानी, कहँहिँ कबिर यह कथा सिरानी[7]।

टि०—[अनात्मोपासकों का अन्तिम पश्चात्ताप]

१—स्याही गई सफ़ेदी आई। २—जवानी बीत गयी और बुढापा भी कच्छप-चाल से जारहा है। ३—प्रिय प्राण कांप रहे हैं, 'पीव' स्वामी (पति) ४—क्षण भंगुर शरीर में जीवात्मा चिरस्थायी नहीं हो सकता है। ५—जीवात्मा। ६—मिथ्या आशा में पड़कर इष्ट-सिद्धि की प्रतीक्षा करते २ सारे प्रयत्न विफल होगये और आशा निराशा में परिणत होगई। "प्रासः काणवराटकोपि न माया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम्"। (प्रोषितपतिका प्रिय आगमन की जिज्ञासा से काग को उड़ाने के लिये चेष्टा किया करती है)। ७—ठंडी पड़ गयी, अर्थात् जीवन-नाटक का अन्तिमजवनिका पात हो गया। (जीवन-कथा समाप्त हो गयी)।

(१०७)

खसम बिनु तेलीको बैल[1] भयो।

बैठता[2] नाहिं साधु की संगति, नाधे जनम गयो।
बहि बहि मरहु पचहु निज स्वारथ, जमको डंड सहैा।

धन दारा सुत राज-काज हित, माथे भार गह्यो ।
खसमहिँ छांडि विषय रंग राते, पापके बीज बयो ।
झूठि-मुकुति[3] नल आस जिवन की, प्रेत[4]को जूठ खयो ।
लख-चैारासी[5] जीव-जंतु में, सायर जात बह्यो ।
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, स्वान कि पूंछ गह्यो ।

टि०—[कर्म और कामनाओं का विचार]

१—आत्म-विस्मृति के कारण देव-पशु बन गया । २—नाना सकाम कर्म रूपी जुये में जुते हुए । ३—स्वर्ग की प्राप्ति मिथ्या मुक्ति है, क्योंकि वह तो चिर भोगेच्छा का रूपान्तर है । "क्योंकि "अपाम सोम ममृता अभूम" यह अयुक्त देव-वचनानुवाद हैं । ४—भूत की लाई हुई जूठी मिठाई ! (अपवित्र-वस्तु) भाव यह है कि स्वर्ग सुख कोई अभुक्त और अयातयाम वस्तु नहीं है कि जिसके लिये इस प्रकार घोरातिघोर भगीरथ प्रयत्न किया जाय । हां मुक्ति सुख अवश्य अभुक्तपूर्व और सुसाध्य है । ५—कबीर साहब कहते हैं कि पुण्यक्षय के कारण अतिप्रयत्न से प्राप्त हुए स्वर्ग रूपी तृणावलम्बन के छूट जाने पर पुनः प्रारब्धानुसार चौरासी धारा में बहते हुए अज्ञानी लोग कुत्ते की पूंछ पकड़ कर भवसागर से पार होना चाहते हैं । भाव यह है कि ,'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इस श्रुति के अनुसार बिना ज्ञान के केवल सकाम यागादिकों से मुक्त नहीं हो सकते हैं । ठीक ही है "भादो-नदी औ भेड़-पूँछी, कैसे उतरै पार । कहँहिं कबीर सुनो हो सन्तों, बूड़ि गये मँझधार ' ।

(१०८)

अब हम भइलि बाहिरि जलमीना * पुरब जनम तपका मद कीन्हा

तहिया (मैं) अछलों[1] मन बैरागी * तजलों लोग कुटुम रामलागी।

तजलों कासो[2] मति भइ भोरी * प्राननाथ कहु का गति मोरी।

हमहिं कुसेबक (कि) तुमहिं अयाना * दुइ महँ दोष काहि भगवाना?

हम चलि अइलीं तुहरे सरना * कतहुँनदेखौंहरिजिकेचरना।

हम चलि अइलीं तुहरे पासा * दासकबिरभलकयल[3]निरासा

टि०—[काशी-काया वियोग (उपासकों की अन्तिमावस्था)]

इस पद्य में भक्तों की भगवद्दर्शनोत्कण्ठा तथा अधीरता विरह-कातरता और करुणा का वर्णन है। १—मैं था। २—सुप्रसिद्ध काशी और काया-काशी। "मन मथुरा दिल द्वारिका काया काशी जान। दसौं द्वारका देहरा ता में जोति पिछान" ३—आपने अपने भक्तों को अच्छा निराश किया। अर्थात् यह कार्य आपकी दीनदयालुता और भक्तवत्सलता के अनुरूप नहीं था।

(१०९)

लोग बोलैं दुरि[1] गये कबीर, या मति कोई कोई जाने गा धीर।

दसरथ-सुत[2] तिहु लोकहिं जाना, राम-नाम का मरम है आना।

जिहि-जिव[3] जानि परा जस लेखा, रजुका कहै उरग सम पेखा।

जदपी[4] फल उत्तिम-गुन जाना, हरि छोड़ि मन मुकुती उनमाना*

पाठा०—* नहिं माना।

५
हरि अधार जस मीनहिँ नीरा, अवर-जतन किछु कहँहिँ कबीरा।

टि० —[अवतारोपासना का विचार]

१—यहाँ पर कबीरशब्द 'काया बीर कबीर' इस कथन के अनुसार जीवात्मपरक है। प्राकृत जन कहते हैं कि अवतारों के उपासक भक्त दूर पहुँच गये, अर्थात् मुक्त हो गये, परन्तु इस रहस्य को कोई परीक्षक ही जानेगा। भाव यह है कि मायिक अवतारों की उपासना से मुक्ति नहीं मिल सकती है। " दस अवतार ईसरी माया करता कै जिन पूजा, कहंहि कबीर सुनहु हो संतो उपजै खपै सो दूजा"। अथवा दुरिगये (छिपगये) २–प्रायः सब-लोग " राम " का अर्थ दशरथ–सुत रामचन्द्र जानते हैं परन्तु राम का रहस्य कुछ और ही है। "रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः "इस निरुक्ति से राम का मुख्य–अर्थ शुद्ध चेतन है। "एको देवः सर्व भूतेषु गूढः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च " हृदया बसे तिहिं राम न जाना "। ३–यह ठीक है कि भ्रमादि के कारण जो जैसा देखता और जानता है वह वैसा ही कहता है। " जैसी जाकी बुद्धि है, वैसी कहै बनाय, ताहि दोष नहिं दीजिये, लेन कहाँ को जाय "। भ्रम से तो रस्सी को भी सांप समझ लेते हैं परन्तु वह सर्प नहीं हो सकती है। ४–यद्यपि पुरुषोत्तम होने के कारण अवतार (रामचन्द्रादिक) हमारे आदर्श हैं अतः उन्हों के सत्पथ का अनुसरण और सद्गुणों का धारण करना सर्वोत्तम-फलदायक है; तथापि हृदय निवासी राम (निज पद) से विमुख हो कर मुक्ति का चाहना केवल कल्पना मात्र ही है। ५–ज्ञानी-भक्तों की तो यही स्थिति है कि "हरि अधार जस मीनहि नीरा।" परन्तु कबीरा—कर्मी और साधारण उक्त उपासक इस मत से सहमत नहीं है इस लिये वे मुक्ति के

साधन कुछ और ही और बतलाया करते हैं। ठीक ही है "जल परिमानै मांछली, कुल परिमानै शुद्धि। जैसा जाको गुरु मिला, तैसी ताकी बुद्धि"।

(११०)

अपनो करम[1] न मेटो जाई।

करमक लिखल मिटै धौं कैसे, जो जुग कोटि सिराई[2] ॥
गुरु-बसिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सुरज-मंत्र एक दीन्हा।
जो सीता रघुनाथ बिग्राही, पल एक संचु[3] न कीन्हा ॥
तीनि लोक के करता कहिये, बालि बधो बरियाई[4]।
एक समै ऐसी बनिआई, उन हूँ[5] अवसर पाई ॥
नारद[6]-मुनि को बदन छिपायो, कीन्हो कपि सो रूपा।
सिसुपालहु की भुजा उपारी, आपु भये हरि ठूठा[7] ॥
पारबती[8] को बांझ न कहिये, ईसर न कहिये भिखारी।
कहँहिं कबिर करता[9] की बातें, करमकि[10] बात निनारी ॥

टि०—[प्रारब्ध-फल-विचार]

१—"ना भुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" इत्यादि कथन तो प्रारब्धेतरकर्मपरक है, अतः विरोध नहीं है। २—अनेक कोटि युगों के बीतने पर भी। ३—सुख। (यौवराज्य-सुख)। ४—छलपूर्वक बलात्कार से। "धरम हेतु अवतरेहु गुँसाई। मारेउ मोहि

व्याध की नाँई" । ५—बाली को भी कृष्णावतार में (भील रूप से) अपना बदला लेने का अवसर मिल गया । ६—विष्णु ने परम–सौन्दर्याभिलाषी नारद जी का मुख वानर के समान बना दिया, इस कारण उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया । ७--जगन्नाथ में (बुद्ध रूप से) ८–(यह पौराणिक-कथा है) इसर=ईश्वर, (शिवजी) " ईश्वरः शर्वईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः" (अमर) । ९—कर्ता कर्म करने में स्वतन्त्र है । "स्वतन्त्रः कर्ता १।४ ५४।" इसलिये विमर्श पूर्वक(विवेक और विचार से) कार्य करना चाहिये । "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम्" । (भारवी) १०–"तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तार मनुगच्छति" इस कथन के अनुसार किये हुए शुभाशुभ कर्मों का यह नियम है कि वे फल रूप को धारण करके दीवार में मारे हुए पत्थर की तरह करता ही को लग जाते हैं । क्योंकि " यः कर्त्ता स एव भोक्ता " यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है ।

(१११)

है[१] कोई गुरुज्ञानी जगत (महँ) उलटि बेद बूझै ।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखि न सूझै ॥
गाय[२] तो नाहर खायो, हरनै खायो चीता ।
काग लगर फांदिके बटेर बाज जीता ॥
मूसे[३] तो मंजार खायो, स्यार खायो स्वाना ।
आदिको ऊ †देस जाने, तासु बेस बाना ॥

---

† ख० पु० उपदेश ।

४

एकही दादुल खायो, पांचहूँ भुवंगा ।
कहँहि कबीर पुकारिके, हैं दोऊ एक संगा ॥

टीका

(जीवपर मनकी सेना का आक्रमण)

१—कबीर साहब कहते हैं कि कोई ऐसा ज्ञानी-गुरु हैं कि जो इस उल्टे वेद (ज्ञान, समझ) को समझे। भाव यह है कि अज्ञानियों की समझ उलटी होती है, इस कारण वे हित को अहित और अहित को हित समझ लेते हैं। अतएव उनको समझा बुझाकर सुमार्ग पर लाना चाहिये "सोई हितु बन्धु मोहिँ भावै ! जात कुमारग मारग लावै"। अब अज्ञानियों की मतिका उल्लेख करते हैं। अज्ञानी लोग अपनी विवेक-दृष्टि को खोकर इतने अन्धे होगये हैं कि पानी में (उनके हृदय में) पावक (त्रितापाग्नि) सदैव जलती रहती है, परन्तु उनको नहीं सूझता है। भाव यह है कि अविवेकी लोग अज्ञान वश अनेक अनर्थ करते हुए उनके सन्ताप कारक फलों को भोगते रहते हैं। २—यह देखिये कैसा आश्चर्य है कि गाय (माया ने) नाहर=सिंह (जीव) को खा डाला। और हिरण (तृष्णा) ने चीता (सन्तोष) को पछाड़ मारा। अविद्या मलिन सत्व प्रधान होती है और माया शुद्ध सत्व प्रधान होती है इस अभिप्राय से "सिंहोमाणवकः" की तरह गौणीलक्षणा द्वारा माया को गाय कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी गौणीलक्षणा जानना चाहिये। और भी सुनिये कौवे ने, अर्थात् अविवेक ने लगर (एक शिकारी पक्षी) अर्थात् विवेक को अपने पंजे में फँसा लिया। तथा बटेर (अज्ञान) ने बाज (ज्ञान) को जीत लिया। ३—मूस (भय) ने बिलाव (निर्भयता)

को खा डाला। और सियार (मन) ने श्वान (अज्ञानी) को खा लिया। कबीर गुरु कहते हैं कि अज्ञानता के कारण ये सब अनर्थ हो रहे हैं, अतएव "जासे नाता आदिका, विसरि गयो सो ठौर" इस कथन के अनुसार (आत्म-तत्व) अपने सच्चे—बन्धु "आत्मा" के उपदेश को जो जानता है और मानता है उसी पुरुष का बाना (झंडा) 'वेष' अच्छा है। भाव यह है कि ऐसे ही पुरुषों को धर्म का बाना धारण करना शोभा देता है कि जो "अविभक्तं विभक्तेषु यः पश्यति स पश्यति" अर्थात् देहों की विभिन्नता होने पर भी एक रूप से सबों में मिले हुए "आत्म-तत्व" को समझ कर सबों के साथ आत्मीय–व्यवहार करते हैं, क्योंकि "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"। अर्थात् ज्ञानी लोग सारी ही पृथ्वी को अपना कुटुम्ब समझते हैं। आत्मा का यह उपदेश है कि "श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुतं चाप्यवधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात् ऐसा वर्ताव दूसरों के साथ न करना चाहिये जिसको तुम स्वयं (अपने लिये) न चाहते हो। यहां पर 'ऊदेश' ऐसा भी पाठ है। अर्थ–अज्ञानियों के परोक्षभूत निज पद को जो जानता है, उसका बाना बनाना वेस = अच्छा है। औरों की तो यह दशा है कि "बिना ज्ञान का जोगना, फिरै लगाये खेह"। ४—यह एक बड़ा अचरज जान पड़ता है कि एक ही दादुर, मेंढक (भ्रम) ने पांच भुजंगों (सर्पों) को अर्थात् ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शम, और दम, को खा लिया। कबीर साहब कहते हैं पूर्वोक्त शुभाशुभ गुणों के रहने का स्थान हृदय रूप एक ही घर है। विशेषता यही है कि इनमें जो प्रबल होता है, वह अपने वैरियों को मार भगाता है। येही शुभाशुभ गुण दैवी सम्पत्ति तथा आसुरी सम्पत्ति नाम से भी प्रसिद्ध है।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से देवासुर संग्राम सदैव हुआ करता है, अतः मुमुक्षुओं को उचित है कि उक्त शत्रुओं से सदैव सचेत रहे।

(११२)

झगरा[१] एक बढ़ो राजा-राम, जो निरुवारै सो निरबान।
ब्रह्म[२] बड़ा की जहाँ से आया, बेद बड़ा की जिन्हि उपजाया।
ई मन[३] बड़ा कि जेहि मन माना, राम बड़ा की रामहिं जाना।
भ्रमि भ्रमि कबिरा[५] फिरै उदास, तीरथ बड़ा कि तीरथ-दास।

टि०—[आत्मदर्शन तथा आत्म परिचय]

१—कर्त्ता और कृत्रिम (जड़ चेतन तथा कल्पिताकल्पित) को ठीक २ पहचान लेना यह एक बड़ी भारी समस्या है। इसको जो हल करता है वही मुक्त होता है। "कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः" (गीता) २—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इस श्रुति के अनुसार धाता (ब्रह्माजी) और वेद बड़े हैं, अथवा उन के भी विधाता (जनक) आत्मदेव बड़े हैं ? । ३—"यन्मनसान न मनुते येनाहुर्मनो मतम्" इस श्रुति के अनुसार मनरूपी तरंग बड़ी है, अथवा उसका भी आश्रयभूत अपार-पारावार-चेतन महोदधि बड़ा है ? ४–एवं भक्तों के ज्ञान और ध्यान के विषय भूतऽसादिराम (अवतार) बड़े हैं, अथवा उन को अपने मनोमन्दिर में प्रतिष्ठित करने वाले रामभक्त बड़े हैं ? । "नेदंहऽयदिदमुपासते" यह श्रुति तो इस प्रश्न का स्पष्ट ही उत्तर दे रही है। "भक्ती के बस भाई प्रभु तुम भक्ती के बस भाई" इत्यादि बचनों के आकलन से भक्ति दृष्टि से भी रामभक्त रामजी से बड़े हैं। ५—सर्व भूत हृदय निवासी प्रत्यक्षराम (चेतनदेव) को न जानने वाले कबीरा=

अज्ञानी लोग उसके मिलने के लिये अनेक तीर्थों में भ्रमण किया करते हैं, और वहां पर भी न मिलने के कारण सदैव निराश और उदास (खिन्न) रहा करते हैं। क्योंकि उनको यह ज्ञात नहीं है कि ये स्थावर तीर्थ बड़े हैं, अथवा इन्हीं के बनाने वाले जंगम-तीर्थ और सच्चे 'तीर्थदास' (सन्त-सज्जन) बड़े हैं? "मामयं तारयिष्यति" इस प्रकार "तीरथहू आसा करैं कब आवै वह-दास"। यह ज्ञात होना चाहिये कि ये सब तीर्थ महात्माओं के तपोनुष्ठान से विनिर्मित हुए हैं; जैसे कि बुद्ध गया में बोधी वृक्ष के नीचे बुद्धभगवान ने बुद्धत्व का लाभ किया इस कारण वह तीर्थ बन गया। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

भावार्थ—आत्म ज्योति सबों की प्रकाशक है, अतः उसी का साक्षात्कार करना चाहिये। "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत? (गीता)

(११३)

झूठे[1] जनि पतियाउ हो, सुनु संत—सुजाना।

(तेरे) घट[2] ही में ठग-पूर है, मति खोवहु[3] अपना

झूठेका मंडान[4] है, धरती असमाना।

दसहूं दिसा वाकि फंद है, जिव घेरे आना॥

जोग जाप तप संजमा, तीरथ व्रत दाना।

नौधा[5] बेद कितेब[6] हैं, झूठे का बाना।

काहू के बचनहिं फुरै[7], काहू करमाती।

मान बड़ाई ले रहे, हिन्दु तूरुक जाती॥

बात ब्योंतें[8] असमान की, मुद्दती[9] नियरानो ।
　　बहुत खुदी दिल राखते, बूडे बिनु पानी ॥
कहँहि कबीर कासों कहौ, सकलो-जग अंधा ।
　　सांचा[10] सों भागा फिरै, झूठे का बंदा ॥

टि०—[मन का साम्राज्य]

१—मन का विश्वास न करिये । "मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर । मनके मते न चालिये; पलक २ मन और" । २—हृदय कमल में । "तन के भितर मन उनहु न पेखा" ३—अपना धन (ज्ञानादिक) ४—पसारा या रचना । भाव यह है कि सर्वत्र फैली हुई मनोमयी विकल्प-वागुरा नरपशुओं को फंसाती रहती है । ५—नवधाभक्ति । ६—झंडा । अर्थात् इस वामन [ओछे] मनने उक्त योगादिरूप अभ्रंकष अट्टालिकाओं पर भी अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा दी । और सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह कि इसने अकेले ही ईश्वरीय और ख़ुदाई ग्रन्थ वेद और कुरान रूपी दुर्गम-दुर्गों को भी बात की बात में हस्तगत कर लिया । भाव यह है कि धर्म-ध्वजी लोग धर्म और दीन की दुहाई देकर टट्टी की आड़ में शिकार की तरह, धर्म की आड़ लेकर अनेक अत्याचार करते रहते हैं । ७—वचन सिद्धि । ८—बातों से तो आसमान को भी नाप डालते हैं परन्तु यह कभी नहीं सोचते कि हमारी मृत्यु तो निकट चली आई है । ठीक ही है "ओटत कातत जन्म सिराना" इसके अनुसार पक्के प्रपंचियों की उधेड़ बुन और ताना बाना अन्त तक नहीं छूटता है । ९—महा अहङ्कारी लोग भ्रमरूपी भँवर में पड़ कर डूब गये । १०—घट २ निवासी सच्चे राम या खुदा से विमुख होकर केवल पानी और पत्थरों में तथा सातवें आसमान

पर रहने वाले झूठे राम और खुदा के दास और बन्दे बने रहते हैं। और अनेक अनर्थों से संसार को उत्पीड़ित करते रहते हैं। " ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" [गीता] तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् "हृदया बसे तेहि राम न जाना "तथा घट २ है अविनासी सुनहु तकी तुम सेख " [बीजक] भजन—माया के गुलाम गीदी क्या जानेंगे बंदगी। साधुन से धूम—धाम चोरन के करते काम. हरामी से हाथ जोड़ें गरीबों से रंदगी। माया के गुलाम०।

(११४)

सारसब्द[1] से बांचि[†] हो, मानहु इतबारा (हो)
आदि-पुरुष एक बृच्छ है, निरंजन[2]-डारा (हो)
तिरि-देवा साखा भये, पत्ता संसारा (हो)
ब्रह्मा बेद सही कियो, सिव जोग पसारा (हो)
बिस्नु मया+ उतपति किया, उरले* व्यवहारा (हो)
तीन लोक दसहूँ दिसा, जम रोकिन द्वारा (हो)
कीर[3] भये सब जीयरा, लिये विषके चारा (हो)
जोति[4]-सरूपी हाकिमा, जिन अमल पसारा (हो)
करम कि बंसी लायके, पकरयो जग-सारा (हो)
अमल[5] मिटावौं तासु का, पठवौं भवपारा (हो)
कहँहिं कबिर निरभय करौं, परखो टकसारा[6] (हो)

---

† ये दोनों उपमान छन्द हैं। लक्षण " तेरह दस उपमान रच, दै अन्तै कर्णा। "अर्थात् १३ और १० मात्राओं के विश्राम से ' उपमान ' छन्द सिद्ध होता है, अन्त में 'कर्णा ' दो गुरु होते हैं।

पाठा०—+ दया। * परले।

टि०—[तत्वोपदेश]

१—"सारसब्द निरनयको नामा, जाते होय जीव को कामा" । इसके अनुसार निर्णायक-वचन (तत्वोपदेश) को सारशब्द कहते हैं । २—पारिभाषिक निरञ्जन (मन) ३—शुक (अज्ञानीलोग । 'अमृत धोखे गौ विष खाई' । ४—निरञ्जन (मन) 'मैं सिरजौं मैं मारऊं मैं जारौं मैं खाउं । जल थल मैं ही रमि रह्यौ मोर निरञ्जन नाम' । 'एकल निरञ्जन सकल सरीरा, तामें भ्रमि २ रहल कबीरा' (बीजक) 'दूरगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' (यजुर्वेद) ५—अधिकार, आधिपत्य । कबीर साहब कहते हैं कि यदि आप लोग मेरी शिक्षा को मानकर मन की दासता छोड़कर 'रामदास' (विश्वबन्धु) बन जायेंगे तो मैं तुम्हारे ऊपर वर्तमान निरञ्जन के आधिपत्य को मिटाकर तुमको संसार-सागर से पार कर दूँगा । 'इतने में हरिना मिले तुलसी दास जमान' । "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः" । ६—(सिद्धान्त) मेरा कहा हुआ सिद्धान्त वाक्य है इसकी खूब परीक्षा कर लीजिये । "बारि मथे बरु होय घृत, सिकता ते बरु तेल । विनु हरि भजन न भवतरे यह सिद्धान्त अपेल" । (गोस्वामीजी) नोट—'टकसार' या 'टकसाल' उस स्थान का नाम है जहां पर सरकारी सिक्के (अशरफी वगैरह) ढाले जाते हैं । टकसार एक प्रामाणिक स्थान होता है, अतः गौणीलक्षणा से "सिंहो माणवकः" की तरह सिद्धान्त-वचन आदिक भी 'टकसार' कहे जाते हैं ।

(२१५)

संतो ऐसी भुल जग माहीं, (जाते) जिव मिथ्या[1] में जाहीं ।
पहिले भूले ब्रह्म अखंडित, झाँई[2] आपुहि मानी ।

झाँई में भूलत इच्छा[3] कीन्ही, इच्छा ते अभिमानी।
अभिमानी करता हो बैठे, नाना ग्रंथ चलाया।
वोहि भूल में सब जग भूला, भूल[4] का मरम न पाया।
लख-चौरासी भूल ते कहिये, भूलते जग बिटमाया।
जो है सनातन[5] सोई भूला, अब सो भूल हि खाया।
भूल मिटै गुरु मिलैं पारखी, पारख देहिँ लखाई।
कहहिँ कबीर भूल की औषध, पारख[6] सब की भाई॥

टि० – [स्वरूपविस्मृतिका वर्णन]

१—असत्‌माया और उसके कार्य। २—छाया (स्फुरण) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु-सृजा इति'। (ऐतरीयोपनिषद् (अध्याय १ खंड १ मंत्र १) ३—"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा, इदं सर्व-मसृजत यदिदं किञ्च। (तै० अ० २ वल्ली २ मंत्र ३०) ४—माया अथवा अध्यास अनादि है। ५—अनादि। (जीवात्मा) ६—परीक्षा, आत्मविवेक। "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतं कृतेनेति"

—०:—:०—

ज्ञान-चौंतीसा

वोओं कार[1] आदि[†] जो जानै * लिखि कै मेटै ताहि सो मानै ।

अत्र स्थाणु-सुपत्तने हि पुरतः क्षोणीतले संस्थितो ।
लोकातीतमहोदयो गुणनिधिः शास्ति[†] स्वशिष्यान् पुरा ॥
आर्यानार्यभिदामपास्य जनितोऽप्येकात्मतत्त्वं परम् ।
नानाऽऽडम्बरवारणैकमिहिरः श्रीमत्कबीरो गुरुः ॥
चतुस्त्रिंशत्सुवर्णानां वादव्याजेन योऽदिशत् ।
ज्ञानरत्नं परं भास्वन्तं कबीरमहं भजे ॥

टि०—(हठयोगसमीक्षा)

इस "ज्ञान चौंतीसा" प्रकरण में ॐ कारादि चौंतीस अक्षरों के परस्पर सम्वाद रूप से तत्त्वोपदेश दिया गया है। सूचना—स्वर और व्यञ्जनों से पृथक् होते हुए भी अक्षरान्तर्गत होने के कारण ॐ कार का प्रथमतः उल्लेख किया गया है। "ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म" (गीता)। प्राचीन हिन्दीलिपि-विशेष (कैथी) में ॐ का विन्यास 'वोओं' इस रूप से किया जाता था। लिखित प्राचीन-बीजक की प्रतियों में सर्वत्र ॐ कार उक्त रूप से ही लिखा हुआ मिलता है। उक्त प्रकार के रूप से इस ग्रन्थ के सब छन्द लक्षणानुकूल बन जाते हैं। जैसे यह यह चौपाई छन्द अनुलक्षण हो गया है। प्राचीन प्रतियों में "काका" खाखा" या "कक्का" ऐसा लिखा हुआ है। उक्तलेख छन्दोऽनुरूप है। १—"जिसको ॐ कार अक्षर के लिख देने और

---

† "पुरिलुङ्चास्मे" ३।२।१२२। इति सूत्रेण भूतार्थेलट ।

वोओं कार कहैं। सभ-कोई * जिन्हि यह लखा सो बिरले होई।
२
काका कमल किरन महँ पावै * ससि बिगसित संपुट नहिं आवै।
तहां कुसुंभ रंग जो पावै * औगह गहिके गगन रहावै।
३
खाखा चाहै खोरि मनावै * खसमहिँ छांडि दहौं दिसि धावै।
४
खसमहिँ छांडि छिमा हो रहिये * होय न खीन अखय-पद लहिये।
गागा गुरुके बचनहिं मान * दूसर-शब्द करो नहिँ कान।

मिटा देने तथा उच्चारण और अनुच्चारण में पूर्णस्वतन्त्रता है वह (चेतन-देव) वेद के आदिभूत ॐकार शब्द काभी आदि है। "ॐकारश्चार्थशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा कण्ठंभित्वा विनिर्यातौ" ऐसा जो जानने वाला है वह ॐ कार की आदि को जानने वाला है। "आदि को ऊदेस जाने तासु वेस बाना" "कहंहि कबिर जन भये विवेकी जिन जंत्री सों मन लाया" (बीजक) अधिकतर लोग ॐकार का जाप किया करते हैं, परन्तु उसके वाच्यार्थ को बताने वाले इस रहस्य को जानने वाले बिरले हैं। (यह ॐकार का कथन है)। सूचना-यहाँ पर स्वोक्ति (सद्गुरुवचन, 'अपनाहृत') और परोक्ति (योगी वचन 'पराहृत') रूप से सिद्धान्त और पूर्वपक्ष का उल्लेख किया जायगा २—हठयोगियों का कथन है कि ललाटस्थ-अमृता-शक्ति (चन्द्रनाडी) से उन्मीलित हुए कमल के किंजल्क में निजरूप के दर्शन(कुसुम्भरङ्ग के समान) होते हैं। अनन्तर गैबीकी गैबगुफा में दर्शक स्थिर हो जाते हैं। ३— गुरु बचन। 'ख' अक्षर यह कहता है कि निजरूप को भूल कर उक्त प्रकार से सर्वत्र भटकने वाले अज्ञानी चाहते हैं कि हम अपराधी न गिने जायें, तो उनको उचित है कि झूठे मालिक को छोड़कर सच्चे की शरण में जावें और मुक्त होवें। ४—उक्त योगी वचन। विहंगम=मन रूपी-चंचल

तहां बिहंगम कबहुँन जाई * औगह गहिके गगन रहाई।

[५] घाघा घट बिनसै घट होई * घट ही में घट राखु समोई।

जो घट घटै घटहिं फिरि आवै * घट ही में फिरि घटहि समावै।

[६] नाना निरखत निसुदिन जाई * निरखत नयन रहा रतनाई।

निमिषि एक जो निरखै पावै * ताहिनिमिषि में नयन छिपावै।

[७] चाचा चित्र रचो बड़ भारी * चित्र छाँड़ि (तैं) चेतु चित्रकारी।

जिन्हि यह चित्र विचित्र उखेला * चित्र छाँड़ि तैं चेतु चितेला।

[८] छाछा आहिँ छत्रपति पासा * छकिकिनरहसिमेटिसभआसा।

मैं तोहीं छिन छिन समुझावा * खसम छाँड़ि कस आपु बँधावा।

[९] जाजा ई तन जियतहिँ जारो * जोबन जारि जुगति जो पारो।

पक्षी। ५—गुरु०। उक्त कल्पनाओं के ही कारण बार २ शरीर धरने पड़ते हैं अतः मनको (कल्पना रहित करके) लीन करिये। भजन—"मनही में उलटि समाजा मनतू मनही में०"। वृत्तितनुता और वृत्तिविरलता से मनोनिरोध अवश्य हो जाता है। सूचना-प्राचीन लिपि में ङ, ञ, ण, इन तीनों की जगह 'न' का ही प्रयोग होता था, अतएव यहां पर "नाना निरखत" और "नाना निग्रह से" इत्यादि रूप से वर्णमैत्री स्थिर होती हैं। ६—योगी०। यदि किसी समय क्षण मात्र भी ब्रह्मज्योति के दर्शन हो जायेंगे तो संसार से दृष्टि हट जायगी। ७—गुरु० 'च' का यह कथन है कि भौतिक ज्योति आदिक उक्त झूठे चित्रों में न भूलकर चित्रकार रूप (चेतन, स्वयंज्योति का साक्षात्करिये)। ८—गुरु०। छत्रपति = आत्मदेव। छकि =

जो किछु जानि जानि परजरे * घटहिं जोति उजियारी करै।
[१०] झाझा अरुझिसरुझिकितजान * हींडत ढूंढत जाहिँ परान।
कोटि सुमेर ढूँढि फिरि आवै * जो गढ़ गढे गढ़हिं सो पावै।
[११] साखी—नाना निगर (ह) सनेहु करु, निरुवारो संदेहु।
नहीं देखि नहिँ भाजिये, परम सयानप येहु॥
नहिँ देखिये नहिँ आपु भजाऊ * जहाँ नहीं तहाँ तन-मन लाऊ।
जहाँ नहीं तहाँ सभ किछु जानी * जहाँ नहीं तहँ ले पहिचानी।
[१२] टाटा बिकट बाट मन माँही * खोलि कपाट महल मों जाँहीं।

तृप्त। ९—योगी० 'ज' कहता है कि योग युक्ति जानकर योगाग्नि से जीते जी शरीर को जलाकर खाक कर डालोगे तब ब्रह्माण्ड में ज्योतिका प्रकाश होगा। १०—गुरु, 'झ' कहता है तुम लोग उक्त मायिक शैवाल जाल में फँसकर प्राण क्यों देते हो। "भूतानि यान्ति भूतेज्या" के अनुसार अन्त में तुम स्वयं भूत हो जाओगे। ११—गुरु०। दूसरा 'नन्ना' कहता है कि सब सन्देहों को छोड़कर प्रपञ्च से मन को हटा लीजिये। विषयों में न मन दौड़े न इन्द्रियाँ, बस यही महात्मापन है। इस भौतिक ज्योति के चपला प्रकाश को देखकर मत दौड़ो। जिस अनन्त पद में उक्त प्रकाश नहीं पहुंच सकता है वही स्वयं प्रकाश है, और वही तुम्हारा सर्वस्व है; अतः उसको पहचान कर प्राप्त करो।

१२—गुरु० टट्टा कहता है वृत्ति बनिता को 'रङ्गमहल' (निजपद) में पहुंचने में भारी कठिनाई तो यह है कि मन रूपी दुर्ग की (कल्पना) वासना, रूपी घाटी बड़ी दुर्गम है उससे पार हो जाने पर तो ज्ञान की कुञ्जी से आवर्ण रूपी कपाटों को खोल कर सहज ही आत्ममहल में

रही लटापटि जुटि तेहि मांहीं * होंहिं अटल ते कतहुँ न जांहीं ।
१३
ठाठा ठौर दूरि ठग नियरे * नितके निठुर कीन्हि मन घेरे ।
जे ठग ठगे सभ लोग सयाना * सो ठग चीन्हि ठौर पहिचाना ।
१४
डाडा डर उपजे डर होई * डरही में डर राखु समोई ।
जो डर डरे डरहिँ फिरि आवै * डरही में फिरि डरहि समावै ।
१५
ढाढा ढूंढत हो कित जान * हींडत ढूंढत जाहि परान ।
कोटि सुमेर ढूंढि फिरि आवै * जिहिँ ढूंढा सो कतहुँ न पावै ।
१६
नाना दुई बसाये गांऊ * रेना ढूंढे तेरी नांऊ ।
मूये एक जाँय तजि घना * मरे इत्यादिक तेके गना ।

जा सकती है । अनन्तर वहां पहुँचतेही अभुक्त पूर्व प्रिय सुख के मिलजाने से वह सब कुछ (संसार को) भूल जाती है १३—गुरु० । भटक जाने से स्थान (निजपद) दूर पड़ गया अत एव अवसर पाकर ढीठ ठगों ने (कामादिकों ने) मन बनिये को आ घेरा । १४—गुरु० । अज्ञानी मिथ्या कल्पनाओं से डरकर अनेक कर्म करते हुए संसार में भटकते रहते हैं, अतः कल्पनाओं के भवँर से दूर रहना चाहिये । १५—गुरु० ; सुख की आशा से अपने आप को ढूंढने के लिए बाहर क्यों भटक रहे हो । भजन—"हेली बाहर ढूंढे कांई, तेरे सबसुख हैं घट माहीं" । १६—गुरु० । तुमने हृदय में प्रपञ्चपुर बसा लिया है अतएव वह एकान्त वासी-योगी गुप्त होगया । अब गंधमृग की तरह अज्ञानतासे उसको दूर समझकर दूर २ ढूंढते और भटकते हुए माया जाल में पड़ गये हो । इसी तरह प्रायः सबही मारे जाते हैं । १७—गुरु० । माया-नदी अति विशाल और भयङ्कर हैं अतः तैरने में नहीं

[१७]
ताता अति त्रियो नहिं जाई * तन त्रिभुवन महँ राखु छिपाई ।
जो तन त्रिभुवन माहिँ छिपावै * तत्तहिं मिले तत्त सो पावै ।
[१८]
थाथा(अतिअ)थाहथाहिनहिंजाई * ईथिर ऊथिर नाहिँ रहाई ।
थोर थोर थिर होहु रे भाई * बिनु थंभे जस मंदिल थँभाई ।
[१९]
दादा देखहु बिनसनि हारा * जस देखहु तस करहु बिचारा ।
दसहुँ दुवारे तारी लावै * तब दयाल के दरसन पावै ।
[२०]
धाधा अरध माहिं अँधियारी * अरध छाँड़ि ऊरध मन तारी ।
अरध छांडि ऊरध मन लावै * आपा मेटिके प्रेम बढ़ावै ।
[२१]
चौथे वो नानामहँ जाई * रामका गदहा हो खर खाई ।

आ सकती है। त्रिगुणात्मक तीनों भुवनों में स्वार्थ छिपने वाला मन तत्वों का दास बन कर 'भूत' (पञ्च भूतात्मक) बन जाता है "मैं जानौं मन मर गया मर कर हूवा भूत, मूये पीछे उठि लगा ऐसा मेरा पूत" १८—गुरु० । मनो महोदधि अथाह है । यह पिंड और ब्रह्मांड तथा मर्त्य और स्वर्ग में भी स्थिर नहीं रहता है। " अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः " (योग दर्शन) इसके अनुसार धीरे २ वश में आ सकता है। १९ प्रत्यक्षतः संसार विनशन शील हैं, अतः इसको विनाशी ही समझो । योगी० । ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों के आयाम से समाधिस्थ होने पर निजरूप का साक्षात् होता है। २०—योगी० । पिंड-भूसंचारी मन रूपी पक्षी को हिंसकों का भय रहता है । अतः उचित है कि यह गगन मण्डल में स्वच्छन्द घूमता हुआ अहङ्कार अन्धकार से निकल कर प्रेम प्रकाश में पहुँच जाय । २१—गुरु० ।

२२
पापा पाप करैं सभ कोई * पाप के करे धरम नहिँ होई।
पापा कहै सुनहु रे भाई * हमरे से इन किछुवो न पाई।
२३
फाफा फल लागे बड़ दूरी * चाखै सतगुर देइ न तूरी।
फाफा कहै सुनहु रे भाई * सरग पताल कि खबरि न पाई
२४
बाबा बरबर कर सभ कोई * बरबर करै काज नहिँ होई।
बाबा बात कहै अरथाई * फलका मरम न जानहु भाई।
२५
भाभा भभरि रहा भरपूरी * भभरे ते है नियरे दूरी।
भाभा कहै सुनहु रे भाई * भभरे आवै भभरे जाई।

चौथा नक्षा कहता है जो भक्त कहलाते हुए भी हृदय निवासी राम को न जानकर प्रपञ्च पङ्क में और मायारूपी खाक में लोटते रहते हैं वे राम को वहन करने वाले राम के हाथी नहीं हैं, किन्तु केवल उनके नाम के भारको लदने-वाले राम के गदहे हैं, अतएव ऊख के मधुर रस (राम-रस) से वंचित रहकर नीरस विषय तृणों को चबाया करते हैं। "भगति न जानै भगत कहावै, तजि अमृत विष कै लिन्ह सारा।" २२—गुरु०। हमरे से, पाप कर्मों से। २३—योगी०। अपने कर्मों से मुक्तिफल स्वर्ग में मिलता है। गुरु०। "मुक्ति नहीं आकास है, मुक्ति नहीं पाताल। जब मन की मनसा मिटे तबही मुक्ति बिसाल"। २४—गुरु। "स्वर्गादि फल अनित्य है" यह मर्म तुमको नहीं है। २५—गुरु०। "भरमक बान्धल ई जग यहि विधि आवै जाय" इसके अनुसार अति निकट अमर पद भ्रम से दूर हो गया। २६—गुरु०। माया और मोह की सेवा से आत्मगौरव चला गया। बेसहूर = अज्ञानी।

२६
मामा (के) सेवै मरम न पाई * हमरे से इन मूल गमाई।
माया मोह रहा जग पूरी * माया मोहहिं लखहु बिसुरी।
२७
जाजा जगत रहा भरपूरी * जगतहुँ ते है जाना दूरी।
जाजा कहै सुनहु रे भाई * हमरे से वै जै जै पाई।
२८
रारा रारि रहा अरु जाई * राम कहै दुख दालिद जाई।
रारा कहै सुनहु रे भाई * सतगुर पूछि के सेवहु आई।
२९
लाला तुतुरे बात जनाई * तुतुरे पा तुतुरे परचाई।
अपने तुतुर और को कहई * एकै खेत दुनौ निरबहई ?।
३०
वावा वह वह कह सभ कोई * वह वह कहै काज नाहँ होई।

सूचना–प्राचीन हिन्दी में 'य' के स्थान में 'ज' 'श' की जगह 'स' और 'ष' के स्थान में 'ख' लिखते थे। एवं च, त्र, ज्ञ, ये व्यञ्जन नहीं लिखे जाते थे किन्तु 'छ' आदिक लिखे जाते थे अतएव इस चौंतीसा में 'च' नहीं है। ॐ अक्षर को लेकर 'ह' तक ३४ अक्षर हैं। यह पाठ प्राचीन है। २७–गुरु। जगत् में सब जगह माया मोह का साम्राज्य है अतः इससे दूर हो जाने वाला इसको जीत सकता है। २८—गुरु०। नटखट मन का तो दास बना हुआ है और केवल राम का नाम लेकर सुखी होना चाहता है ऐसे को 'रारा' उपदेश देता है कि गुरु से ज्ञान लो। २९–गुरु। तुतुले = अस्पष्टवक्ता (वञ्चक) क्योंकि "स्पष्टवक्ता न वञ्चकः"। स्वयं अज्ञानि ज्ञानोपदेश देता है, क्या ज्ञान और अज्ञान एक समय एक हृदय में रह सकते हैं ?। ३०—गुरु०। वह = परोक्ष। निजपद

वह तो कहै सुनै जो कोई * सुरग पताल न देखै जोई।
३१
सासा सर नहिं देखै कोई * सर सीतलता एकै होई।
सासा कहै सुनहु रे भाई * सुन्न समान चला जग जाई।
३२
षाषा खर खर कर सभकोई * खर खर करै काजनहिँ होई।
षाषा कहै सुनहु रे भाई * राम नाम ले जाहु पराई।
३३
सासा सरा रचौ बरियाई * सर बेधे सभ लोग तबाई।
सासा के घर सुन गुन होई * इतनी बात न जानै कोई।
३४
हाहा करत जीव सभ जाई * छेव परै तब को समुझाई।
छेव परे केहु अंत न पावा, कहँहिं कबिर अगमन गोहरावा।

को दूर बताते हैं। जो जानता है वह उसके लिये स्वर्ग और पाताल में जाना नहीं चाहता है। ३१–सर=सुख-सागर (साहब) शीतलता=परम-शान्ति। शून्य=भ्रम। ३२–खर २=नाना खट २ (सकामकर्म) पराई=भाग जाना। माया सांपिनी को देखकर भाग जाओ। "यः पलायति स जीवति"। ३३—गुरु०। कामना रूपी भारी 'चिता' जल रही है और मन—महारथी कामादिक तीक्ष्णबाणों से अदान्त और अशान्त अज्ञानियों को मार २ कर उसमें डाल रहा है। कामनाओं का उद्गम मन से है" यह कोई नहीं जानता है। ३४–गुरु०। अन्त समय हाहा कार करते हुए सब कोई शरीर छोड़ते हैं। उस समय कोई ज्ञान नहीं दे सकता है। "मुये गये की काहु न कही" इस कारण कबीर साहब पहले से पुकार कर कह रहे हैं कि "जियत आपु लखु जियत ठौर करु मुये कहां घर तेरा। यहि अवसर नहिं चेतहु प्रानी, अंत कोइ नहिं तेरा"।

इति।

विप्रमतीसी[१]

सुनहु सभन्हि मिलि विप्रमतीसी * हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी।
ब्राह्मन होके ब्रह्म न जानैं * घर महँ जग्य-प्रतिग्रह[२] आनैं।
जे सिरजा तेहि नहिं पहिचानैं * करम भरम ले बैठि बखानैं।
ग्रहन अमावस अवर दुइजा * सांती[३] पांति प्रयोजन पूजा।
प्रेत[४]-कनक मुख-अंतर बासा * आहुति[५]-सहित होम की आसा।
कुल उत्तिम जग माँहि कहावैं * फिरि फिरि मधीम करम करावैं।
सुत-दारा[६] मिलि जूठो खाई * हरि भगतन की छूति कराहीं।
करम असौच[७] उचिस्टा खाँहीं * मति भरिष्ट जमलोकहिं जाहीं।
नहा[८] खोरि उत्तिम होय आवैं * विस्नु भगत देखे दुख पावैं॥

बोधयामास यो विप्रान् हिंसादिक्रूरकर्मठान्।
"आत्मवत्सर्व भूतानी" त्येवं तं सद्गुरुं श्रये॥

(विप्रकर्ममीमांसा[१])

१—इस प्रकरण में मिथ्या अभिमान और हिंसादि क्रूर कर्मों में तत्पर नाम मात्र के ब्राह्मणों को ब्राह्मणोचित धर्म का उपदेश दिया गया है। विप्रमतीसी=पूर्वोक्त ब्राह्मणों की बुद्धि का वृत्तान्त। वस्तुतः यह शब्द विप्रमतितीसी है; क्योंकि इसमें तीस चौपाइयों से उपदेश दिया गया है। २—यज्ञों में दिये हुए दान। प्रतिग्रहपरायणता निषिद्ध है। ३—ग्रहशान्ति और पुण्याहवाचनादिक। ४ —श्राद्धान्न। श्राद्धान्न निषिद्ध है। ५—पूर्णा-

स्वारथ लागि रहै वे काजा * नाम लेत पावक जिमि डाढ़ा।
राम क्रिस्नकी छोड़िन्हिआसा * पढ़िगुनि भये[6] कीतम के दासा।
करम पढ़ें करमहि को धावें * जे पूछे तेहि करम दिढावें।
[10]निहकरमी की निंदा कीजै * करम करै ताही चित दीजै।
ऐसिभक्ति भगवंत कि लावै * हिरणाकुस को[11] पंथ चलावैं।
देखहु सुमति केर परगासा*(बिनु)अभि[12]अंतर (भये)किरतमदासा।
[13]जाके पूजे पाप न ऊडै * नाम सुमिरनी भवमहँ बूडै।
पाप-पुन्य के हा[14]थे पासा * मारि जगत का कीन्ह बिनासा।
ई बहनो कुल ब[15]हनि कहावें * ई ग्रिह जारें ऊ ग्रिह मारें।
बैठेते घर साहु कहावैं * भितर भेद मन[16] मुसहि लगावैं।
[17]ऐसी-विधि सुर विप्र भनीजै * नाम लेत पंचासन दीजै।

हुति सहित। ६—पुत्र और स्त्री। ७—मृतकर्मादिक। ८—नहा धोकर। ९—केवलकर्म काण्ड और जड़-अर्चन परायण हो गये। १०—निस्त्रैगुण्य। "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः। ११—तामस-धर्म (कौल मार्ग, या वाम मार्गादिक)। १२—विवेक-विचार। १३—जड़ मूर्तियों के पूजन से। १४—किसी भी कार्य को धर्म अथवा अधर्म सिद्ध कर देना ब्राह्मणों का जन्म सिद्ध अधिकार है। यह धर्माधर्मव्यवस्था रूपी पासा तो इनके हाथ का है (जैसा चाहें वैसा ढरकावें)। स्वार्थपरायणता के कारण धर्मव्यवस्था की दुर्व्यवस्था करके "मारि जगत का कीन्ह बिनासा"। १५—इन्हीं कर्मों से ये कुल के उद्धारक कहलाते हैं।

बूढ़ि गये नहिं आपु सँभारा * ऊँच नीच कहु काहि जो हारा।
ऊँच नीच है मधिम[१८] बानी * एकै पवन एक है पानी।
एकै मटिया[१९] एक कुंभारा * एकसभन्हिका सिरजनिहारा॥
एक चाक सभ चित्र बनाया * नाद बिंद के मध्य समाया।
व्यापी एक सकल की जोती * नाम धरे का कहिये भोती।
राच्छस-करनी देव कहावैं * बाद करैं गोपाल[२०] न भावैं।
हंस देह तजि न्यारा होई * ताकर जाति कहै धौं कोई।
स्याहसपेदकिराता पियरा * अबरन बरन कि ताता सियरा।
हिंदु तुरुक कि बूढ़ो बारा * नारि पुरुष का करहु बिचारा।

वस्तुतः ऐसे कर्म कराने वाले यह लोक और परलोक दोनों नष्ट कर देते हैं। १६—बंचना का अवसर देखते रहते हैं। १७—खेद है कि ऐसे कर्म कराने वाले ब्रह्मबन्धु भी 'भूसुर' कहलाते हैं और अपना परिचय देते ही बैठने के लिये 'पञ्चासन' पाते हैं। "पञ्चासन" एक प्रकार का यज्ञीय दर्भासन होता है, जैसा कि 'संस्कारपद्धति' में लिखा है—"पञ्चविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता। विष्टरं सर्व यज्ञेषु लक्षणं संप्रकीर्तितम्"। १८—हलकी। १९—भूतपंचक। 'कुम्हारा' (विधाता) 'एकचाक' (भूमण्डल) 'नाँद-बिंद' (पवन और वीर्य) ज्योति (स्वयंज्योति, आत्मा) कल्पित अनेक नामों के धरने से क्या वह सच-मच भौतिक' (अनित्य और ऊँच नीच) कहा जा सकता है। २०—सबोंका परमपिता ईश्वर इस ऊँचनीच विषयक जाति विवाद से कदापि प्रसन्न नहीं होता है। हंस [जीवात्मा]। २१—कबीर साहब कहते हैं कि नक्त तत्वकथा

कहिये काहि कहा[२१] नहिं मानै * दास कबीर सोइ पै जानै ।

साखी—बहा है बहि जाता है[२२], कर गहे चहुँ ओर ।
समुझाये समुझे नहीं, देहु धका दुइ और ॥

ध्रुवसत्य है, परन्तु "कहिये काहि कहा नहिं मानै"। क्योंकि कर्मों के दास तो केवल अपने स्वामी [कर्म] को ही अपना कल्याण कारक समझते हैं। २२—यदि मूर्खों के समझाने में नरमनीति का प्रयोग सफल नहीं होता है तो दोचार दफे गरमनीति का भी प्रयोग करके देख लेना चाहिये।

कहरा

(१)

सहज-ध्यान[†] रहु[२] सहज ध्यान रहु, गुरुके बचन समाई हो।
मैली सिस्टि चरा चित राखहु, रहहु दिस्टि लव[३] लाई हो।
जस दुखदेखि रहहु यहि अवसर, अस सुखहोइहै पाये हो।
जो खुटुकार बेगि नहिं लागै, हिदय निवारहु कोहू हो।
मुकुति[४] कि डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बझिहै बड रोहू हो।
मनुवहिँ कहहु रहहु मन मारे, खिझुवा[५] खीझि न बोलै हो।
मानूमीत[६] मितैवो न छोड़ै, कमऊ गांठि, न खोलै हो।

भोगउ[७] भोग भुगुति जनि भूलहु, जोग-जुगुति तन साधहु हो।
जो यहि[८] भाँति करहु मतवाली, ता मतके चित बांधहु हो।
नहिँ तो ठाकुर है अति दारुन, करिहै चाल कुचाली हो।
बांध मारि डंड सभ लैहै, छुटिहै सभ मतवाली हो।
जबहीं सावत[९] आनि पहूँचै, पीठि सांट भल टुटि है हो।
ठाढ़े लोग कुटुम सभ देखैं, कहे काहु के न छुटि है हो।
एक तो निहुरि पांव परि बिनवै, बिनति किये नहिँ माने हो।
अनचिन्ह रहे न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनिबेउ हो।
लीन्ह बुलाय बात नहिँ पूछै, केवट गर्व तन बोलै हो।
जे करि गांठि सँमर[१०] किछु नाहीं, से निरधन होय डोलै हो।
जिन्ह सम जुक्ति अगमन के राखिन, धरिन मछभरि[११]डेहरि हो।
जेकर हाथ पांव किछु नाहीं, धरन लागु तेहिसोहरि हो।
पेलना[१२] अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का टोवहु हो।
उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो।
तरके[१३] घाम उपर की भुँभुरी, छाँह कतहूँ नहिं पायहु हो।
ऐसनि जान पसीझहु सीझहु, कस न छतुरिया छायहु हो।
जे किछु खेल कियहु सो कीयहु, बहुरि खेल कस होई हो।
सासु[१४] ननँद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो।

---

† छन्द 'ताटङ्क'। सूचना-प्रत्येक चरण के अन्त्याक्षर 'हो' को बचाकर बोलने या गाने से यही "सार" छन्द हो जाता है।

गुर[15] भै ढील गौनि भइ लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो।
ताजी[16] तुरुकी कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो।
ताल-झांझ भल बाजत आवै, कहरा सभ कोई नाचे हो।
जेहि रँग दुलह बियाहन आये, दुलहिनि तेहि रँग राचे हो।
नौका अछत खेवै नहिँ जानहु, कैसे लगवहु तीरा हो।
कहँहिँ कबीर रामरस माते, जुलहा दास कबीरा[17] हो।

गीतिः सुगीता "कहरा" भिधा या।
संसारसंभंगुरताप्रबोधा॥

प्राभातिकी, लोकविबोधनाय।
तंश्रीकबीरं सततं स्मरामि॥

टि०—[योग में भोग और उसका खंडन]

१—'कहरा' एक गीति विशेष का नाम है। इस पद्य में भोग-योग वादियों का सहज-ध्यान-विषयक पूर्वपक्ष और सद्गुरु का उत्तर पक्ष बताया गया है। भजन—ऐसा ज्ञानि मिला गुरु मेरा, भोग में जोग बताया। २—आगे बताये हुए सहज ध्यान में चित्त को रखो। चरा=क्यों। यह फारसी शब्द है। लव=लक्ष्य। ३—लगन। कोहू=क्रोध। ४—सुरती, (वृत्ति) "शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया"। रोहू=मत्स्य विशेष, (मन)। ५—क्रोध करानेवाला। ६—"तन राखो जहँ काम है, मन राखो जहँ राम"। ७—साथही साथ भोग और योग, (दोनों हाथों में लड्डू!)। ८—सद्गुरु वचन। ठाकुर=यमराज। ९—वीर (यम के दूत) सांट=छड़ी। १०—शम्बल (ज्ञान और मनोनिरोधादिक) ११—मछ्छियों के रखने की पिटारी। अर्थ—जिन्होंने मनोवृत्ति-रूप मछ-

क्रियों को मनरूपी डेहरी में भर दिया, उन्होंने यह समभाव रूपी शम्बल-संचय यात्रा से पहले ही करके रख लिया। यदि पूर्ण आत्मिक बल हो तो मन रूपी मत्स्य का पकड़ लेना तो सहज ही है क्योंकि न उसके हाथ है न पैर. जिससे कि वह लड़-भिड़ सके। १२—यदि सचमुच आनन्द सागर में पैठना चाहते हो तो मन को इधर उधर न चलाओ। उथले = निज पद पर। गहिरे = माया रूपी दह में। हाथहु की = हाथ में आई हुई मन रूपी मछली को। १३—अज्ञानियों की करुणकथा—अज्ञानी लोग हृदयस्थमूलाऽज्ञान रूपी तरकी घाम से और नाना सन्ताप रूपी ऊपर की सन्तप्त धूप से दुहरे भुनते रहते हैं, क्योंकि उन को शान्ति रूपी छाया तो कहीं मिलती ही नहीं। ऐ अज्ञानियो! इस प्रकार तुम अपनी जान (जीव) को क्यों जलाते और पकाते हो। आत्मबोध-रूपी अकिञ्चन-सुलभ झोंपड़ी क्यों नहीं डाल लेते। १४—सासु (माया) और ननँद (कुमति) के मर्मस्पर्शी-वचनों से लज्जित हो रहे हो। मुखगोई = मुँह छिपाना। १५—सदैव विधिविधानों में लगे रहे, परन्तु अब बार्धक्य से कष्ट साध्य कर्म नहीं बनते हैं। १६—कभी भी आत्मावलम्बन नहीं किया केवल सकाम कर्मावलम्बन के भरोसे रह गये। (तुरुक देश का घोड़ा बहुत अच्छा होता है।) सूचना—कहार-लोग कहरा राग गा २ कर नाचा करते हैं। उपासनासिद्धि—दशों प्रकार के अनहद शब्द प्रकट हो गये। उन को सुनकर मनरूपी कहार नाचने लगे। अनन्तर आत्मात्मोपासकों को उपास्य रूपता मिल गयी। नौका = नरतन। तीर = भवपार। १७—कबीर साहब कहते हैं कि उक्त उपासक लोग प्रपञ्च का भी ताना तनते रहते हैं, और राम रस के भी मतवाले बने रहते हैं। ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। "कबीर मन तो एक है भावे तहाँ लगाव। भावे गुरु की भक्ति कर भावे

विषय कमाव'' । सूचना —इस ग्रन्थ में ' माते ' शब्द सर्वत्र खंडन परक है अतः यहाँ पर ' जोलहा ' पद से कबीर साहब का स्मरण करना ग्रन्थ की परिभाषा के विरुद्ध होने से नितान्त ही अनुचित है ।

(२)

मत सुनु मानिक[1] मत सुनु मानिक, हिरदया बंद निवारहु हो ।
अटपट कुँभरा[2] करे कुँभरैया, चमरा[3] गाँव न बाँचे हो ।
निति उठि कोरिया[4] पेट भरतु है, छिपिया[5] आंगन नाचे हो ।
निति उठि नौवा[6] नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो ।
राउर[7] को किछु खबरि न जानहु कैसे के झगरा निबरहु हो ।
एक गांव मों पांच तरुनि बसे, जिहि मह जेठ जेठानी हो ।
आपनआपन झगराप्रगासिनि, पियासों प्रीति नसानिन्ह हो ।
भैंसिन्हि माँहरहत नित बकुला, तिकुला ताकिन लीन्हा हो ।
गाइन माँह बसेउ नहिँ कबहूँ, कैसे के पद पहिचनबउ हो ।
पंथी पंथ पूछि नहिँ लीन्हो, मूँढ़हिँ मूढ़ गवारा हो ।
घाट छाँड़ि कस औघट रेंगहु, कैसे के लगबहु तारा हो ।
जतइत[8] के धन हेरिन ललचिन, कोदइत के मन दोरा हो ।
दुइ-चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहो ठिक ठौरा हो ।
प्रेम-बान एक सतगुरु दीन्हो, गाढ़ो तीर कमाना हो ।
दास-कबीर[9] कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो ।

टि०—[आत्मप्रीति]

१—हे नर-रत्न ! तू मेरे उपदेशों को सुनकर हृदय के बन्धनों (विकारों) को दूर फेंक दे। २—मन अनेक रचनाएं करता रहता है। ३—चर्मदृष्टि (विषयी और पामर)। ४—सकाम कर्मों का ताना तनने वाला (कर्मी) ५—छापा छापने वाला (उपासक) ६—अज्ञानियों को जब जब नरतन मिलता है तब तब वे उसको भवजल में डुबा देते हैं। ७—गुरुपद "साहब"। तरुनि = इन्द्रियां। जेठ = मन। जिठानी = मनसा। आत्म सागर को कलुषित करने वाली भैंसे = इन्द्रियां। बकुला = मन। तिकुला = उसको। गाइन-सात्विक वृत्तिरूप गाएं। पद = पैर, चिन्ह और निजपद। पंथी = सत्यमार्ग के यात्री (सन्त)। रैंगहु = चलते हो। ८—'जतइत' (जाँता, चक्की वाले) और 'कोदइत' (कोदों दलने की मिट्टी की बनी हुई चक्की वाले। 'हेरिन, ललचिन' (ढूंढा और ललचाये) 'दुइ चकरी' (दो चक्कियों के पास) 'जनि दरर पसारहु' पीसने का श्रम मत फैलाओ। भावार्थ—नाना देवताओं की उपासना और नाना सकाम कर्मों के फलों में मनलुभा गया। ऐहिक भोग और पारलौकिक भोगों की इच्छा को छोड़ने से मुक्ति मिलती है। ९—कबीर साहब ने यह 'कहरा' बनाया। और दूसरा यह भी अर्थ है कि 'दास कबीर' देवोपसक और कर्मी लोगों के संसरणजन्य 'कहरा' दुःख का मैंने कथन किया। परन्तु 'महरा माहिं समाना हो' जो इस रहस्य का 'महरमी' होगा वही मुक्तिमन्दिर में पैठेगा। भजन-महरमि हो सो पावे सन्तो। "दिलका महरमि कोइ न मिलिया जो मिलिया सो गरजी" (बीजक)।

(३)

रामनाम[1] को सेवहु बीरा, दूरि नाहिँ दूरि आसा हो ।
और देवका[2] पूजहु बौरे, ई सभ झूठी-आसा हो ।
ऊपर उजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूं कारो हो ।
तनके बिरध कहा भौ बौरे, मनुवा अजहूँ बारो हो ।
मुखके दांत गये कहा बौरे, भीतर दांत लोहे के हो ।
फिरि फिरि चना चबाउ विषयके, काम क्रोध मद लोभके हो ।
तनकी सकल संग्या घटि गयऊ, मनहिँ दिलासा दूना हो ।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, सकल सयाना पहुँना हो ।

टि०—[आत्मपूजा]

१—राम ' रमैया ' है नाम जिसका अर्थात् चेतन-देव, (आत्मा) ' बीरा ' हे धीर वीरो ! । मिथ्या आशाओं के मिटने से आत्मा दूर न रहेगा । अथवा वह दूर नहीं है किन्तु तुम्हारी आशाएं दूर चली गई हैं । २—" चलते देव को पूजले, का पत्थर से काम । जितनी बोलैं आत्मा उतने सालिग राम" । "जीवदया अरु आतम-पूजा, इन्ह सम देव अवर नहिं दूजा " । लोहे के दान्त = दृढ़ वासना । ' संग्या ' शक्ति । ' दिलासा ' उत्साह, होसला । ' पहुंना ' " मेहमान । भजन—मन नेकी करले दो दिनका मिजमान । बड़े बड़े तेरे पीर अवलिया चले देह त्यागी " ।

(४)

ओढ़न मोरा रामनाम[1] मैं, रामहिँ का बनिजारा हो ।
रामनामका करहूँ बनिजिया, हरि मोरा हटवाई[2] हो ।
सहस-नामका करौं पसारा, दिनदिन होत सवाई हो ।

*जाके देव बेद पछराखा, ताके होत हटवाई हो।
कानि तराजु[3] सेर तिनिपउवा, तुरुकिनि[4]† ढोलबजाई हो।
सेर[5] पसेरी पूरा कैले, पासँग कतहुँ न जाई हो।
कहहिँ कबीर सुनहु हो संतो, जोर चला जहँड़ाई[6] हो।

टि०—(राम के व्यापारी)

१—राम यह, है नाम जिसका अर्थात् रमैया राम मेरा 'ओढ़न' ओढ़ने का वस्त्र (शीतोष्णरूप द्वन्द्व निवारक) हैं। यहाँ पर सर्वत्र 'नाम' से नामी ही विवक्षित हैं। २—अढ़तिया। ३—ये सब राम ही हैं ४—मुसलमानों ने मेरे उक्त व्यापार को निनिन्दित किया। ५—राम नाम के गल्ले को तौलने की विधि। 'सेर' (मन) और 'पसेरी' (इन्द्रियों) को पूरा बनालो (पूर्णतःवश में करलो) तब पासंग (इच्छा) तो कहीं भी न जायगी। भावार्थ—जिस प्रकार सेर और पसेरी आदिक बाटों के पूरे रहने से पासंग का घाटा तो केवल तराजू के फेरफार से ही निकल जाता है, इसी प्रकार मन और इन्द्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व रहने से इच्छा का निरोध भी हो जाता है। "विषया विनिवर्न्तते निराहारस्य देहिनः, रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्वते" (गीता)। ६—जो दुराग्रही इस तत्वोपदेश को धारण नहीं करता है, वह भवाटवी में भटकता रहता है। जहँडाना = भटकना या दुखी होना।

पाठा०*—क, पु. जाके देव मैं नव पंच सेरवा ताके होत अढाई हो।
† क, पु, डहके ढोल बजाई हो।

(५)

रामनाम[1] भजु रामनाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो।
लच्छ करोरि जोरि धनगाड़िन्हि, चलत डोलावत[2] बांहीहो।
दादा बाबा औ परपाजा, जिन्हके ई भुइ भांडे हो।
आंधर भये हियहु की फूटी, तिन्ह काहे सभ छांडे हो।
ई संसार[3] असार को धंधा, अंतकाल कोइ नाहीं हो।
उपजत बिनसत बार न लागै, जौं बादर की छांही हो।
नाता गोता कुल कुटुंम सभ, इन्हकरि कवन बड़ाई हो।
कहँहिँ कबिर एक राम भजे, बिनु बूड़ी सभ-चतुराई[4] हो।

टि०—(संसार की असारता का विचार)

१—राम 'रमैया' यह है नाम जिसका अर्थात् रामनाम वाला सर्वभूत हृदय संचारी आत्मदेव। २—संचित किये हुए अधिक धन के गर्व से अकड़ २ कर (ऐंठ २ कर चलता है। 'भांड़े' धन से भरे हुए और ज़मीन में गाड़े हुए वर्तन ३— यह संसार माया का रचा हुआ है। ४—व्यवहार पटुता। "चतुराई चूल्हे पड़ो, जो नहिं शब्द समाय। कोटिन गुन सूवा पढ़े, अन्त बिलैया खाय" (कबीर-साखी)

(६)

रामनाम[1] बिनु रामनाम बिनु, मिथ्या जनम गमाई हो।
सेमर[2] सेइ सुवा जौं जहडेँ, ऊन परे पछिताई हो।
जैसे मदपी[3] गांठि अरथदे, घरहु कि अकिल गमाई हो।
स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसै प्यास न जाई हो।

दरब-हीन जैसे पुरुषारथ, मनहीं मांहिं तबाई हो।
गांठी रतन[4] मरम नहिं जानै, पारखि लीन्हा छोरी हो।
कहँहिं कबीर यह-अवसर[5] बीते-रतन न मिलै बहोरी हो।

टि०—(आत्मपरिचय की आवश्यकता का उल्लेख)

१—'राम ऐसा है नाम जिसका "रमैया राम" (साहब) २—असार संसार के सेवन से अज्ञानी लोग अन्त समय ऐसे पछताते हैं जैसे सेमर के निःसार फलों को भ्रम से सुस्वादु समझ कर चोंच मारने वाला शुक पक्षी रूई के निकल पड़ने से पछताता है। ३—मद्यपान करने वाले (शराबी)। तबाही=संकट। ४—हृदय में राम है। "हृदय बसै तेहि राम न जाना"। ५—नरतन। 'रतन' निजपद, और उसका साधन ज्ञान।

(७)

रहहु[1] सँभारे राम-बिचारे, कहता हौं जो पुकारे हो।
मूँड़ मुड़ाय फूलिके बैठे, मुद्रा[2] पहिरि मजूसा हो।
तेहि ऊपर किछु छारलपेटे,भितर भितर घर[3] मूसा हो।
गांव बसतु है गरब[4] भारती,† बाम काम हंकारा हो।
मोहनि जहाँ तहाँ ले जैहैं, नहिँ पतरहहिँ तोहारा हो।
मांझ मँझरिया बसै जो जानै, जन होइहैं सो थीरा[5] हो।
निरभेभे[6]तहँ गुरुकि नगरिया,(सुख)सोवैदासकबीराहो।

टि०—(जैसा काछ काछे, वैसा नाच नाचे)

१—केवल वेष के अहङ्कार से काम नहीं चलता है। २—कानों में मुद्रा और गले में सेली पहनकर गुफा में साडम्बर बैठे रहते हैं। ३—हृदयागार

पाठा०—† क, पु, माम।

से कामादिक चोरों ने सद्‌गुणरूपी रत्नों को चुरा लिया है । ४—उक्तरूप से नाम मात्र के भारती जी मानों अहङ्कारादिक राजाओं के तो प्रजा ही बने हुए हैं । मोहन = मन, मोहनी = माया, अथवा वासना । पत = मान = प्रतिष्ठा । ५—जो तत्व वेत्ता होंगे वे ही समुद्र के मध्य में निर्भय विचरने वाले मांझी की तरह अपार संसार पारावार के मध्य में निर्भय होकर जीवन यापन करेंगे । "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः"। "यौं साधू संसार में कमला जल मांहीं, सदा सरबदा संग रहै, जल परसत नाहीं" । ६—जिस में निवास करने से जीवात्मा सब प्रकार से निर्भय हो जाता है बस वहां गुरु की नगरी है । उसी में पहुँच कर ज्ञानी परमानन्द पर्य्यंक पर अनन्त विश्राम करते हैं । यहां पर 'दास कबीरा' यह पद उत्तमाधिकारियों का बोधक है । अथवा कबीर साहब की अधीनता का द्योतक है । इसी प्रकार गुरु नानक देवजी ने ग्रन्थ साहब में कई स्थलों पर अपने को "नानका" पद से संबोधित किया है ।

(८)

क्षेम कुसल औ सही-सलामत[1], कहहु कवन को दीन्हा हो ।
आवत-जात[2] दोऊ बिधि लूटे, सरब—तंग[3] हरि लीन्हा हो ।
सुरनरमुनिजति पीर अवलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो ।
कहँ लों गनौं अनंत कोटिलों, सकल पयाना कीन्हा हो ।
पानी पवन अकास जायँगे, चंद जायँगे सूरा हो ।
येभि[4] जांयगे वोभि जांयगे, परत न काहु के पूरा हो ।
कूसल[5] कहत कहत जग बिनसै, कुसल काल की फांसी हो ।
कहहिँ कबिर सारि दुनियाँ बिनसै, रहैं राम अबिनासी हो ।

टि०—(संसार की असारता और विनाशिता)

१—स्वस्थता। २—जन्मते और मरते ज्ञान से हीन रहे। ३—अविद्या ने सर्वस्व ले लिया। 'मीर' प्रधानवीर। ४—इस लोक के और उस (स्वर्गादि) लोक के रहने वाले। ५—संसार का आनन्द। "आनन्द आनन्द सब कहैं, आनन्द जिउका काल"। " कुसल कुसल ही पूछते, जगमें रहा न कोय। जरा मुई ना भय मुवा, " कुसल कहां से होय "। अविनाशी राम' अनादिराम, रमैयाराम, (चेतनदेव)

(६)

ऐसनि-देह निरालप[1†] बौरे, मुवले छुवै न कोई हो।
डँड़वा[2] (कि) डोरिया तोरिलराइनि, जो कोटिन धन होई हो।
उरध निसासा उपजि तरासा, हकराइन्हि परिवारा हो।
जो कोइ आवै बेगि चलावै, पल एक रहन न पाई हो।
चंदन चीर चतुर सभ लेपहिँ, गर गज मुकुता हारा हो।
चहुँदिसि[3] † गीध मुये तन लूटैं, जंबुक बोद्र बिदारा हो।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतों, ज्ञान हीन मतिहीना हो।
एक एक दिन याही गति सभकी, कहा राव कहा दीना हो।

टि०—(शरीर की हीनता और अनित्यता)

१—पाया। यहाँ पर ' निरायन ' या ' निरायनि ' ऐसा भी पाठ है। अर्थ—ऐ नवयुवको! जिस शरीर के बार २ सँवारने और सजने में तुम लोग जीवन का बहुमूल्य-समय बिता रहे हो, उसकी तो यह महिमा है कि

---

†क, पु, निरायनि। ‡, चउसठि।

"मुवले छुवै न कोई हो"। २—चाहे कोटिपतिही क्यों न हो परन्तु मरने पर तो करधन (कमर में बँधी हुई सूत की डोरी) तक तोड़ली जाती है। अन्त समय ऊर्ध्वश्वास होने पर मृत्यु का भारी भय होगया अतः कुटुम्बियों को पुकारने लगा। ३—कई पुस्तकों मे 'चौसठ ऐसा भी पाठ है। चौसठी = चीव्ह।

(१०)

हौं[1] सभहिन में हौं नहो मोहि, बिलग बिलग बिलगाई हो।
ओढ़न[2] मोरा एक पिछोरा, लोग बोलैं एकताई हो।
एक[3] निरंतर अन्तर नाहीं, जौं ससि घट-जल-झांई हो।
एक समान कोइ समुझत नाहीं(जाते)जरामरनभ्रमजाईहो।
रैनि[4] दिवस मैं * तहवां नाहीं, नारि पुरुष समताई हो।
ना मैं बालक बूढो नाहीं, ना मोरे चिलकाई[5] हो।
तिरबिधि रहौं सभनिमां बरतौं, नाम मोर रमुराई हो।
पठये[6] न जाऊँ आने न आऊँ, सहज रहौं दुनियाई हो।
जोलहा तान-बान नहिं जानै, फांटि बिनै दस ठाँई हो।
गुरु-परताप जिन्है जस भाषो, जन बिरले सुधि पाई हो।
अनँत-कौटि[7] मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो।
सुर-नर मुनि जाके खोज परे हैं, किछु किछु कबिरन्हि पाई हो।

पाठा०—* ग, पु, मे।

टीका—[राम-राजा का आत्म परिचय और राम कहानी]

इसमें आत्मा की व्यापकता और स्वरूप स्थिति का उल्लेख है।

१—रामराजा कहता है कि व्यापक होने से मैं सब में रमा हुआ हूं, परन्तु मैं (चेतन) सब (जड़) रूप नहीं हूँ। विवेकियों ने मुझको उक्त प्रकार से जड़ से अलग करके समझा है। २—उक्त व्यापकता ही मेरा एक मात्र उत्तरीयाम्बर (ओढ़ना, या पिछौरा) है। इस तत्व को न जानने वाले (आधुनिक अद्वैत वादी) भ्रम से जड़ और चेतन की एकता बतलाते हैं। ३—मैं वस्तुतः एक और अव्यवहित हूँ क्योंकि मेरे स्वरूप में माया का व्यवधान इस तरह नहीं है, जैसे घड़े के जल में पड़े हुए प्रतिबिम्ब और चन्द्रमा के बीच में जरा भी पड़दा नहीं रहता है। ज्ञान के अभाव से प्राकृत जन मुझको 'एक समान (कूटस्थ, निर्लेप, एक रस, ज्योंका त्यों) नहीं समझते हैं प्रत्युत विपरीत समझते हैं, इसी भ्रम से वे लोग जरा जन्म और मरण जन्य दुःखों को भोगते रहते हैं। ४—मैं जिस देश में (स्वरूप में) हूँ वहाँ सूर्य नहीं पहुँच सकता इस कारण वहाँ न रात है न दिन। "न तद्भासयते सूर्यः"। और वहां पर नारी और पुरुष एक रूप (चेतन रूप) से रहते हैं "हंस न नारी पुरुष है"। ५—चमक दमक (जवानी)। उक्त तीनों अवस्था और ऊँच नीच कहलाने वाले सब प्राणियों में मैं एक ही रूप से रहता हूँ, क्योंकि मेरा नाम ' रमुराई , रामराजा, (रमैया राम) है। ६—मैं निरवधिक व्यापक होने के कारण न किसी के विसर्जन से जा सकाता हूँ और न किसी के आवाहन से आही सकता हूं; क्योंकि मैं तो स्वभावतः सर्वत्र विद्यमान हूँ। अज्ञानी रूपी जुलाहा ताने बाने (कर्म और उपासना) का अभिज्ञ नहीं होता है; क्योंकि वह 'फांट' (थान) को दश जगह से बिनता है। भाव

यह है कि जिस प्रकार एकही जगह (तरफ) से बिना हुआ थान सुन्दर और सुसाध्य होता है इसी प्रकार एक ही (निज) देव की उपासना से सर्वाभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। "और देव का सेवहु बौरे ई सब झूठी आसा हो"। गुरु की कृपा से किसी विरले ने इस रहस्य को जाना है। ७—अनन्त कोटि कामनाओं में मन को लगाने से हीरारूपी जीवात्मा बिंध गया, अर्थात् अन्तःसार हीन होगया; इस कारण इसका मूल्य फिटकरी के समान भी (नियत) न रहा। "हीरा सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट, कपट कुरंगी मानुवा, परिखत निकला खोट"। कबीर साहब कहते हैं कि उक्त 'रामराजा' की ढूंढ में बड़े २ सुर नर और मुनिजन लगे हुए हैं परन्तु मालूम होता है कि उक्त नानादेवों के उपासक 'कबीरन' अज्ञानियों ने तो उसको कुछ २ जान लिया है। यह काकु [वचन] है।

(११)

[1] ननदी गे तैं बिषम सोहागिनी, तैं निंदले संसारा गे।
आवत देखि (मैं) एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे।
मोरे बाप के दोइ मेहररुवा, मैं अरु मोर [2] जेठानी गे।
जब हम रहलि*रसिक के जग में, तबहिं बात जग जानी गे।
[3] माइ मोरि मुवलि पिताकेसंगे, सरा रचि,[†]मुवल संघातीगे।
अपने मुवलि अवरले मुवली, लोग-कुटुम संग-साथी गे।
जौ [4] लौं साँस रहै घट भीतर, तौलों कुसल परीहै गे।
कहँहिं कबिर जब साँस निकरिगौ, मंदिल अनल जरीहैगे।

---

*क पु, ऐलि। † ग पु, सचि।

* टीका *

(ननंद भौजि परिपंच रचो है मोर नाम कहि लीन्हा)

१—इस पद्य में ननंद (कुमति) तथा भावज (अविद्या) का झगड़ा बताया गया है। मिथिला प्रान्त में स्त्रियां परस्पर वार्तालाप में 'गे' संबोधन दिया करती हैं। कुमति ने जीवात्मा को अपने वश में कर लिया इस कारण अविद्या क्रुद्ध होकर उसको गाली देती है कि, गे ननदी ! [कुमति] तूं तो बड़ी विषम (बेढ़ब) सुहागिन (पतिव्रता) है कि तूने सारे संसार को अपने संग सुला लिया है। भाव यह है कि सारा संसार कुमति के फाँस में पड़गयः हैं। यहाँ पर सुहागिन शब्द व्यंग्य (आक्षेप) रूप से कहा गया है। इतनाही नहीं मैंने स्वयं आकर देखा है कि तूने हमारे खसम (जीवआत्मा) को भी दूषित कर दिया है। भाव यह है कि जीव आत्मा अज्ञान वश कुमति का प्रेमी बन गया है। २—अविद्या कहती है कि मेरे बाप=पिता (मूलाज्ञान) के दो मेहररुवा (स्त्रियां) हैं एक तो मैं और दूसरी मेरी जेठानी माया है। भावार्थ—कुमति अज्ञान से उत्पन्न होती है और उसी के साथ सदैव प्रेम पूर्वक रहती है इसी अभिप्राय से अज्ञान की स्त्री कही गयी है। जब हमने रसिकों (संसारी लोग) का सङ्ग किया, तबही संसार के विषयों को जाना। रसिकों के सङ्ग से तो हमारा कुटुम्ब बहुत बढ़ा फूला और फला भी, परन्तु जब से सत्सङ्ग हुआ तब से तो हमारे कुटुम्ब का तथा मेरा एक प्रकार से विनाश ही होगया। ३—देखिये सत्सङ्ग होते ही पहले ही दिन मेरे पिताजी (अज्ञान) ने अपना शरीर छोड दिया। अनन्तर मेरी माता (ममता) भी पतिव्रता होने के कारण सरारचि=चिता बनाकर पति

के साथ ही जल गयी। भाव यह है कि सत्संग से अज्ञान तथा ममता छूट जाती है। पश्चात् पिताजी के संगी-साथी (कामादिक) भी चल बसे मेरी माता जी आप मरीं सो तो मरीं ही परन्तु कुटुम्ब के लोग और संगी (आशा-तृष्णादिक) साथियों को भी लेकर मर गयीं।

भावार्थ—ममता दूर होने से आशा और तृष्णा भी दूर हो जाती है।

४—कबीर साहब कहते हैं कि इस प्रकार अज्ञानादिकों के दूर होने से मनुष्य जीवन्मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है। जीवन्मुक्तों का शरीर प्रारब्ध वश जब तक प्राणों से सम्बद्ध रहता है तब तक तो शरीर की कुशलता ही है, और जब प्राण शरीर से वियुक्त होकर आत्मा में लीन हो जाते हैं; तब मन्दिर (देवालय)=शरीर में अग्नि जलने लगती है। भाव यह है कि प्रारब्धावसान होने पर ज्ञानियों के प्राण आत्मा में लीन हो जाते हैं किन्तु लोकान्तर में गमन नहीं करते हैं। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति; इहैव समवलीयन्ते।" यह श्रुति का वचन है। केवल शरीर से प्राणों का वियोग हो जाता है इसी लिये "श्वास निकरिगौ" कहा है। प्राणों के परलोक गमनाभिप्राय से नहीं। "जीवो नारायणो देवो देहो देवालयः स्मृतः"। जीव नारायण देव है और देह उसका मन्दिर है॥

(१२)

ई[१] माया रघुनाथ कि बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर-चिकनिया[२] चुनि चुनि मारे, काहु न राखै नेरा हो।
मौनी बीर दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो।
जंगल में के जंगम मारे, माया किन्हहुँ न भोगी हो।

बेद पढंते बेदुया* मारे, पूजा करंते सामी हो।
अरथ बिचारत पंडित मारे, बांधेउ सकल लगामी हो।
सिंगी रिषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो।
नाथमछंदर चले पीठि दै, सिंघल हू में बोरी हो।
साकट के घर करता धरता, हरि-भगतन की चेरी हो।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, जौं[3] आवै तौं फेरी हो।

टि०—[माया का आखेट खेल]

१—यह मदमाती राम की माया। २—'देह दास'। 'बेदुवा' वेदपाठी, श्रोत्रिय। 'लगामी' घोड़ों के फेरने वाले-चतुर-सवार। (महामहोपदेशक और देश के सम्भावित नेता) 'सिंहल' सिंहल द्वीप। "उक्तदेश में गोरखनाथजी के गुरु मछन्दर नाथजी को स्त्रियों ने अपने माया जाल में फँसा लिया था" यह प्रसिद्ध है। 'साकट' गुरुदीक्षा से रहित। साकट यह शब्द 'शाक्त' का रूपान्तर मालूम होता है, क्योंकि शाक्त लोग भक्ष्य और पान में स्वतन्त्र होते हैं। इसके विपरीत हरि-भक्त वैष्णव होने के कारण सात्विक-वस्तुओं के प्रेमी होते हैं। ३ माया से बचने का उपाय-सामने आतेही उसको उसी वक्त हटा दे (ठुकरादे) "कबीर माया सन्त की ऊभी देत असीस। लातों औ बातों छरी सुमिरि सुमिरि जगदीस"।

पाठा०—* क, पु, पांडेमारे।

बसंत

(१)

[1](जाके)बारह-मास बसंत होय,(ताके† परमारथ बूझै बिरला कोय।

बरिसै[2] अगिनि अखंडधार, हरियर भौ बन (अ) ठारह भार।

पनिया[3] आदर * धरनि लोय, पवन गहै कसमलिन धोय।

बिनु[4] तरिवर फूले आकास, सिव-बिरंचि तहँ लेहीं बास।

सनकादिक भूले भँवर बोय, लख--चौरासी[5] जोइनि जोय।

जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव, ताते[6] न छूटे चरन भाव।

अमर[7]–लोक फल लावै चाव, कहँहिँ कबीर बूझै सो पाव ×।

संवर्णितौ येन द्विधा वसन्तौ, नित्याध्रुवौ 'तत्व' विबोधनाय
प्रज्ञाशरीरं गुरुधीरवीरं तं श्रीकबीरं सततं स्मरामि ॥

वसन्तो वर्णितौ येन, मायिकामायिकावुभौ।
समीडे संविदे भक्त्या, तं कबीरं सताम्मतम् ॥

टि०—(नित्यवसन्त और अनित्य वसन्त का वर्णन)

इस वसन्त प्रकरण में आत्मरूप सदा वसन्त और मायिक प्रपञ्चरूप ओ वसन्त का वर्णन रूपक और रूपकातिशयोक्ति से किया गया है।

---

†—छन्द 'चोपई'।

पाठा०-* ख. पु. अन्दर। × क. पु खाव।

१–षड्विकार रहित अतएव परमानन्द स्वरूप जिस आत्मदेव के स्वरूपोद्यान में निजानन्द–सहकार–कलिकोन्मीलनविधायक–ऋतुराज–वसन्त (मोक्ष) सदैव डेरे डाले पड़ा रहता है; उसको परमार्थतः (अपरोक्षरूप से) कोई विरला ही जानता है। "सुख बिसराय मुक्ति कहँ पावे। परिहरि सांच झूठ निज धावे"। (बीजक)। भाव यह है कि आत्मैकत्व के साक्षात् ज्ञाता संशय शोक और मोह से रहित होने के कारण सदा प्रसन्न रहते हैं। "तत्र को मोहः कः सोक एकत्वमनुपश्यतः" इति श्रुतेः। "सदा बसंत होत तेहि ठाऊँ। संसय रहित अमरपुर-गाऊँ"। इस प्रसङ्ग में वसन्त से वसन्त के कार्य विवक्षित हैं। २—इस प्रकार सूत्ररूप से आत्मिक-वसन्त का वर्णन करके मायिक-वसन्त का सविस्तर वर्णन करते हैं। "एक मास ऋतु आगे धावे" इस प्रसिद्धि के अनुसार वसन्त में गरमी का प्रभुत्व हो जाता है इस आशय से 'बरिसे अगिनि' इत्यादिक कहा है। यहाँ पर 'ऋतु' (मायिक प्रपञ्च) और 'हठयोग' का साथ २ वर्णन है। ऋतु पक्ष में, कड़ी-धूप पड़ने लगती है अतएव अठारह भार वनस्पति नवपल्लवित (हरे भरे) हो जाते हैं। प्रपञ्च पक्ष में, नाना सन्तापरूपी अग्नि की धारा सदैव बरसती रहती है तो भी अज्ञानवश सब कोई प्रमत्त रहते हैं। ३—तपा हुआ पानी ऐसा मालूम होता है मानों उसमें आग रक्खी हुई है। दूसरे पक्ष में, हृदय कामनाग्नि से जल रहा है। गरम २ पवन मलिनता को दूर कर रहा है, और दूसरे पक्ष में, प्राणायाम से योगी अन्तः शुद्धि करते हैं। ४—अनंतर प्राणनिरोध के द्वारा ब्रह्माण्ड में ज्योति का उद्घाटन करने से 'बिनु तरिवर फूले आकाश'। इसी प्रकार वसन्त में भी मानों आकाशही फूल जाता है। तहँ= ज्योतिरूप तरु में। ५—बोय=सुगन्ध ६–'वासे' नित्यानन्दरूप-नित्य

बसन्त (आत्मपद) से । ७—कबीर साहब कहते हैं कि "तस्यायमात्मा-ऽयंल्लोकः" इस श्रुति के अनुसार जो अविनाशी लोक (आत्मलोक) में मिलने वाले मुक्ति फल को चाहते हैं; उनको उचित है कि पूर्वोक्त मायिक बसन्त की आपात रमणीय शोभा में न भूल कर तत्वज्ञान को प्राप्त करें क्योंकि जो 'बूझै सो पाव' जाने सो पावे ।

(२)

रसना पढ़िलेहु[1] सिरी-बसंत, पुनि जाइ परिहौ जमके फंद ।
मेरुडंड[2] पर डंक दीन्ह, अस्ट-कवँल परजारि * दीन्ह ।
ब्रह्म-अगिनि कीयो परगास, अरध-उरध तहँ बहै[3] बतास ।
नवनारी[4] परिमल सो गाँव, सखी पांच तहँ देखन धाव ।
अनहद[5]-बाजा रहल पूरि, पुरुष बहत्तर खेलैं धूरि ।
माया[6] देखि कस + रहहु भूलि, जस बनसपति रहि है फूलि ।
कहैं कबीर हरीके दास, फगुवा[7] मांगै बैकुण्ठ बास ।

टि०—(मायिक-बसन्त का वर्णन)

हठयोगियों का कथन । १—नाना ऐश्वर्यभोगों को देने वाले लक्ष्मी-रूप बसन्त को अथवा बसन्त लक्ष्मी को । "रसने ! रससारज्ञे ! सर्वदा मधुर प्रिये ! मधुरं वद कल्याणि ! मधुंरहि जनप्रियम्" । २—जिन्होंने सम्मुखी-मुद्रा से नासिकाग्रप्रदेश में दृष्टि को स्थिर कर लिया, उन्होंने

पाठा—* ग, पु. चारि । + क, पु. जनि ।

अष्टम (सुरति) कमल के नीचे भाग (सहस्त्रार) में ब्रह्मज्योति को प्राणायाम से प्रज्वलित कर दिया। क्योंकि साध्यकी सिद्धि साधन-सिद्धि के अधीन है। ३–प्राणायाम के अङ्गभूत रेचक और पूरक। बतास=पवन। ४—पूर्वोक्त ससस्त्र-दल कमल–पुर नव नाड़ियों का आश्रय और दिव्य-गन्ध से सुरभित है। वहाँ पर अभ्यास काल में रक्त नाड़ियों की अभिन्न-पांचों प्रियसखियां [पञ्चप्राण या पंच इन्द्रियां] आमन्त्रित होकर दौड़ पड़ीं। भाव यह है कि समाधिकाल में नवनाड़ी और पंचप्राणों का लय हो जाता है। "समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलंस्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्" । तथा "श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति" एवं "अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः" [गीता] ५–दिव्य-अनाहत शब्द। बहत्तर—पुरुष=बहत्तर कोठे ६—गुरु बचन–ये सब ऐन्द्रजालिक खेल हैं अतः इन में न भूल कर अपने आपको पहचानो। ' दिन दसफूलै टेसुवा, खर भर भये पलास '। अब सकाम भक्तों का वसन्त सुनिये—'फगुवा मांगै वैकुण्ठ वास '। भक्त जन अपनी सकाम भक्ति रूप वसन्त क्रीड़ा के पुरस्कार में वैकुण्ठ-वास [सालोक्य-मुक्ति] चाहते हैं। "सह-कामी सुमिरन करे, पावे उत्तमधाम। "निहकामी सुमिरन करे, पावे अवि-चल राम " [कबीर साखी]

(३)

(मैं) आयउँ[१] मेस्तर*मिलन तोहिँ, रितु बसंत पहिरावहु मोहिँ।

पाठा०–*क, पु, मेहतर।

२ लंबी-पुरिया पाई छीन, सूत पुराना खूंटा तीन ।
३ सर लागे तेहि तिन सौ साठ, कसनि बहत्तरि लागू गांठ ।
४ खुरखुर खुरखुर चालै नारि, बैठि जोलाहिनि पलथी मारि ।
५ उपर नचनियां करत कोड़, करिगह महँ दुइ चलत गोड़ ।
६ पाँच-पचीसौ दसहूँ द्वार, सखी पांच तहँ रची धमार ।
७ रंग विरंगी पहिरैं चीर, हरिके चरन धै गांवैं कबीर।

टि०—(कर्मी और उपासकों की सम्मिलित प्रार्थना)

१—मेहतर और 'मेस्तर' ये दोनों फारसी-शब्द, संस्कृत 'महत्तर' के रूपान्तर हैं। मेस्तर का रूपान्तर 'मिष्टर' मालूम होता है। फारसी में मालिक या सरदार को मेहतर या मेस्तर कहते हैं। राजदरबार से मिले हुए बसन्ती या केसरिया जामा पहन २ कर सुसेवक-जन वसन्त के 'वसन्ती' दरबार में हाजिर होते हैं; यह प्राचीन प्रथा है। उक्त प्रथा-नुसार अनुरक्त भक्त भी संसार से उपराम होकर हरि दरबार में उपस्थित होने के लिये उपयुक्त दिव्याम्बर और दिव्यरूप (चतुर्भुज-विग्रह, सारूप्य मुक्ति) की याञ्चा करते हैं। ठीक ही है—"याञ्चा मोघा वर मधिगुणे नाधमे लब्धकामा" (कालिदास)

सूचना—इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से जुलाहे का वर्णन और वसन्तोत्सव के उपलक्ष में होने वाले 'धमार' (गायन वादन और नर्तन रूप 'संगीत') का साथही साथ उल्लेख किया गया है। २—इस दशा में अभी तक 'पुरिया' (ताना और मुख्य पक्ष में कामना)

बहुत लम्बी है। और 'पाई' (ताना साफ करने का 'कूचा' दूसरे पक्ष में 'प्रयत्न') तो क्षीण हो चली। पुराना सूत (प्राण, श्वास) तीन खूटों (ईडा, पिंगला और सुषुम्णा) से बन्धा हुआ है। यदि सूत पद से सनातन जीवात्मा लिया जाय तो वह त्रिगुणात्मक तीन खूटों से बन्धा है। ३—ताने में 'सर' और 'कसनी' लगाये जाते हैं। तदनुसार शरीर में तीन सौ साठ हड्डियाँ रूपी सर और बहत्तर कोठे रूपी कसनी (सूतकी लच्छियों को अलग २ करने वाला अस्थायी बन्धन) लगी हुई हैं। ४—बेजा बुन ते समय 'बाने' में लोहे की नाल दायें से बायें और बायें से दायें चलाई जाती है। और उसमें सूत की नली लगी रहने से वह खुर खुराती रहती है। नारी = नाड़ी। जुलाहिन = अविद्या। ५——'नचनियां' (ऊपर बांधी हुई चटकनी) पथ में 'नाचने वाले'। करिगह = करघा। पक्ष में, शरीर। ६—पांच तत्व और पचीस उनके कार्य। 'पांच सखी' ज्ञानेन्द्रियां, पांच तत्वों के भिन्न २ रंग रूपी रंग विरंगे वस्त्र हैं। ७—कबीर साहब कहते हैं कि भक्त जन हरि के दरबार में पहुँच कर प्रेम में मग्न होकर "हरिके चरन धै गावैं"। (यह उपासकों की समीप्य मुक्ति है)

(४)

(बुढ़िया)[1]हँसि बोले मैं नितहीं बारि, मो सो तरुनि कहु कवनि नारि

दांत[2] गयल मोरे पान खात, केस गयल मोरे गँग नहात।

नयन[3] गयल मोरे कजरा देत, बयस गयल पर-पूरुष लेत।

जान[4] पुरुषवा मोर अहार, अन जाने का करौ सिंगार।

(कहहिं)[5] कबीर बुढ़िया आनँद गाय, पूत भतारहिँ बैठी खाय।

* टीका *

[झीनी माया]

दोहा—मोटी माया सब तजैं झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया झीनि सबन को खाय॥

कनक और कामिनी रूप मोटी माया को बहुत से लोग छोड़ देते हैं परन्तु वासना रूप झीनी माया आत्मसाक्षात्कार के बिना नहीं छूट सकती है; यह भाव इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से बुढ़िया की आत्म कथा के द्वारा प्रकट किया है। १—साधनहीन वाचक-ज्ञानी लोग "अहंब्रह्मास्मि" कहते हुए समझ लेते हैं कि हमने माया को जीत लिया है। ऐसे लोगों को हँसती हुई बुढ़िया (माया) कहती है कि मैं तो सदैव युवती ही रहती हूँ। जरा बतलाइये तो सही कि मेरे समान ऐसी मद से माती हुई तरुणी दूसरी कौन है कि जिसने इस प्रकार से सबोंको नचाया हो; "चन्द्र वदनि मृग लोचनि माया, बुन्दुका दियो उघार। जती सती सब मोहिया, गजगति वाकी चाल। नारद को मुख माँड़ि के लिन्हा बसन छिनाय। गरब गहेली गरब ते, उलटि चली मुसुकाय॥ सिव अरु ब्रह्मा दौरि के, दोनों पकरे जाय। फगुवा लीन्ह छुड़ाय के, बहुरि दीन्ह छिटकाय"॥ तथा "एक ओर सुर-नर मुनि ठाढ़े, एक अकेली आप। दृष्टि परे उन काहुन छोड़े, करि लीन्हों यक धाप॥ जेते थे तेते लिये, घूँघुट माँहि समोय। काजरवाकी रेख है अदग गया नहिं कोय॥ इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन दोउ ललचाय। कहैं कबीर ते ऊबरै 'जाहि न मोह समाय' २—अब मेरी कथा सुनिये मुखशुद्धि करने वाले पान रूप अष्टांग योग करते २ मेरे दांतरूप काम और क्रोधादिक

दूर हो गये, ये तो मेरे ऊपर के दाँत थे, परन्तु भीतर के लोहे के तुल्य दान्त (भोगवासनारूप) तो अभी मौजूद ही हैं अतः 'ऊपर दाँत कहा गये-बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो । फिर २ चना चबाय विषय के काम क्रोध मद लोभै हो ।' और सत्संग रूपी गङ्गा में नहाते नहाते मेरे केश (कुमति) (अपयश) चले गये झड़ गये ॥ ३—और परोक्षज्ञान रूप अंजन के लगाते २ मेरे नयन (अविवेक) चले गये । भाव यह है कि श्रवणादि द्वारा विवेक उत्पन्न होने से अविवेक दूर हो जाता है । और पर पुरुष (जीव आत्मा) के साथ अनुराग करते २ मेरा वयस (अवस्था) अर्थात् सत्वशुद्धता चली गयी । भाव यह है कि शुद्ध-सत्व-प्रधान माया ईश्वर की और मलिन सत्व-प्रधान-अविद्या जीव की उपाधि है । अतः माया जीव से संबद्धा होकर अपने वयस रूपी सत्व शुद्धता (पातिव्रत्य) को खो बैठी ४—'जानपुरुषवा' (साधन रहित ज्ञानाभिमानी) तो मेरा अहार ही है और अनजाने (अज्ञानियों) पर तो मेरा शृङ्गार ही है । अर्थात् ज्ञानी और और अज्ञानी दोनों को त्रिगुण फाँस में लपेट लेती हूँ । ५—कबीर साहब कहते हैं कि यह बुढ़िया (माया) बैठी २ पूत (जीव) और भतार (ईश्वर) को खा रही है और आनन्द से मंगल गा रही है । भाव यह है कि "जीवेशावाभासेन करोति' इत्यादि श्रुति के अनुसार माया जीव और ईश्वर को आच्छादित कर देती है

(५)

[तुम] बुझ बुझ पंडित कवँनि नारि[१], काहुन बियाहलि है कुमारि

सभ-देवन[२] मिलि हरिहीं दीन्ह, चारिउ-जुग हरि संग लीन्ह ।

प्रथमे पदुमिनि[3] रूप आहि, है साँपिनि जग खेदि खाय ।
ई बर * जुवती[4] चै बार नाह, अतिरे तेज तिय रै निताह ।
कहँहिँ[5] कबिर यह जगत-पियारि, अपन-बलकवै रहलि मारि ।

टि०—[माया की प्रबलता का विचार]

"अधिष्ठानावशेषोहि नाशः कल्पितवस्तुनः" इस सिद्धान्त के अनुसार अपरोक्षानुभूति के बिना माया आत्मसात् (आत्मा के अधीन, अर्थात् अपने अधीन) नहीं हो सकती है, हां सत्वशुद्धि के कारण उसके आक्रमण से बच सकती है ' यह भाव इस पद्य में प्रहेलिका' के द्वारा (अनमेल विवाह के कारण माया को 'साधरणा' सिद्ध करते हुए) बतलाया गया है। १—पद्मिनी हस्तिनी चित्रिणी और शंखिनी ये स्त्रियों के लक्षणानुगुण साधारण प्रभेद हैं। और स्वसलक्षण पतियों में उक्त स्त्रियों का स्थायी तथा प्रगाढ प्रेम रहा करता है, यह दम्पति शास्त्र का विधान है। उक्त संकेत के अतिरिक्त यह माया कौन ऐसी विलक्षण स्त्री है जिससे कि इस को स्वानुरूप पति नहीं मिला, अतएव यह अभी तक कुमारी ही बनी हुई है। भावार्थ—माया अनादि है और अनादि काल से स्वतंत्रा है। २—"सत्वात्संजायते सुखम्" इस कथन के अनुसार सत्वप्रधान विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त हुई; परन्तु अधिकारी होने के कारण उसको आत्मसात् न कर सके, इस अभिप्राय से 'संग लीन्ह' कहा है। "अधिकारं समाप्यैते

पाठा०—* क पु, भरि । ग पु, ईवर जीवत ।

प्रविशन्ति परं पदम् '। ३—पद्मिनी का मुख पद्मवत् सुरभि हुआ करता है। अतः " आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदोह्युत्तमानाम् " इसके अनुसार सज्जनों की सम्पत्ति का सौरभ दिग्दिगन्तव्यापी हो जाता है। और दुर्जनों की सम्पत्ति सर्पिणी के समान विनाशकारिणी होती है। एवं माया और मायिक पदार्थ आपात-सरस तथा परिणाम विरस होते हैं। ४—माया के चंचल होने का मुख्य कारण—यह माया तो पूर्ण युवती है, परन्तु इसके पति कहलाने वाले विष्णु-आदिक अभी तक (इसके सामने के) बच्चे ही हैं, इस कारण यह उन पर अपना प्रभुत्व सदैव जमाये रखती है। भाव यह है कि माया अनादि और अतिबलवती है और विष्णु तथा ब्रह्मादिक सोपाधिक होने के कारण सादि हैं। 'राज ठगौरी विष्णु पर परी ' इससे बारे भोरे हैं। यहाँ पर ' ई भरिजुवती ' ऐसा भी पाठ है। ५—कबीर साहब कहते हैं कि यह माया ' साधारणा ' होने के कारण जगत को प्रिय है, पर यह इसका कार्य अनर्थ रूप है कि यह—सर्पिणी की तरह अपने ही बच्चों को खाती रहती है। भाव यह है कि संसारियों का जन्म-मरण माया ही के अधीन हैं। " यह संसार कुंडाला माहीं ताहि सरपिणी धरि धरि खांही। "कहँहिं कबिर कोइ बाहरि आवे। ताको माया नहिँ सतावे" तथा " मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ "।

(६)

माइ मोर[1] मनुसा अती सुजान, धंध कुटि कुटि करत बिहान
बड़े भोर[2] उठि आंगन बाढु, बड़े खांच ले गोबर काढु
बासि-भात[3] मनुसे लीहल खाय, बड़ घैला ले पानि को जाय

४
अपने सैयाँ (को मैं) बाधौं पाट, लै बेचौंगी हाटे हाट

५
कहँहिँ कबिर ये हरिके काज, जोइया के डिंग*रहिँकवनि लाज

* टीका *

[अविद्या के दास]

१—अविद्या माया से कहती है कि हे माई ! मेरा मनुसा (पति) अज्ञानी, मेरी बड़ी रक्षा करता है, इसलिये वह बड़ा सुजान (सज्जन) है। जरा उसकी सज्जनता का हाल तो सुन ! मैं तो केवल बैठी २ प्रेरणा किया करती हूँ, वह बेचारा अकेला ही अनेक धन्धों (नाना सकाम कर्मों) में सिर मारते २ बिहान (दूसरा जन्म) कर लेता है। भाव यह है कि जीवात्मा अज्ञान वश नाना प्रपंचों में पड़कर अनेक शरीरों को धरता रहता है। जन्म लेना भोर है और मरण रूपी रात्रि है। २—वह मेरा पति बड़े सबेरे उठ कर, अर्थात् जन्मतेही आंगन अपने अङ्ग को 'बाढ़' झाड़ने लगता है। भाव यह है कि जीव जन्मतेही अपनी रक्षा में लग जाता है। इसके पश्चात् बड़ी खाँच (डलिया=टोकरी) रूपी सकाम कर्मों से गोबर रूपी स्वर्गादिक भोगों को प्राप्त करता है। अर्थात् गोबर की तरह निःसार और तुच्छ स्वर्गादि लोकों के लिये नाना कर्मों को करता है। ३—मेरा मनुसा (पति) बेचारा इतना सन्तोषी है कि वह बासी भात (नाना विषयों) को खा लेता है। पश्चात् बड़ा घैल=घड़ा लेकर (तृष्णा बढ़ा कर) पानी (विषय भोग रूप मृग जल) को भरने जाता है। भाव यह है कि विषय भोगों से भोग तृष्णा अधिक बढ़

---

* ग पु, ढिंग रहि।

जाती है, इस कारण अज्ञानी लोग नाना भोग रूपी मृग जल से उसको बुझाने की बार २ निष्फल चेष्टा किया करते हैं। ये विषय बहुत-पुराने हैं इसलिये इन्हों को बासी भात कहा है, और बासी अन्न के खाने से प्यास अधिक लगती है यह बात लोक प्रसिद्ध है। ४—मैंने अपने सैयां (पति) को पाट (खटिया की पटिया) से बांध लिया है। अर्थात् पूरी तरह से अपने अधीन कर लिया है। इसलिये अब उसको हाटे हाट (नाना शरीरों में) ले जाकर बेचूंगी। भाव यह है कि अज्ञान वश होकर जीवात्मा नाना योनियों में भ्रमण करता है।

कबीर साहब कहते हैं कि ये सब माया की लीलाएं हैं, अर्थात् माया ही सबों को नाच नचाती है। बेचारे अज्ञानियों का क्या दोष है। ये सब तो जोइया के डोंगर हैं; अर्थात् अविद्या रूपी स्त्री के पशु हैं, अतः इनको क्या लज्जा है। भाव यह है कि जिस प्रकार पशु परतन्त्र रहते हैं इसी प्रकार अज्ञानी भी अविद्या के अधीन होकर नाना कर्मों को करते रहते हैं। ठीकही है—'नेह-नाथ-नाथे नहिं छूटे, तिय किसान पिय बैलहिं कूटे'॥

सूचना—यहां पर हरि पद से यथा श्रुत 'राम' का भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि "कहँहिं कबीर राम है राजा, जो किछु करै सो छाजै,' इस प्रकार पहले कह आये हैं। साखी—" नरपशु गुरुपशु बेदपशु त्रिया पशू संसार। मानुष सोई जानिये जाहि विवेक बिचार"। इस पद्य में 'सुजान' की सिद्धि के लिये 'धंध कुटि २ करत बिहान' इत्यादि वाक्यों का उपन्यास किया गया है, अतः वाक्य हेतुक 'काव्य लिङ्ग' अलंकार हैं। लक्षण और उदाहरण—"काव्यलिङ्ग जब जुक्ति सो, अर्थ समर्थ न होय। तोको जीत्यो मदन जो, मों हिय में सिव सोय" (भाषा-भूषण)

(७)

घरहिं में बाबुल ! बाढलि रारि, उठि उठि लागै चपल नारि ।
एक बड़ी जाके पांच हाथ, पांचों के पचीस साथ ।
पचिस बतावें और और, और बतावें कैयक ठौर
अंतर[1] मधे अन्त लेइ, झक-झोरि-झोरा जीवहिँ देइ ।
आपन आपन चाहैं भोग, (कहु) कैसे कुसल परीहै जोग[2] ।
विवेक[3] विचार न करैकोय, (सभ) खलक तमासा देखें लोय ।
मुखफारि हँसे राव रंक, (ताते) धरै न पावैं एको अङ्क ।
नियरे[4] न खोजैं बतावें दूरि, चहुँ दिसि बागुलि रहलि पूरि ।
लच्छ-अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव पीव ।
अबकी बार जो होय चुकाव, कहँहिँ कबिर ताकी पूरी दाव ।

टि०—(माया नारी का गृह-कलह) बाबुल = बबुवा । घर = हृदय । रार अज्ञानजन्य भ्रमजन्य कलह । चपल—नारी = माया । एक = मूल प्रकृति । 'अजा मेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम्' । पांच हाथ = पंच तन्मात्राएं 'पचीस' (प्रकृतियां) और २ (नानाकार्य) कैयक ठौर = स्वर्गादिक । १—हृदय मन्दिर में पैठकर ज्ञान रत्न छीन लिया और धक्के मुक्के मारकर चौरासी के गढे में ढकेल दिया । २—सम्बन्ध, प्रेम । स्वार्थियों की प्रीति चिरस्थायी नहीं रह सकती है । ३—विषयी और पामरों की दशा । 'एको अंग' स्वल्पानन्द भी नहीं ले सकते । 'माया किनहुँन भोगी हो' । ४—अनात्मोपासक और कर्मियों की दशा । बागुलि = बागुरा (मृगजाल) 'बागुरा मृग

बन्धनी' (अमर) प्रकृत में माया की फांस। अहेरी=शिकारी (कामादिक विकार) 'अबकीबार' नरतन में। 'चुकाव' (मुक्ति) "दौड़त दौड़त दौड़िया जहँलगि मनकी दौड़। दौड़ थकी मन थिरभया वस्तु ठोर की ठौर"॥

(८)

कर-पलो[1] के बल खेलै नार, पंडित हो सो लेइ बिचार।
कपरा[2] न पहिरै रहै उघारि, निर-जिव से धन अती पियारि।
उलटी[3] पलटी बाजू तार, काहू मारै काहु उबार।
कहैं[4] कबिर दासन के दास, काहू सुख दे काहु निरास।

* टीका *

साखी—नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेख।
घट घट अबिनासी अहै, सुनहु तकी तुम सेख॥

१—इस पद्य में माया को कठपूतली का रूपक दिया गया है, अतः इसका अर्थ दोनों पक्षों में लगता है। कठपूतली को नचाने वाला परदे की आड़ में बैठकर तारों से बंधी हुई काठ की पूतली को नचाता रहता है, यह बात प्रसिद्ध है। कबीर साहब कहते हैं कि एक ऐसी नारी (माया और कठपूतली) है कि जो दूसरे के हाथ के इशारे से नाचा करती है। जो पण्डित होवे उसका पहिचान ले। भाव यह है कि त्रिगुणात्मिका (सत्व रज और तम रूपी डोरी से बंधी हुई) माया ईश्वर की प्रेरणा से कठ-पूतली की तरह नाना खेल दिखाया करती है। २—प्रसिद्ध कठपूतली की अपेक्षा माया में यह विशेषता है कि माया रूपी कठपूतली कपड़ा नहीं पहिनती है। भाव यह है कि माया सबों को ढांप लेती है, परन्तु बिना ज्ञान के माया को कोई नहीं ढांप सकता है। और धन=स्त्री (माया

और कठपूतली) निर्जीव (जड़ प्रपंच) तथा दूसरी कठपूतली से अत्यन्त प्रेम करती हैं। अर्थात् माया जड़ प्रपंच में अनुरक्त रहती है और चेतन से पराङ्मुख होती है। ३—जिस तरह कठपूतली अपने बाजू (बगल) में लगे हुए तारों से उलट पलट कर किसी (वैरी) को मारती है, और किसी (मित्र) को बचाती है, इसी तरह माया भी त्रिगुणात्मक तारों के बल से उलट पलट कर, अर्थात् नाना अवतारों को धरती हुई अभक्तों का संहार करती है और भक्तों की रक्षा करती है। "दस अवतार ईसरी माया, करता करि जिन पूजा। कहंहि कबीर सुनो हो संतो उपजै खपै सो दूजा"। ४—अपनी अधीनता बताते हुए कबीर साहब कहते हैं कि हम तो दासों के भी दास हैं, देखिये यह माया किसी को सुख देती है और किसी को निराश बना देती है। इस पद्य में 'प्रहेलिका' और 'सावयव रूपकालङ्कार है।

(६)

ऐसो दुरलभ[1] जात सरीर, रामनाम भजि लागु तीर।
गये बेनु[2] बलि गये कंस, दुरजोधन गये* बूड़े बंस।
पिरथु गये प्रीथी के राव, तिरिविक्रम गये रहे न काव।
छौ चकवे मँडली के भारि, अजहूँ हो नल देखु विचारि।
हनुमत कस्यप जनक बालि, ई सभ छेकल जम के द्वारि ×

---

* ग पु० दुर्योधन को बूडो बंस। × क० पु० धार।

गोपीचँद भल कीन्ह जोग, जस रावन मारेउ करत भोग।
(एसी)जात देखि सभहिन्हि की जान,कहँहिं कबिर भजु[१] रामनाम

टि०—(माया का विद्युद्विलास " अस्थिरता ")

१—नर तन जारहा है अतः 'राम' यह है नाम जिसका ऐसे 'रमैया-राम' सर्वभूतनिवासी राम का साक्षात्करके संसार समुद्र से पार हो जाओ। २—मायिक ऐश्वर्य अनित्य है। "छव—चकवे वित धरनि समाना" इस 'रमैनी' के चरण में कहे हुए छः चक्रवर्ती राजा ये हैं। वेणु राजा, वलिराजा, कंसराजा, दुर्योधन राजा, पृथुराजा और त्रिविक्रमराजा। इनके अतिरिक्त अनेक माण्डलिक (छोटे २) राजा लोग सबके सब चले गये। जान=जीवात्मा (जीवन)। ३—अतः मिथ्या भोगों में न भूलकर पूर्वोक्त "रमैया" को भजिये (आत्मपरिचय करिये) "जीव दया अरु आतम पूजा, इन सम देव अवर नहिँ दूजा"।

(१०)

सबहीं[१] मदमाते कोइ न जाग, सँगहि[२] चोर घर मूसन लाग।
जोगी माते जोग ध्यान, पंडित माते पढ़ी पुरान।
तपसी माते तप के भेव, संन्यासी माते करि हँमेव।
मोलाना माते पढ़ी मुसाफ[३], काजी माते दै नीसाफ।

सँसारी माते माया (के) धार, राजा माते करि हंकार।

माते सुक (देव) ऊधो अँकूर; हनुमत माते ले लंगूर।

सिव माते हरि-चरन सेव, कलि माते नामा जय देव।

सत्त सत्त कहै सुम्रिति बेद, (जस) रावण मारेउ घरके भेव।

चंचल मन के अधम काम, कहँहिँ कबिर भजु राम नाम।

टि०—(अहंकार की प्रबलता का विचार)

१—"अहंकार सो दुखद डहरुवा। दम्भ कपट मद मान नहरुवा" इस कथन के अनुसार सात्विक राजस और तामस—एवं 'अहंब्रह्मास्मि' इत्यादि सम्वादि भ्रमरूप अहंग्रहोपासना के अवसर में, तथा श्रौत-स्मार्त कर्मानुष्ठान के लिये अत्यावश्यक वर्णाऽश्रमादिका आरोपित अहंकार और अनारोपित सबही प्रकार के अहङ्कार "आत्म तत्व के विस्मारक होने के कारण हेय है। भाव यह है कि परमार्थ—तत्व 'अहं-ब्रह्मास्मि' इस सम्वादि भ्रम से भी परे हैं, अतः इस परम सात्विक अहंकार को भी ' तद्दूरादयमञ्जलिः ' कर देना चाहिये, यह इस पद्य का परक रहस्य है। ' त्यज धर्ममधर्मञ्च, उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्तज'। 'तर्क दुनिया तर्क मौला तर्क उकबा तर्क तर्क'। यह निर्विशेष आत्मा के निरूपण की परम सीमा है। इसके अनन्तर निरूपण का प्रकार तो 'मौन मेवोत्तरं ददौ'। ' अवचनेनाह' हो जाता है। निर्विशेष 'आत्म-तत्व' के निरूपण में कबीर साहब की यही प्रक्रिया है। उपदेश में प्रक्रिया का भेद होना सनातन है, जैसा कि ब्रह्म

विद्या में वार्तिक कारका वचन है कि ''यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि । सा सैवप्रक्रियेहस्यात् सासाध्वी साचानवस्थिता' । तथा 'उपेय प्रतिपत्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः' (भर्तृहरि कारिका) । 'अहंब्रह्मास्मि' यह सम्यादि भ्रम रूप अहंग्रहोपासना तो उक्ततत्व के अनधिकारी मन्दाधिकारियों के लिये है । क्योंकि ' निर्गुणं हि परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः । ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः' । इसी अस्वारस्यसे तत्वमसी इनके उपदेसा' इस ८ वीं रमैनी में पुनः २ दिये हुए 'इनके इनके, पद तन्त्रोक्त उपदेश और निश्चय को पराभिमत सिद्ध करते हैं, स्वाभिमत नहीं, यह इस ग्रन्थ का निगूढ रहस्य है । (इत्यलं रहस्योद्‌घाटनेन) २—सब ही प्रकार के अहङ्कारी अहङ्कार—मद—मत्त होकर गहरी नीन्द से सो गये, अतः सुअवसर पाकर मन रूपी चोर ने उनके हृदयागार से 'तत्व' को चुरा लिया । हमेव = अहमेव 'अहंब्रह्मास्मि' ३—कुरान शरीफ । ४—अत्यन्त अहंकारी रावण भ्रातृ तिरस्कार के कारण मारा गया । ठीकही है—'अति रूपेण वै सीता, अति गर्वेण रावणः । अतिदानाद्‌बलिर्बद्धो ह्यतिसर्वत्र वर्जयेत्' ॥

(११)

(सिव) कासी कैसी भई तुहारि, अजहूँ हो सिव देखु बिचारि ।
चोवा चंदन अगर पान, घर घर सुम्रिति वेद पुरान ।
बहुविधि भवनहिं लागू भोग (ऐसा) नगर कोलाहल करत लोग ।
बहुविधि परजा लोग[१] * तोर, तेहि कारन चित ढीठ मोर ।
हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरा को समुझावै आन ।

जे जाहि मनसे रहल आय, जिवका मरन कहु कहाँ समाय।
ताकर जो किछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहब लाज।
हर हरषित सों कहल भेव, जहाँ[२] हम तहाँ दुसरो न केव।
दिना चार मन धरहू धीर, जस देखैं तस कहैं कबीर।

टि०—[काशी सेवन-विधि]

"काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस शिष्टाचारानुमित आर्थवादिक श्रुति की प्रमाणता से 'काशी में केवल शरीर परित्याग मात्र से मुक्ति-लाभ हो जाता है' ऐसा विश्वास रखने वाले अधिकतर साधारण बुद्धि के लोग मुक्ति के लिये काशी-वास करते हुए मुक्ति को सुलभ समझ कर मुक्ति के साधनों का तिरस्कार करके यथेच्छाचारी हो जाते हैं। इस प्रकार उक्त श्रुति के दुरुपयोग कारियों के अत्याचारों को देखकर व्यथित हृदय होते हुए कबीर साहब शिव महाराज को सम्बोधित करके कहते हैं कि आप अपनी प्रजा का नियन्त्रण करिये और उक्त श्रुति के रहस्य को समझाइये जिससे कि लोग अन्ध विश्वास के कारण अनर्थकारी न बनें। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी काशी की दुर्दशा देख कर उसके राजा शिवजी से [कवितावली में) इस प्रकार प्रार्थना की है

"गौरी नाथ भोलानाथ भवत भवानी नाथ,
विश्वनाथ-पुर फिरी आन कलिकाल की।
संकर से नर गिरिजासी नारी कासीबासी,
बेद कही सही ससिसेखर कृपाल की॥

छ मुख गनेस ते महेस के पियारे लोग,
बिकल बिलोकियत नगरी बिहाल की।
पुरी सुर-बेलि केलि काटत किरात कलि,
निठुर निहारिये उघारी डीठि भाल की" ॥ १६९ ॥

इत्यादि

अर्थ—१–यहाँ पर निरभय तोर, ऐसा पाठान्तर है। सबही प्रकार के काशीवासी यह समझ कर निर्भय हो रहे हैं कि 'हमारी मुक्ति अवश्य हो जायगी" उनकी यह मिथ्याधारणा देखकर सत्यवार्ता को बार २ कहने के लिये मेरा चित्त ढीठ होगया है। अथवा आप से निवेदन करने की मैं यह ढिठाई कर रहा हूँ। २—'शरीर की पंचत्व प्राप्ति के अनन्तर जीवात्मा कहाँ जाकर रहता है' ? इस-प्रश्न के उत्तर में सभी महात्माओं ने एक रूप से यही कहा है कि 'सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'। 'अन्तेमतिः सा गतिः'। भाव यह है कि काशी वास करते हुए भी अपने शुभाशुभ संस्कारों के अनुसार जो मनुष्य जैसे कर्म करते हैं अन्त में उनकी वैसी ही गति होती है, क्योंकि 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा'। यह सनातन—घोषणा है। इस कारण "ताकर जो किछु होय अकाज; ताहि दोष नहिँ साहब लाज'। अकाज=कुगति। विशेषवक्तव्य—वस्तुतस्तु 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस श्रुति के अनुरोध से 'काशी मरणान्मुक्तिः' इस श्रुति गत पञ्चमी का प्रयोजकत्व अर्थ ही सर्वसम्मत है। अर्थात् पुण्य धाम होने के कारण चित्त शुद्धि, सुलभ-सत्सङ्ग और श्रवणादिक से काशीवास ज्ञान द्वारा मुक्ति में सहायक है, केवल मरण से मुक्ति का दाता नहीं। इस

विषय पर दिनकरभट्टाचार्य ने भी मंगल वाद में अच्छा प्रकाश डाला है "' अथ तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुत्या तत्वज्ञानस्य मुक्तिसामान्यं प्रति हेतुत्वं प्रतिपादितं तच्च काशीमरणस्य मुक्तिहेतुत्वे न सम्भवति काशीमरणजन्यमुक्तौ तत्वज्ञानस्य व्यभिचार प्रसङ्गादतः काशीमरणस्य न मुक्तिजनकत्वमपितु तत्वज्ञानद्वारा मुक्ति प्रयोजकत्वमेवेति "। किञ्च—' अतएव काशीमरणस्य तत्वज्ञानेन मुक्ता वन्यथासिद्धत्वात्प्रयोजकत्वपरतया श्रुतिसमर्थनं संगच्छते '। ठीक ही है 'का कासी का मगहर ऊषर हृदय राम बस मोरा, जो काशी तन तजै कबीरा रामहिं कवन निहोरा '। ज्ञानियों का तो ऐसा ही निश्चय है। ३—सिव माते हरि चरण सेवं ' इसके अनुसार राम भक्तों की दृष्टि केवल रामचरणों पर ही रहती है। कबीर साहब कहते हैं कि जैसी वस्तुस्थिति है वैसाही मैं कह रहा हूँ। थोड़े दिनों में (अन्त–समय) आप लोगों को भी अवगत हो जायगा।

(१२)

हमरे कहल के नहिँ पतियार, आपु बुड़े नल सलिल धार।
अंध कहै अंधा पतियाय, जस बिसुवा[1] के लगन धराय।
सोतो कहिये ऐसो अबूझ, खसम[2] ठाढ ढिंग नाहीं सूझ।
आपन[3] आपन चाहैं मान, झूठ प्रपञ्च साँच करि मान।
झूठा[4] कबहुँन करिहै काज, हौं बरजौं तोहि सुनु नीलाज।
छांड़हु पाखँड मानहु बात, नहिँ तो परबहु जमके हाथ।
कहँहिँ कबिर नल कियहु न खोज, भटकि मुवलजसबनकेरोझ।

टि०—(प्रबोधन)

मल = अनात्मोपासक नर । अन्ध = अविवेकी । १—वेश्या का विवाह होरहा है यह वचन व्याहत (विरुद्ध) है । २—"पास खड़ा तेरे नजर न आवे महबूब पियारा बे,। ३—वञ्चक गुरु 'घर घर मंतर देत फिरतु हैं महिमा के अभिमाना' । ४ –सच्चे का तो यह लक्षण है कि जैसी कहै करै पुनि तैसी रागद्वेष निरुवारे, तामें घटे बढ़े रतियो नहिं यहि विधि आपु सँभारे । कहँहिं कबिर जेहि चलत न दीसे तासु बचन का लीजै । 'रोझ' नीलगाय । खोज = आत्मपरिचय ।

चाचर

(१)

खेलति[1] † माया मोहनी जिन्ह, जेर कियो संसार ।
रचेउ रंगते चूनरी[2] कोइ, सुन्दरि पहिरे आय ।
सोभा अद्‌बुद रूपकी, महिमा बरनि न जाय ।
चंद बदनि मृगलोचनि माया, बुंदका[3] दियो उघार ।
जती सती सभ मोहिया, गजगति[4] (ऐसी) वाकीचाल ।
नारद[5] को मुख मांडिके, लीन्हो बसन * छिनाय ।

---

† छन्द हरिपद और दोहा आदिक ।

पाठा०—* ख पु, बदन ।

गरब गहेली गरबते, उलटि चली मुसुकाय।
सिवसन ब्रह्मा दौरिके, दूनौ पकरे जाय।
फगुवा लीन्ह छुड़ायके, बहुरि दियो छिटकाय।
अनहद[६] धुनि बाजा बजै, स्रवन सुनत भौ चाव।
खेलनि हारा खेलि है, जैसी वाकी दाव।
ज्ञान-ढाल[७] आगे दियो, टारे टरै[६] न पांव
खेलनि हारा खेलि हैं, बहुरि न ऐसी दाव।
सुर नर मुनि औ देवता, गोरख दत्ता व्यास।
सनक सनन्दन हारिया, और कि केतिक बात।
छिलकत[८] थोथे-प्रेमसों, धरि पिचकारी गात।
कै लीन्हौ बसि आपने, फिरि फिरि चितवत जात।
ज्ञान[१] गाड़ ले रोपिया, तिरगुन दियो है साथ।
सिव सन ब्रह्मा लेन कहो है, और कि केतिक बात।
एक ओर सुर नर मुनि ठाड़े, एक अकेली आप।
दिष्टि परे उन काहु न छांड़े, कै लीन्हौ एक धाप।
जेते थे तेते लिये, घूँघट[१०] मांहि समोय।
काजरवा की रेख है, अदग गया नहिं कोय।
इंद्र क्रिस्न द्वारे[११] खड़े, लोचन ललचिन चाय।
कहँहिं कबीर ते ऊबरे, जाहिँ न मोह समाय।

संवर्णिते 'चाचर' संज्ञकेऽद्रे
पद्ये प्रबोधाब्धिनिभानवद्ये ।
आनन्दशीतांशुजनौ निदाने-
तस्मात्कबीराद्धि परं न जाने ॥

टि०—(माया का फगुवा खेल)

१—'चाचर' एक प्रकार फगुवा या फाग होली का खेल होता है। उक्त खेल में स्त्री और पुरुष दो दलों में विभक्त होकर जय और पराजय की अभिलाषा से पिचकारी और डोलचियों से परस्पर प्रतियोगिता से समधिक जल क्रीड़ा करते हैं। इस पद्य में उक्त खेल का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। 'माया ने सारे संसार को अपने अधीन कर लिया' इस-भाव-पट पर यह कैसा विचित्र चित्र खींचा गया है। रूपक का आकार यह है कि एक ओर तो विश्वविजयिनी मोहनी माया संनद्ध होकर खड़ी हुई है और दूसरी ओर ब्रह्मादिक प्रमुख-देवताओं को आगे करके सारा ही संसार आनन्द क्रीड़ा के लिये आगे बढता चला जा रहा है जेर=अधीन। २—माया ने विषय सौन्दर्य्य रूपी चटकीली और भड़कीली चुनरी ओढ रक्खी है। ३—और विपयानुराग रूपी बिन्दी (टिकुली) से सुशोभित मुख मण्डल को उघाड़ रक्खा है। ४—भाव यह है कि माया धीरे २ सबों को अधीन कर लेती है। ५—इसी गरबीली माया ने शील-निधि राजा की कन्या बन कर नारद जी का मुख बानर का बनवा दिया था। सन=जैसे। ६—इस मायिक चाचर में अनहद ध्वनिरूप बाजे बजते हैं जिन को सुन सुन कर योगियों का चित्त अधिक-अभ्यास के लिये ललचाता है। ७—जो ज्ञानरूपी ढाल से सुरक्षित होकर दृढ़ता के साथ माया के सम्मुख होगा वह अवश्य विजयी होगा। ८—माया का बनावटी

(दिखाऊ) प्रेमसागर सदैव उछलता रहता है। और यह कटाक्ष वीक्षण के साथ साथ धीरे धीरे प्रेम की पिचकारी चलाती हुई सबों को वश में कर लेती है। ९—फगुवा के खेल में स्त्रियाँ घुले हुए रंग से भरे हुए हौज में पुरुषों को खड़े करके फूल मालाओं से हाथ बान्ध देती हैं, यह भाव यहाँ पर दिखाया गया है। यहाँ डोंग' ऐसा पाठान्तर है। गाड=गड्हा (हौज)। त्रिगुणात्मक-माला से माया ने ब्रह्मादिकों को भी बान्ध दिया, औरों की तो कथा ही क्या है। एक-धाप=एक डेग। एक ही आक्रमण से परास्त कर दिया। १०—'सबों के मनों को आकर्षित करके माया स्वयं अन्तर्हित हो जाती है, यह भाव 'घुंघट-पट' के गिराने के वर्णन से दिखाया गया है। चाचर में स्त्रियां पुरुषों के मुख पर काजल लगाती हैं। भाव यह है कि माया ने सबों को कलङ्कित किया है। ११—माया-मन्दिर के द्वार पर खड़े हुए इन्द्रादिकों के लोचन दर्शनों के लिये तरस रहे हैं। कबीर साहब कहते हैं कि इस त्रिलोकी विजयिनी माया को वही जीत सकता है जो कि मोहावरण (बन्धन) से रहित है।

(२)

जारहु जगका नेहरा, मन बौरा हो।

जामें सोग संताप, समुझु मन बौरा हो।

तन धन सों का गर्वसी, मन बौरा हो।

भसम-किरिमि[1] जाकि साज, समुझु मन बौरा हो।

बिना नेवका[2] देव घरा, मन बौरा हो।

बिनु कहगिल की ईंट, समुझु मन बौरा हो।

कालबूत की हस्तिनी, मन बौरा हो।

चित्र रचो जगदीस, समुझु मन बौरा हो।

काम अन्ध गज बसि परे, मन बौरा हो।

अंकुस सहियो सीस, समुझु मन बौरा हो।

मरकट मूठी स्वाद को, मन बौरा हो।

लीन्हौं भुजा पसारि, समुझु मन बौरा हो।

छूटन की संसय परी, मन बौरा हो।

घर घर नाचेउ द्वार, समुझु मन बौरा हो।

ऊँच नीच जानेउ नहीं मन बौरा हो।

घर घर खायउ डाँग, समुझु मन बौरा हो।

जौं सुवना ललनी गह्यो, मन बौरा हो।

ऐसो भरम बिचारु, समुझु मन बौरा हो।

पढ़े गुने का कीजिये, मन बौरा हो।

अन्त बिलैया खाय, समुझु मन बौरा हो।

सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो।

जौं आवै तौं जाय, समुझु मन बौरा हो।

नहाने को तीरथ घना, मन बौरा हो।

पूजन को बहु-देव, समुझु मन बौरा हो।

बिनु पानी नल बूड़ि हो, मन बौरा हो।
　　(तुम) टेकेहु राम जहाज, समुझु मन बौरा हो।
कहँहि कबीर जग भरमिया, मन बौरा हो।
　　तुम छांडेहु हरि की सेव, समुझु मन बौरा हो।

टि०—(धोखे की टट्टी)

१—'जारे देह भसम होय जाई, गाड़े क्रिमिकिट खाई'। २—यह शरीर बिना नेंव का देवालय है अर्थात् आशु विनाशी है। "जीवो नारायणो देवो देहो देवालयः स्मृतः'। और माया बिना 'कहगिल' (गिलावा) की ईंट है। अर्थात् अचिरस्थायिनी है। और यह विषय रचना 'काल बूत की हस्तिनि' (नकली हथिनी) के समान है। बिलैया = माया। ३—असार-संसार से प्रेम करने वाला सूने घर में आये हुए मेहमान के समान है जो कि प्यासा आता है और प्यासा ही चला जाता है। ४—अज्ञानियों की दृष्टि में मुक्ति के निमित्त नहाने और पूजने के लिये अनेक तीर्थ और अनेक देवता हैं; अतः 'राम-जहाज' (आत्म-परिचय) के आरोहण से वंचित रह कर उक्त मिथ्या समुद्र (अध्यास) में डूब जाते हैं। ५—कबीर साहब कहते हैं कि ऐ अज्ञानियों! तुम्हारा मन बौरा गया (पागल हो गया) है, अतएव तुम लोग हरि (आत्मदेव) की सेवा को छोड़ कर भूतों (अनात्मप्रपञ्च) की सेवा करने लग गये। सुनो! 'भूतानि यान्ति भुतेज्याः' के अनुसार तुम लोग अन्त में भूत ही हो जाओगे। 'दिव्यं वर्षसहस्रं हितिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः' (सांख्य कारिका)

बेली

(१)

हंसा[1] सरवर[†] सरीर में, हो रमैया राम।
जागत चोर घर मूसै हो, रमैया राम।
जो जागल सो भागल हो, रमैया राम।
सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम।
आजु बसेरा नियरे हो, रमैया राम।
काल बसेरा (बड़ि) दूरि, हो रमैया राम।
जैहों बिराने देस हो, रमैया राम।
नैन भरहुगे धूरि हो, रमैया राम।
[2]त्रास-मथन दधिमथन कियो हो, रमैया राम।
भवन मथेउ भरि पूरि, हो रमैया राम।
फिरि (कै) हंसा पाहुन भयो हो, रमैया राम।
बेधि न पद निरबान, हो रमैया राम।
तुम हंसा मन मानिक हो, रमैया राम।
हटलो न मानेहु मोर, हो रमैया राम।
जसरे कियहु तस पायहु हो, रमैया राम।
हमरे दोष जनि देहु, हो रमैया राम।

---

† छन्द 'उपमान'।

अगम[३] काटि गम कीयहु हो, रमैया राम ।

सहज कियहु बैपार, हो रमैया राम ।

रामनाम धन बनिज कियहु हो, रमैया राम ।

लादेहु वस्तु अमोल[४], हो रमैया राम ।

पाच[५] लदनु (वां) लादी चले हो, रमैया राम ।

नौ वहिया[६] दस गोनि[७], हो रमैया राम ।

पाँच लदनुवाँ खागी[८] परे हो, रमैया राम ।

खाँखरि डारिनि फोरि, हो रमैया राम ।

सिर धुनि हंसा उड़ी चले हो, रमैया राम ।

सर-वर मीत जोहारि, हो रमैया राम ।

आगि जो लागी सरवर में हो, रमैया राम ।

सरवर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम ।

कहँहिं[९] कबिर सुनु सन्तो हो, रमैया राम ।

परखि लेहू खरा खोट, हो रमैया राम ।

त्रिलोकशोकदायिनी ह्यचिन्त्यरूपमायिनी ।

प्रपञ्चवीचि 'वल्लरी' सुविश्ववृक्षफल्लरी ॥

सुवर्णिता हिताहिता मितामिता रतारता ।

कबीरधीर माश्रये गुरुं वरं चिदात्मकम् ॥

टि०—(हंसोद्बोधन चेतावनी)

१—ऐ हंस ! ऐ रमैया-राम ! जीवात्मा ! (विवेकी) तेरे देखते हुए यह पश्यतोहर मन रूपी तस्कर तेरे शरीर (हृदय) रूपी सरोवर में से तेरे जीवन दायक ज्ञान और विवेकादिक महर्घ मोतियों को चुरा रहा है। और तेरे ऊपर भी संशय रूपी छुरी चला रहा है, ('हंसा संसय छुरी कुहिया') अतः तू सचेत होजा। 'आजु' नरतन के रहते हुए। 'बसेरा नियरे' मुक्ति मिल सकती है। 'काल' चौरासी में जाने पर। २—तुम्हारे हृदय में दधि के मथन की तरह त्रास से मथन (भय-विकलता) सदैव होता रहता है (और तुमने नाना भोगों की इच्छा से बार २ जाकर स्वर्गादिक भवनों को भी पूरी तरह मथ डाला। 'निरबान पद' मुक्ति। ३—ज्ञान हीन रामनाम के उपासकों की दशा का वर्णन—सर्व हृदय निवासी प्रत्यक्ष राम को छोड़ कर साकेत विहारी अगम-राम की प्राप्ति के लिये बड़ी श्रद्धा और भक्ति से राम-नामोपासनादिक किया। ४—यह सौदा बहुत अच्छा है परन्तु बिना समझे किया है यही भारी न्यूनता है। ५—पंच तत्व (शरीर) ६—नव नाड़ी ७—दश इन्द्रिय रूपी गौन = (अन्नादिक भरन का बोरा) ८—गढ़े में जा गिरे। शरीर पात होगया। खांखरी = खोपरी। ६—कबीर साहब कहते हैं कि आप लोग उक्त नाम और नामी के व्यापार में होने वाली हानि और लाभ को खूब समझ लीजिये भाव यह है कि बिना ज्ञान के किया हुआ नामोपासना का सौदा उक्त गोणी के साथ ही चला जाता है 'ढोला फूटा बोला गया'। और नामी का सौदा नामी के साथ रहता है। 'कहँहिं कबिर जन भये विवेकी जिन जंत्री से मन लाया'। साखी—'नाम न लिया तो का हुआ, जो अन्तर है हेत। पतिवरता पति को भजे, कबहुं नाम नहिं लेत'।

(२)

भल सुम्रिति[1] जहँडायहु हो, रमैया राम।
धोखे किय बिसवास, हो रमैया राम।
सो तो है बन-सीकसी[2] हो, रमैया राम।
सेर * कियहु बिस्वास, हो रमैया राम।
ई तो है बेद भागवत हो, रमैया राम।
गुरु[3] दीहल मोहि थापि, हो रमैया राम।
गोबर-कोट[4] उठायहु हो, रमैया राम।
परिहरि जैबहु खेत, हो रमैया राम।
मन[5] बुधि × जहाँ न पहुँचे हो, रमैया राम।
तहाँ खोज कस होय, हो रमैया राम।
सो सुनि मन धीरज भयल हो, रमैया राम।
मन बढि रहल लजाय, हो रमैया राम।
फिर[6] पाछे जनि हेरहु हो, रमैया राम।
काल[7] बूत + सब आहि, हो रमैया राम।
कहँहि कबिर सुनो सन्तो हो, रमैया राम।
मन बुधि ÷ ढिग फैलावहु, हो रमैया राम।

पाठा०—*सोरे। × क० पु० बुधिबल। + काल भूत। ÷ मति ढिग।

टि०—[जीवोद्बोधन (चेतावनी)]

१—स्वार्थ साधक वञ्चकों के प्रक्षिप्त 'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये नच मैथुने' इत्यादि अनर्थकारी स्मृति-वचनों तथा नूतन कल्पित नाना स्मृतियों के जंगल में तुम भटक गये। २—ये कौल-कुल विनिर्मित 'वाम तन्त्रादि' स्मृतियां सन्मार्ग-रहित निर्जन और भयंकर वन हैं। सीकस = शून्य प्रदेश। 'सीकस बोइन धाने' यदि 'बंसी कसी' ऐसा पाठ हो तो यह अर्थ है कि उक्त स्मृतियां दृढ़ और तीक्ष्ण बंसी के समान हैं जो कि अज्ञानी मछलियों के प्राण की गाहक है। 'रे' उन मिथ्या स्मृतियों का 'र' यह नीच संबोधन है। ३—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'! इस कथन के अनुसार सद्गुरु ने मुझको त्रिगुण मत और पथ से हटाकर त्रिगुणातीत 'निजपद' पर स्थापित कर दिया है। ४—ऐ देहात्म वादियो! तुमने जिस शरीर को सर्वस्व 'तत्व' समझ रक्खा है वह तो मलादिक गोबर का कोट (रक्षा के लिये लगाई हुई दीवार वगैरह) है। एक दिन ऐसा होगा कि वह (तुम) खेत (श्मशान) में फेंक दिया जायगा। खेत शब्दश्लिष्ट है। ५—नाना कल्पित पदार्थों में संयम करने वालों को उपदेश। ६—गुरु पद से विचलित होकर। ७—नकली (मिथ्या) ८—'दिल महँ खोजु दिलहि में खोजो यहैं करीमा रामा'।

बिरहुली[1]

(१)

[2]आदि अंत नहिं होत बिरहुली * नहिँ जरि पलौ पेड़ बिरहुली।
निगु बासर नहिँ होत बिरहुली * पवनपानि नहिँ मूल बिरहुली।
[3]ब्रह्मादिक सनकादि बिरहुली * कथिगेल जोग अपार बिरहुली।
मास असाढ़े सितलि बिरहुली * बोइनि सांतों बीज बिरहुली।
[4]नित कोड़े नित सिंचे बिरहुली * निति नव पलौ पेड़ बिरहुली।
छिछिलिबिरहुलीछिछिलिबिरहुली*छिछिलिरहलतिहुंलोकबिरहुली।
[5]फूल एक भल फुलल बिरहुली * फूलि रहल संसार बिरहुली।
से फुल लारें संत (जना) बिरहुली * बंदिक राउर जाँहिं बिरहुली।
से फुलबंदहिं भक्त (जना) बिरहुली * डसिगैलबैतल सांपबिरहुली।
[6]विषहर मंत्र न मानै बिरहुली * गारुड़ बाले अपार बिरहुली।
विष कि कियारी बोयहु बिरहुली * लोढ़तका पछताहु बिरहुली।
[7]जनम जनम जमअंत(र) बिरहुली * फलएककनयरडार बिरहुली।
कहँहिँ कबिरसँचुपाव(हु) बिरहुली * जो फल चाखहुमोरबिरहुली।

'बिरहुलि' रतिचण्डा गारुडी मन्त्रविद्या।
विषमविषविमोके भोगिनः कालशत्रोः॥
निजजनपरिरक्षाकारिणी येन सृष्टा।
गुरुवरविषवैद्यं तं कबीरं स्मरामि॥

टि०—[तत्वोपदेश—गारुडमन्त्र]

१—उक्तरूप से मन आदिक असत्यपुरुषों की उपासना करने वाले अज्ञानी लोग निजदेव (सत्यपुरुष, आत्मदेव) के विरही बन गये, इससे उनको । ' बिरहुली ' । कहा है और ' बिरहुली ' यह गारुड मन्त्र का प्राकृत नामान्तर भी है । ' विषय वाटिका में लगी हुई काम केतकी के प्रेमियों को मनरूपी भुजंगम डस लेता है । उक्त विषधर का विष ऐसा विकराल है कि वह गुरुगारुडी के मंत्र के बिना अनेक प्रयत्न करने पर भी कदापि नहीं उतर सकता है ' यह भाव इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है । २—मनरूपी सर्प के डस लेने पर जिज्ञासुजन विकल होकर इस प्रकार सद्गुरु को पुकारते हैं–'मन–भुजङ्ग डस्यो मेरि काया, एक दुख व्यापे दुजी दारुण माया । गुरु मेरे गारुडी मैं विषके हो माता, अबके उबारो गुरु समरथ दाता' । हृदयतल से निकली हुई इस करुणा पूर्ण वाणी को सुनते ही परमदयालु सद्गुरुगारुडी विकल–जिज्ञासु के विष को दूर करने के लिये अपना तत्वोपदेश रूपी गारुड–मंत्र इस प्रकार सुनाने लगते हैं; 'आदि अन्त नहिँ होत बिरहुली' इत्यादि ।

अर्थ—हे बिरहुली ! तुम इस मेरे मंत्र को हृदय में धरलो कि, अनादि अनन्त और अखंड होने के कारण निजपद गुरुपद या आत्मपद (रमैया-राम) का न आदि है न अन्त । निरवयव होने के कारण न उसकी जड़ है न शाखा और पत्ते । स्वयं प्रकाश होने के कारण आत्म देश में न दिन है न रात । अभौतिक होने के कारण न उसमें पवन है न पानी । ३—उक्त पद की प्राप्ति के लिये ब्रह्मादिकों ने क्रमशः कर्म और उपासनादिकों का विधान किया है । ' आत्मावाइदमेकएवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चन-मिषत् । स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति ' इस ऐतरीय श्रुति के अनुसार सृष्टि के आरम्भकाल रूप आषाढ़ मास में यह जीवात्मा तथा प्रकृति स्थूल

प्रपञ्च रूप विकार के ताप से रहित होने के कारण शीतल सी थी। अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने के कारण 'गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूवह' इत्यादि श्रुति के अनुसार बुद्धितत्व अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा रूपी सातों बीज प्रकृति क्षेत्र में [जीवात्मा रूपी किसान ने] बोये।

सूचना—आदि मंगल में बताई हुई साम्प्रदायिक, सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार यह अर्थ है कि पहले आदि पुरुष (चेतनधनी) को स्फुरण हुआ, पश्चात् ' मूल सुरति ' (वृत्ति) और ' इच्छा ' सुरति आदिक सात सुरतियाँ उत्पन्न हुई; अनन्तर कारणीभूत सात सात सुरतियों से भूत भौतिक क्रम से सृष्टि का निर्माण हुआ। यह सन्त मत की प्रक्रिया है। इस स्थल पर योग और उपासना की प्रक्रियाओं के अनुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं। ४—उक्त बीज बोने के अनन्तर सदैव नाना मतों की कल्पना और अहङ्कार रूपी कोड़ने (खोदने) और सींचने से प्रपञ्च वल्ली दिनों दिन लहलहाती हुई बढ़ती ही चली गयी। प्रपञ्चलता ने तो बढ़ने में वामनभगवान् के चरण को भी परास्त कर दिया, यह तो फैलते २ तीनों लोकों में फैल गई। 'तीन लोक में है जमराजा, चौथे लोक में नाम निशान'। ५— बीजाङ्कुर न्याय से उक्त प्रपञ्चलता में मन रूपी एक अनोखा फूल लगा हुआ है। वह फूल इतना विराट् है कि उसने सारे संसार-सागर को ढांक लिया है। 'जल थल में हों रमि रह्यो मोर निरञ्जन नाउँ'। समष्टि-मनोऽभिमानी चेतन का नाम निरंजन है। सन्तजन उस (मनरूपी) फूल को प्रपंच रूपीलता से तोड़कर (लोरकर) आत्मपद पर चढ़ा देते हैं इस कारण वे मुक्त हो जाते हैं। और सकामी भक्त उस फूल को अपने माथे पर रख लेते हैं। इस कारण उसमें छिपा हुआ काम रूपी बावरा सर्प उनको काट लेता है। ६—'कुसुम शरनिपातजर्जरितहृदये हि गजल्युरदेष्टम्' उस बाण भट्ट के कथनानुसार

काम—विकल उक्तजन विषय विष को हरण करने वाले सद्गुरु के तत्वोपदेशरूपी गारुड मंत्रको नहीं सुनता है और नहीं मानता है; अतः उसका विष कैसे दूर हो सकता है। अथवा उस विषहर=सर्प के आगे साधारण मंत्र नहीं चलते। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारी भी ठीक वही दशा है। 'मनको मारौं पटक के टूक २ ह्वै जाय। विष की क्यारी बोयके लुनते क्यों पछताय'। ७—'अबतोर होव नरक में बासा। निसिदिन रहेहु लबार के पासा' अब सदैव जम के अधिकार में रहोगे। तुम्हारी प्राण रक्षा का एकही उपाय है 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्' इसके अनुसार मेरे उपदेश को मान कर तुम अपने आप अपने को बचालो। कबीर साहब कहते हैं कि मेरे लगाये हुए कनयल की डाल में एक सुन्दर फल लगा हुआ है। यदि तुम उसको खोलोगे तो परम सुख पाओगे। भाव यह है कि रोचक वाणी से जीवात्मा भवचक्र में घूमता है, और यथार्थवाणी को सुन कर ज्ञानोदय से मुक्त हो जाता है। रोचक वाणी फूल की माला की तरह प्रिय होती है। और यथार्थवाणी 'जहरकनयल' की डाल की तरह कड़वी होती है। जिस प्रकार सफेद कनयल के फल और उसकी जड़ को घोट कर पिलाने से सर्प का विष दूर हो जाता है (यह प्रसिद्ध है) इसी प्रकार कड़वी किन्तु यथार्थवाणी के सुनने से मन के विकार रूपी विष भी दूर हो जाते हैं। यही यथार्थवाणी 'बिरहुली-मंत्र' है। 'मता हमारा मंत्र है, हमसा होय सो लेय। सब्द हमारा कल्पतरु, जो चाहै सो देय'। सूचना-जिन यथार्थ (कड़वी) वाणियों के द्वारा पाखंड-विखंडन किया गया है उनका उल्लेख 'वेद कितेब दोउ फन्द पसारा। तेहि फन्दे परु आप विचारा। जिन दुनियाँ में रची मसीद। झूठे रोजा झूठी ईद' इत्यादि पद्यों से विस्तार पूर्वक (पहले) कर चुके हैं।

हिंडोला[1]

(१)

भरम-हिंडोला ना, झूलै सभ—जग आय।
    पाप—पुन्न[2]† के खंभा दोऊ, मेरु[3] माया माँह।
लोभ मरुवा[4] विषै भँवरा[5], काम कीला[6] ठानि।
    सुभ असुभ बनाय डांडी[7], गहैं दोनों पानि।
करम-पटरिया[8] बैठिके, को कोन झूलै आनि।
    झुलै तो गन गंधर्प मुनिवर, झूलै सुरपति इंद।
झुलै तो नारद सारदा, झूलै व्यास फनींद।
    झुलै बिरंचि महेस सुक-मुनि, झूलै सूरज-चंद।
आपु निरगुन सगुन होय के झूलिया गोबिंद।
    छव चारि चौदह सात इकइस, तीनि लोक बनाय।
खानि बानी खोजि देखहु, थिर न कोउ रहाय।
    खँड ब्रह्मँड खट-दरसना[9], छूटत कतहों नाहिं।
साधु सन्त! बिचारि देखहु, जिव निस्तर कहँ जाहिं।
    ससि सुर रयनी सारदी तहां, तत्त-पलौ[10] नाहिँ।

---

† छन्द रूपमाला और हरिपद आदिक।

काल अकाल परलै नहीं, तहाँ सन्त बिरले जाहिं।

तहँ (के) बिछुरे बहु कलप बीते, भूमि परे भूलाय।

साधु संघति खोजि देखहु, बहुरि उलटि समाय।

यहि झुलबेकी भय नहीं, जो होंहि संत सुजान।

कहँहिं कबिर सत सुकित[११] मिले तो, बहुरि न भूलै आय।

अमात्मिका भूतमनोगता या।

देवादिविभ्रान्तकरी निगूढ़ा॥

'आन्दोलिका' येन तनो विमुक्त्या।

उक्ता गुरुं तं सततंस्मरामि॥

टि०—[भ्रम का झूला]

१—इस प्रकरण में भ्रमरूपी झूले का रूपक दिखाया गया है 'अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परंपदम्' इस सिद्धान्त वाक्य के अनुसार ब्रह्मादिक सम्भावित-देवता और रामादिक अवतार बाधितानुवृत्या अथवा तत्वतः स्वाधिकार परिरक्षण के लिये भोगप्रद कर्मों को किया करते हैं। और यह भी नियम है कि कर्मोद्यान अध्यास कुल्याप्रवाह के बिना कदापि सरस नहीं रह सकता है; इसी तत्वाधार शिलापर ये तीनों पद्य-मन्दिर सुस्थिर हैं। २—खुले मैदान में डाले हुए झूले के लिये दो खंभे गाड़े जाते हैं; तदनुसार इस प्रकृत—भ्रम हिंडोले के भी अङ्ग भूत धर्म्म और अधर्म रूपी दो स्तम्भ हैं। भाव यह है कि प्राक्तन-अध्यास-परतंत्र-मनुष्य धर्मा-धर्मानुष्ठान किया करते हैं। अधर्म की तरह धर्म भी शुभ फलों के द्वारा बन्धन कारक ही है। 'कहैं कबिर ये दोनौं बेरी, कोइ लोहा कोइ सोना केरी'। ३—पूर्वोक्त दोनों खंभों के बीच में माया रूपी 'मेरु' (बीच की

लकड़ी) लगा हुआ है। भाव यह है कि दृष्टान्तानुसार भ्रम झूला केवल माया पर अवलम्बित हैं। ४—उक्त झूले में लोभ रूपी दो मरुवे (लकड़ी के भारी भारी लट्टू) लगे हुए हैं। भाव यह है कि फल-तृष्णा से सकाम कर्म किये जाते हैं। ५—और उक्त झूले को स्वच्छन्द घुमाने वाले विषय रूपी भँवरे (लोहे की भवँर कड़ी) लगे हुए हैं। ६—और उसमें काम (कल्पना) रूपी कीले (लोहे के कीले) लगे हुए हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार बिना भँवरे मरुवे और कीले के झूला नहीं ठहर सकता है। इसी प्रकार अध्यास रूपी प्रकृत-झूला भी भोग तृष्णा और अनन्तानन्त कल्पनाओं पर ही निर्भर हैं। 'काम काम सब कोई कहैं, काम न चीन्है कोय। जेती मनकी कल्पना, काम कहावैं सोय'। (कबीर-साखी) ७—आवागमन शुभाशुभ कर्मों के अधीन है। ८—नाना कर्मानुष्ठान रूपी पटरी पर बैठने वाला ही उक्त झूले की 'बहार' ले सकता है। जो जो बैठा सो सो झूला। फनीन्द्र=शेष। 'छव' (शास्त्र) 'चार' (वेद) 'चौदह' (विद्याएं) 'सात' (द्वीप) 'इकइस' (भुवन) 'खानी' (योनि) 'बानी' (बचन)। ९—छः वेष धारी लोग। 'जोगी जंगम सेवड़ा संन्यासी दरवेस। छठये कहिये ब्राह्मण छव-घर छः उपदेस'। १०—माया, के सादि पक्ष से स्वरूप स्थिति का बिचार। 'तत्त—पलौ' भूत-भौतिक प्रपंच रूपी पलव अस 'तरु' रूपी करीर--तरु में नहीं हैं। ११-सत्य-पुरुष (आत्म देव, निज-देव)।

सूचना—सत्य पुरुष, कबीर साहब, और धर्मदासजी साहब के स्व सम्प्रदाय प्रसिद्ध क्रमशः वे नाम हैं। सत्यनाम सत्य-सुकृत-आदि अदली अजर और अचिन्त्य-पुरुष। करुणामय, कबीर, सुरति जोग-सन्तायन और ज्ञानिजी। धनी-धर्मदास, सुकृत, धर्म, और धर्मिनि,। कबीर पन्थी

ग्रन्थों में सर्वत्र उक्त व्यक्तियों को कहने के लिये इन्ही नामों का प्रयोग किया गया है।

(२)

बहुँविधि-चित्र बनाय के हरि, रच्यो क्रीडा-रास।
जाहि न इच्छा झूलबे की, ऐसी बुधि केहि पास।
झुलत झुलत बहु कलप[1] बीते, मन नहिं छोड़ै आस।
रच्यो हिंडोला अहोनिस, (हो) चारि जुग चौमास[2]।
कबहुँ[3] के ऊँच से नीच कबहूँ, सरग भूमि ले जाय।
अति भ्रमत भरम-हिंडोलवा हो, नेकु नहिं ठहराय।
डरपत हौं यह झूलबे को, राखु जादव राय।
कहैं कबिर गोपाल विनती सरन हरि तुम पास।

टि०—[मन-मोहन झूले की रसीली पेंगें]

१—प्रलय। 'संवर्तः प्रलयः कल्पःक्षयः कल्पान्तमित्यपि' (अमर)
२—चातुर्मास्य में झूला डाला जाता है, तदनुसार चारों युगों में रात दिन उक्त कर्म और भ्रम रूपी झूला झूला जाता है। 'नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। क्रियते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' (गीता)
३—जिस प्रकार झूले पर बैठे हुए लोग नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे जाया आया करते हैं, इसी प्रकार उक्त झूले पर बैठे हुए कर्मी और उपासक भी अधोलोक से ऊर्ध्वलोक और ऊर्ध्वलोक से अधोलोक को जाते आते रहते हैं। 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो यान्ति परन्तपः'।

(३)

लोभ मोह के खंभा दोऊ, मनसे रच्यो हिंडोल।
झूलहिं जीव जहान जहांलगि, कितुहुँन देखौं (थित) ठौर।
चतुर झुलहि चतुराइया, झूलहिं राजा सेस।
चांद-सुरज दोउ झूलहिं, (हो) उनहुँ न अज्ञा भेव।[1]
लख चौरासी जीव झूलहिं. रबिसुत धरिया ध्यान।
कोटि-कलप जुग बीतल, अजहुँ न माने हारि।
धरति अकास दोउ झूलहिं, झूलहिं पवना नीर।
देह धरे हरि झूलहिं ठाढ़े, देखहिं हंस-कबीर।[2]

टि०—[उक्त झूले की लोकप्रियता का विचार]

इस पद्य में प्रातिस्विक (प्रतिव्यक्ति भिन्न) मानसिक झूलों का वर्णन है। १ –यम (मन, पारिभाषिक–निरंजन) 'मैं सिरजौं मैं मारऊँ मैं जारौं मैं खाउँ। जल थल मैं ही रमि रह्यो मोर निरंजन नाऊँ'। 'अलख निरंजन लखै न कोई जेहि बन्धे बन्धा सभ कोई'। एकल निरंजन सकल सरीरा। तामें भ्रमि २ रहल कबीरा' इत्यादि (बीजक) 'मनही निरंजन आहि'। निरंजन (मन) के उपासक सबके सब मन-धार में बह गये। ' न आज्ञा भेव ' निरंजन के सर्व मान्यशासन को नहीं टाला। २—साक्षी रूप (मुक्तपुरुष)। भावार्थ—जो सर्वथा मुक्त हैं वे इस (झूले) से भी मुक्त हैं। इति॥

साखी

जहिया जन्म-मुक्ता हता, तहिया हता न कोय।
उठो निहारो हौं जगा, तू कहँ चला बिगोय॥ १ ॥

साक्षी सुचेताश्चितिमात्ररूपः।
संवर्णितो येन नितान्तमेवः॥
अन्वर्थसंज्ञा गुणतस्ततोऽभूत्।
'साखी' ति विज्ञानिगुरुं भजे तम्॥

* टीका *

ये साखियाँ 'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभ मनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः' इस लक्षण के अनुसार कबीर साहब की शिक्षा के सूत्र रूप हैं, अतः अन्यान्य भजनादिक (पद्य) इन्हीं के विस्तृत विवरण रूप हैं' यह कथन अत्युक्ति पूर्ण न होगा। उदाहरणार्थ 'जहिया जन्म मुक्ताहता' इस प्रथम साखी की भाष्यभूत (व्याख्यान) 'तहिया गुपुत थूल नहिँ काया, ताके न सोग ताकि पै माया' यह ७४ वीं रमैनी है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। सूचना—यह धारणा नितान्तही निष्प्रमाण है कि इस स्वल्पकाय 'बीजक' ग्रन्थ में (अथवा अपने २ बीजकों में) जिन २ पद्यों का उल्लेख है केवल वेही कबीर साहब के बनाये हुए हैं, वस्तुतः ये सब (उपलब्ध बीजक) संग्रह ग्रन्थ है, अत एव पद्य-संख्या पाठ क्रम और पाठ भेद आदिकों का होना स्वाभाविक है। क्योंकि बहुत महात्माओं ने इन्हीं का बहुरूप से संग्रह किया था। ऐसि स्थिति में अपने २ स्थानों के पाठों एवं अर्थ—प्रकारों (वैचित्र्य) को सनातन

† छन्द 'दोहा'

या पुरातन सिद्ध करने की चेष्टा करना कहाँ तक उचित है इसको विवेकी जन स्वयं विचार करें। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चिन मिषत। स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषद्, अ० १ खण्ड १ मन्त्र १) 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति' (यजुर्वेदीय) तैत्तिरीयोपनिषद्, अ० २ वल्ली २ मन्त्र ३०। साखी का अर्थ=ऐ जीवात्मा तुम 'जहिया' सृष्टि के पूर्व (स्थूल शरीर के न होने से) शरीराद्य प्राणसम्बन्ध रूप जन्म से मुक्त थे, 'तहिया' उस समय 'हता न कोय' यह कोई भी स्थूल प्रपंच नहीं था। अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने पर तुम्हारी छठी इन्द्रिय मन में 'हौं' 'एकोहं बहुस्यां प्रजायेय' इस प्रकार अनेक रूप होकर प्रकट होने का कर्तृत्वा-हंकार जगा। उक्त इच्छानुसार अब तू अध्यास वश नाना रूप होकर और नाना कल्पना तथा पाखण्डों में पड़कर अपने रूप को तथा आनन्द को 'विगोय' भुलाकर या नष्ट करके मुक्ति के लिये कहाँ चला जा रहा है। सुनो! 'जहाँ जाहु तहँ काटु कसाई'। तथा 'जहँ २ गयउ अपन पौ खोयहु' भाव यह है कि 'स ऐक्षत लोकान्नुसृजा इति' यह श्रुत्युक्त ईक्षण और कामना बिना उपाधि के (शुद्ध में) नहीं हो सकती हैं इससे सिद्ध होता है कि यह जीवात्मा कारणी भूत माया के अनादि होने के कारण अनादि काल से सोपाधिक (भूला हुआ) है। यह वार्ता इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर कही गयी है। 'है बिगड़ायल और को बिगड़ो नाहिं बिगाड़ो' जो है सनातन सोई भूला' इत्यादि एवं "तहिया गुपुत थूल नहिं काया, ताके न सोग ताकि पै माया" इत्यादि कथन से माया भी अनादि ही मानी गयी है। फलतः सृष्टि से पूर्व अशरीरी होने के कारण जीवात्मा जन्मादिक द्वन्द्व से मुक्त था, अत्यन्त मुक्त नहीं। यहाँ पर यह विचारणीय है कि कामना और

अहङ्कार रूप अध्यास ही के कारण जीवात्मा एक से अनेक और अनेक से एक रूप होकर पुनः २ संसरण किया करता है। सापेक्ष होने के कारण एकता का अध्यवसाय ही अनेकता का उद्गम है। "प्रथम एक जो हौं किया भया सो बारह बाट। कसत कसौटी ना टिका पीतल भया निदान"। जब तक पूर्ण परिचय रूप वारि से आत्मोद्यान आप्लावित नहीं होता है तब तक यह एकता और अनेकता का अरहट बराबर चलता रहता है। "भरमक बान्धल ई जग यहि बिधि आवे जाय" अज्ञानेनावृतंज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। स्वसंवेद्य स्वरूप-परिचय का अभिज्ञान भूत कबीर साहब का कथन इस प्रकार है कि 'जाके मुनिवर तप करै वेद थके गुन गाय। सोई देऊँ सिखापना कोई नहिँ पतियाय॥ एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गार। है जैसा तैसा रहै, कहैं कबीर बिचार॥ सूचना—इस साखी का दूसरा अर्थ माया के सादि पक्ष मे है परन्तु वह एक देशी होन के कारण अमान्य है।

सब्द[1] हमार तु सब्द का, सुनि मति जाहु सरक।
जो चाहो निजतत्व का, शब्दहिं लेहु परक्ख॥ २॥
सब्द[2] हमारा आदि का, सब्दै पैठा जीव।
फूल रहनि को टोकरी, घोरे खाया घीव॥ ३॥
सब्द[3] बिना स्नति आँधरी, कहो कहाँ को जाय।

टि०—१ = गुरुवचन। यहाँ पर शब्द पदसे 'तत्वोपदेश' विवक्षित है। 'एक शब्द गुरुदेव का जाका—अनन्त विचार'। तथा 'आदि को उपदेस जाने तासु बेस बाना'। तू उस सब्द का (अधिकारी) है इसलिये 'सुनि मति जाहु सरक्क'। २—गुरु०। हमारे उपदेश को अज्ञानी इस कारण नहीं

द्वार न पावै सब्द का, फिरि फिरि भटका खाय ॥ ४ ॥

[४] सब्द सब्द बहु अन्तरा, (हौ) सार-सब्द-मत लीजे ।
कहँहि कबिर जेहि सार-सब्द नहिं, धृग जीवन सो जीवे ॥५॥

[५] सब्दै मारा गिर परा, सब्दहि छोड़ा राज ।
जिन जिन सब्द बिबेकिया, तिनका सरिगौ काज ॥ ६ ॥

[६] सब्द हमारा आदिका, पल पल करहु याद ।
अन्त फलेगी मांहली, ऊपर की सब बाद ॥ ७ ॥

[७] जिन जिन सम्बल ना कियो, अस पुर पाटन पाय ।
झालि परे दिन अँथये, सम्बल कियो न जाय ॥ ८ ॥

[८] इहाँई सम्बल करिले, आगे विषई बाट ।

मानता है कि उसके हृदय में वंचक गुरुओं के शब्द पैठे हुए हैं । मिथ्या उपदेश के कारण अज्ञानी फूल रखने की टोकरी के समान शुद्ध अपने स्वरूप को भूल कर इस प्रकार दुःख उठाता है, जैसे घी पिलाने से घोड़ा पीड़ित हो जाता है सूचना- घोड़े को घी कम पचता है । मसला—"घी देत घोड़ा नरियाय" । दूसरा यह अर्थ है कि 'घोरा' मठा रूपी माया ने 'घीव' (जीवात्मा) को खा डाला । ३—विना तत्वोपदेश के यथार्थ बोध नहीं होता है 'सुति' वृत्ति । दूसरा अर्थ नादोपासना का परिचायक है । ४—सिद्धान्त पक्ष में सारशब्द=निर्णय वचन । उपासना पक्ष में 'अनाहतशब्द' ५—गुरूपदेश । ६—'अन्ते मतिः सा गतिः' मांहली=अन्तर्वासना । ऊपर की = क्रिया कर्म । ७—ज्ञान प्रधान नरतन पाकर जिन्होंने ज्ञानार्जन नहीं किया वे पशुयोनियों में ज्ञान कैसे पा सकते हैं ? शम्बल=रास्ते का भोजन (ज्ञान या मुक्ति) झालि=अन्धेरा (अज्ञान) 'दिनास्त' (शरीरान्त) ८—मुक्ति के

---

‡ सार छन्द ।

सुरग बिसाहन सब चले, जहँ बनियाला हाट ॥ ९ ॥

जो[9] जानहु जिव आपना, करहु जीव को सार।

जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार ॥ १० ॥

जो[10] जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीर।

पानिप चाहहु आपना पानी माँगि न पाव ॥ ११ ॥

पानि[11] पियावत का फिरो, घर घर सायर बारि।

तृषावन्त जो होयगा, पीवेगा झख मारि ॥ १२ ॥

हंसा[12] मोति बिकानिया, कंचन थार भराय।

जाको मरम न जानई, ताको काह कराय ॥ १३ ॥

हंसा[13] तू सुबरन बरन, का बरनौं मैं तोहि।

अधिकारी मनुष्य ही हैं, देवता नहीं। 'हृद्यपेक्षया मनुष्याधिकारत्वात' (वेदान्तदर्शन) 'शम्बल' मुक्ति। "विषई बाट" स्वर्ग का रास्ता भोगाभिलाषियों का है मुक्तों का नहीं। ९—यदि आत्मा तुम्हारा प्यारा पहुना है तो उसकी (मुक्ति रूप इच्छित भोजनादि द्वारा) 'सार' खातिरदारी (मेहमानी) करिये। क्योंकि ऐसा पहुना फिर न मिलेगा (यह पहुना इसी घर में फिर न आयगा) "फिर न मनुष अवतारा हो। १०—जिसके बल से तुम जीते रहना जानते हो और जिसको अपना सर्वस्व समझते हो वह यही जीवात्मा है, अतः यदि अपनी 'पानिप' मर्यादा चाहते हो तो स्वावलम्बी बनो और दूसरों से पानी भी न मांगो। भावार्थ—वंचकों की वाणी न सुनो। ११—अनधिकारियों को उपदेश नहीं देना चाहिये। 'सायरवारि' ज्ञान-सागर का पानी (उपदेश) १२—विवेकी हंस तत्त्वोपदेशरूपी मोती को चुन लेता है। १३—ऐ हंस यदि तू

तरिवर पाय पहेलि हो, तबै सराहौं तोहि ॥ १४ ॥

१४
हंसा ।तू तो सबल था, हलुकी अपनी चाल ।

रंग कुरंगे रंगिया, किया अवर लगवार ॥ १५ ॥

१५
हंसा सरवर तजि चले, देही परि गौ सून ।

कहँहिं कबीर पुकारि के, तेहि दर तेही थून ॥ १६ ॥

१६
हंस बगु देखा एक रंग, चरे हरियरे ताल ।

हंस क्षीर ते जानिये, बगु उघरे तत काल ॥ १७ ॥

१७
काहे हरनी दूबरी, यही हरियरे ताल ।

लच्छ अहेरी एक मृग, केतिक टारै भाल ॥ १८ ॥

१८
तीनि लोक भौ पींजरा, पाप पुन्न भौ जाल :

सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल ॥ १९ ॥

१९
लोभै जनम गवाँइया, पापे खाया पुन्न ।

साधी सों आधी कहै, तापर मेरा खुन्न ॥ २० ॥

२०
आधी साखी सिरखड़ी, जो निरुवारी जाय ।

उड़कर इस समुन्नत विश्ववृक्ष से पार हो जायगा तब तेरी प्रशंसा करूँगा । १४—तू प्रपंच पङ्क में सन गया । १५—"जहाँ आसा तहां बासा" । १६—सन्त और असन्तों की परीक्षा आचरणों से होती है । १७—जीवात्मा को

का पंडितकी पोथियाँ, राति दिबस मिलि गाय ॥ २१॥

२१
पाँच तत्त का पूतरा, जुगुति रची मैं कीव।

मैं तोहि पूछौं पंडिता, सब्द बड़ा की जीव ॥ २२ ॥

२२
पाँच तत्तका पूतरा, मानुष धरिया नांव।

एक कला के बीछुरे, बिकल होत सब ठांव ॥ २३ ॥

२३
रंगहिते रंग ऊपजे, सभ रंग देखा एक।

कवन रंग है जीवका, ताका करहु विवेक ॥ २४ ॥

२४
जाग्रत-रूपी जीव है, सब्द सोहागा सेत।

अनेक विकार घेरे रहते हैं। १८—"जल थल में ही रमि रह्यो मोर निरंजन नाउँ 'काल' मन। १९—माया सबला होने से साधी (पूरी) २०—'साखी' अज्ञानियों की गवाह। माया केवल अज्ञानियों की गवाह है क्योंकि उन के सब काम इसके सामने होते हैं अतः 'आधी साखी' माया सिरपर सवार है। 'अन्त विलैया खाय समुझु मन बौरा हो'। २१—'मैं' जीव। जड़देह में जीव ने जीवन डाल रक्खा है। 'जीव' शब्द करने वाला, शब्दी। २२—जीवात्मा की षोडशकलाओं में मुख्य कला प्राण है। २३—माया से सब रूप उत्पन्न होते हैं। २४—यह उत्तर है। सोने को गलाने वाला सफेद सुहागा, सोने के मैल को दूर करता है। 'जर्द' रज। 'बुन्द वीर्य्य। 'जल कुकही' जलमुरगमवी (शरीर) अर्थ—यह जीवात्मा-

जरद बुन्द जल कूकुही,कहहिं कबिर कोइ देख ॥२५॥

२५　×

पांच तत्त लै या तन कीन्हा, सो तन (ले) काहिले दीन्हा ।

कर्महिके वश जीव कहतहैं, कर्महिं को जिव दीन्हा ॥२६॥

२६

पांच तत्त के भीतरे, गुप्त वस्तु अस्थान ।

बिरल मरम कोइ पाइहै, गुरुके सब्द प्रमान ॥२७॥

२७

असुन-तखत अडि आसना, पिंड झरोखे नूर ।

ताके दिल में हौं बसों, सेना लिये हजूर ॥ २८ ॥

२८

हृदया भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय ।

मुखतो तबही देखि हो दिलकी दुबिधा जाय ॥ २९ ॥

२९

गांव ऊंच पहाड़ पर, और मोटे की बाँह ।

वस्तुतः चैतन्य (ज्ञान) रूप होता हुआ भी भ्रम वश अपने को मलिन मान रहा है (पहले 'हंस' का सुवर्ण वर्ण कह आये हैं) ऐसी दशा में गुरु का तत्त्वोपदेश रूपी सुहागा ही इस के मैल (अज्ञानता) को दूर करने वाला है । ऐसे मनुष्य विरले हैं जो कि शरीर से भिन्न जीव को साक्षात् जानते हों । २५—जो कर्म परतंत्र है वह जीव है और जो स्वतंत्र है वह शिव (मुक्त) है । २६—जीवका विशेष निवास हृदय में है । २७—जो 'असुन्नतख्त' चैतन्य पद पर दृढ हैं और 'पिंड झरोखे' नेत्रों से

× सार छन्द ।

(कबीर) ऐसा ठाकुर सेइये, उबरिये जाकी छांह ॥३०॥

३०
जेहि मारग गये पंडिता, तेई गई बहीर।
ऊंचो घाटी रामकी, तहँ चढ़ि रहैं कबीर ॥ ३१ ॥

३१
ऐ कबीर तैं उतरि रहु, संबल परोन साथ।
सम्बल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ ॥ ३२ ॥

३२
कबीर का घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, खलकन लादे बैल ॥३३॥

३३
बिन देखे वह देसकी, बात कहे सो कूर।
आपुहि खारी खात है, बेचत फिरै कपूर ॥ ३४ ॥

३४
सब्द सब्द सब कोइ कहैं, वोतो सब्द बिदेह।

(मानों साक्षात्) 'नूर' चित्प्रकाश को देख रहे हैं, उनके हृदय में स्वयं 'साहब' ज्ञान वैराग्यादि सहित रहते हैं। २८—हृदय—शुद्धि के बिना 'साहब' के दर्शन नहीं होते। २९—'पूरा साहब सेइये सब बिधि पूरा होय ३०—'बहीर' अज्ञानी। ३१—साधन हीन को राम नहीं मिलते हैं। ३२ माया मन्दिर के शिखर पर (प्रपंच से परे) शुद्ध चेतन है। 'सिलहिटी' रपटीली। 'पिपीलिका' सूक्ष्म बुद्धि। 'बैल' नाना अहंकार। ३३—जो स्वयं आचरण नहीं करते उनकी बातें मत मानो। ३४—यहां शब्द से शब्दी (चेतन) कहा गया है। ३५—मन यह—विटपकी पहेली है। योगी प्राणायाम से

जिभ्या पर आवे नहीं, निरखि परखिकरि लेहु ॥ ३५ ॥

३५

परवत ऊपर हर बहे (औ), घोरा चढ़ि बस गाँव ।

बिना फूल भँवरा रस चाहे, कहु बिरवा को नाँव ॥३६॥

३६

चन्दन बास* निवारहु, तुभ कारन बन काटिया ।

जियत जीव जनि मारहु, मूये सभै निपातिया ॥ ३७ ॥

३७

चन्दन सरप लपेटिया, चन्दन काह कराय ।

रोम २ विष भीनिया, अमृत कहाँ समाय ॥ ३८ ॥

३८

जौं मोदाद + समसान सिलाँ, सबै रूप समसान ।

कहहिं कबिर वहि सावज की गति, तबकी देखि भुकान॥३९॥

ब्रह्माण्ड में ज्योतिःप्रकाश करते हैं । 'परबत' ब्रह्माण्ड । 'हर' प्राण । 'घोड़ा' मन । 'भँवरा' जीव । 'बिनाफूल' मिथ्या । ३६—ऐ जीव तू अपनी वासना को दूरकर । 'बन' संसार । ३७–दुराग्रही लोग चन्दन पर लिपटे हुए सांपों की तरह सत्संग से भी नहीं सुधरते । ३८–जिस तरह 'मोदाद' स्फटिक शिला उपाधि वश अनेक रंगों के समान देख पड़ती है । और जैसे कुएँ में भुककर गरजने वाला सिंह वैसेहि शब्द को स्वयं सुनता है, इसी तरह माया के कारण नाना विकार जीव में भासते हैं ।

---

* छन्द 'श्याम उल्लास' । १३ मात्रा का । + छन्द 'हरिपद' ।

३९
गही टेक छोड़े नहीं, जीभ चोंच जरिजाय।
ऐसा तपत अंगार है, ताहि चकोर चबाय ॥ ४० ॥

४०
चकोर भरोसे* चन्द्रके, निगले तपत अंगार।
कहैं कबीर डाहै नहीं, ऐसी वस्तु लगार ॥ ४१ ॥

४१
झिलि मिलि झगरा झूलते, बाकी रहो न काहु।
गोरख अटके कालपुर, कवन कहावे साहु ॥ ४२ ॥

४२
गोरख रसिया जोगके, मुये न जारी देह।
माँस गली माटी मिली, कोरो मांजी देह ॥ ४३ ॥

४३
बनते भाग+ बिहड़े परा, करहा अपनी बान।
बेदन करहा कासो कहै, को करहा को जान ॥ ४४ ॥

३९—संकट सहते हुए भी दृढ़चित्त वाले निश्चित मार्ग से नहीं हटते हैं। ४०—सच्चा विश्वास फलदायक होता है। ४१—'कालपुर' मन नगरी में। ४२—गोरखनाथजी ने जीते जी योगाग्नि से शरीर के मलों को जला डाला और काया को कोरी मांजी कर दी। केवल काया मंजन में इतने प्रयत्न की आवश्यकता है। ४३—वासना रहित न होने के कारण विरक्तों की श्रेणी में नाम लिखवाकर फिर व्यवहार-प्रपंच में पड़ गये। ४४—हठ-योगी साक्षात् राम को नहीं भजते हैं। अतएव (शून्य में समाधि लगाते

---

* छन्द गीता, १४, १२, विश्राम। + छन्द दोहा १२।११ विराम।

४४
बहुत दिवस ते हींडिया, सुन्न समाधि लगाय ।

करहा पड़ा गाड़ में, दूरि परा पछिताय ॥ ४५ ॥

४५
कबीर भरम न भाजिया, बहुबिधि धरिया भेख ।

सांई के परचे बिना, अन्तर रहि गइ रेख ॥ ४६ ॥

४६
बिनु डाँडे जग डांडिया, सोरठ परिया डांड ।

बांटन हारा लोभिया, गुरते मीठी खाँड ॥ ४७ ॥

४७
मल्यागिर की बासमें, वृच्छ रहे सब गोय ।

कहबे को चन्दन भये, मल्यागिर ना होय ॥ ४८ ॥

४८
मल्यागिर की बास में बेधे ढाक पलास ।

बेना कबहुँ न बेधिया जुग जुग रहते पास ॥ ४९ ॥

४९
चलते चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस ।

बीचहि में डेरा परा कहहु कवन का दोस ॥ ५० ॥

हुए) अन्त में पछताते हैं । ४५—केवल वेष बनाने से मुक्ति नहीं मिलती है । ४६—बांटन हारा = जीवात्मा 'गुरु' साहब (ईश्वर) से 'खांड' माया को प्रिय मानता है इस कारण ' षोडश कलात्मक एष पुरुषः ' इस श्रुति के अनुसार प्राणादिक सोलह बन्धन में पड़ गया । ४७—योगानुष्ठान से सिद्धि प्राप्त होने पर भी मुक्ति नहीं मिल सकती है । ४८—शून्य हृदय वाले को उपदेश नहीं लग सकता है । ४९—अमर पद अन्तःकरण चतुष्टय और पंच-

५०
झालि परे दिन आथये, अन्तर परगई साँझ।
बहुत रसिक के लागते, बेस्वा रहि गइ बांझ॥५१॥
५१
मन कहे कब जाइये, चित कहे कब जाव।
छौ मांस के हींडते, आध कोस पर गांव॥५२॥
५२
गृह तजि ऊदासी भये, बन खंड तप को जाय।
चोली थाकी मारिया, बेरइ चुनि चुनि खाय॥५३॥
५३
राम नाम जिन चीन्हिया, झीना पंजर तासु।
नैन न आवै नीन्दरी, अंग न जामें मांसु॥५४॥
५४
जो जन भीजे राम रस, बिगसित कबहुँ न रूख।
अनभौ भाव न दरसई, ताको सुख न दुःख॥५५॥
५५
काटे आम न मौरसी, फाटे जुटे न कान।

तन्मात्राओं से परे हैं। ५०—अनात्मोपासना विफल होगई। ५१—जिस मुक्ति पद के लिये व्यग्रता से षट्शास्त्रों का मंथन किया जाता है वह माया से परे है। ५२—कच्चा वैराग्य नष्ट हो जाता है ५३—पूरे ज्ञानियों का शरीर-अभ्यास मिट जाता है। ५४—आत्माराम सदा प्रसन्न रहते हैं एवं संकल्प रहित होने से द्वन्द रहित रहते हैं। ५५—ज्ञान खड्ग से कामना रूपी आम को काटने पर वह नहीं फलता और मन को विवेक द्वारा अलग कर न देने से फिर वह

गोरख पारस परस बिनु, कवने को नुकसान ॥५६॥

५६
पारस-रूपी जीव है, लोह रूप संसार।
पारस ते परसो भया, परसि भया टकसार ॥५७॥

५७
प्रेम पाटका चोलना, पहिरि कबीरा नाच।
पानिप दीन्हो तासु को, तनमन बोलै सांच ॥५८॥

५८
दरपन केरी गुफा में, सुनहा पैठा धाय।
देखि प्रतीमा आपनी, भूँकि भूँकि मरि जाय ॥५९॥

५९
दरपन प्रतिबिंब देखिये जों, आपु दुहुँन मा सोय।
या ततते वा तत्त है, पुनि याही है सोय ॥६०॥

६०
जोबन—सायर मूझते, रसिया-लाल कराहिँ।
अब कबीर पांजी परे, पंथी आवहिं जाहिँ ॥६१॥

६१
दोहरा तो नूतन भया, पदहिँ न चीन्है कोय।
जिन यह शब्द विवेककिया, छत्र धनी है सोय ॥६२॥

संसार से नहीं जुटता। ५६—सद्गुरु के उपदेशों को धारण करने से जीव निर्विकार होता है। ५७—पानिप=सुयश। ५८—प्रेम और सत्यता को धारण करो। ५९—अपनी कल्पनाओं से प्रपंच फैलता है। ६०—प्रेम की नई पीर असह्य होती है। 'पाँजी' रास्ता। ६१—अज्ञानियों के नये २ जन्म होते रहते हैं और जो निज पद को पहिचानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। 'छत्रधनी' छत्रपति। ६२—नरतन धरकर कबीर

६२
कबीर जात पुकारिया, चढ़ि चन्दन की डार।
बाट लगाये नाल गे, पुनि का लेत हमार ॥६३॥

६३
सबते साँचा है भला, जो साँचा दिल होय।
सांच बिना सुख नाहिना, कोटि करे जो कोय ॥६४॥

६४
साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि।
साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि ॥६५॥

६५
सुकृत ! बचन मानैं नहीं, आपु न करैं बिचार।
कहहिँ कबीर पुकारि के, सपने गया संसार ॥६६॥

६६
आगि जो लागि समुद्र में, धुँवा न परगट होय।
जाने सो जो जरि मुवा, जाकी लाई होय ॥६७॥

६७
लाई लावनहार* की, जाकी लाई पर जरे।

गुरु उपदेश दिये जाते हैं। ६३—सत्य से साहब मिलते हैं। ६४—'हीरा' गुरुपद। ६५—हे सुकृत ! संसारी लोग मेरे उपदेश को नहीं मानते। और स्वयं भी विचार नहीं करते। संसार सपने की तरह चला जा रहा है ? । ६६—संसार में कामनाग्नि जल रही है। ६७—जीव स्वयं कामनाग्नि को प्रज्वलित करता है। उक्ताग्नि से 'छप्पर' रचक (आत्मा)

---

* छन्द 'श्याम उल्लास'।

बलिहारी लावनहार की, छप्पर बाँचे घर जरे ॥६८॥

६८
बुन्द जो परो समुँद में, सो जानत सब कोय।
समुंद समाना बुन्द में, जाने बिरला कोय ॥६९॥

६९
जहर जिमी दै रोपिया, अमी सिंचे सौ बार।
कबीर खलक ना तजे, जामें जौन बिचार ॥७०॥

७०
धौंकी डाही लाकड़ी, ऊभी करे पुकार।
मति बसि परो लुहार के, डाहे दूजी बार ॥७१॥

७१
बिरह को ओदी लाकड़ी, सपचे औ धुँधुवाय।
दुखते तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय ॥७२॥

७२
बिरह बान जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवे, उठे कराहि कराहि ७३

७३
साँचा शब्द कबीर का, हृदया देखु विचार।

बच जाता है परन्तु 'घर' शरीरादिक संघात नष्ट हो जाते है। 'लाई' अग्नि। ६८—' बुन्द ' जीव। ' समुंद ' ईश्वर या संसार। जीव के हृदयों में कल्पना रूप से संसार समाया हुआ है। ६९ अज्ञों के हृदयों में विषय कामना भरी हुई है इससे वे तत्त्वोपदेश नहीं मानते हैं। ७०—विवेकी लोग वंचक गुरुओं से डरते हैं। ७१—विरहाग्नि शरीर को जला देती है। ७२—'औषध' वचनोपदेश। ७३—कबीर गुरु भिन्न २ रूप से चारों युगों में प्रगट हुए हैं। ७४—सब तरफ फैली हुई मायाग्नि में

चित्त दे समुझै नहीं, कहत भयल जुग चार ॥७४॥

जो तू साँचा बानियाँ, साची हाट लगाव।

अन्दर झारू देइ के, कूरा दूरि बहाव ॥७५॥

१४

कोठी तो है काठ की, ढिग ढिग दीन्ही आग।

पंडित जरि झोली भये, साकट उबरे भाग ॥७६॥

१५

सावन केरा सेहरा, बुन्द परी असमान।

सब दुनिया वैस्नव भई, गुरु नहिं लागा कान ॥७७॥

१६

ढिग बूडा उछरा नहीं, याहि अन्देसा मोहिँ।

सलिल मोहकी धार में, नीन्दरि आई ताहिँ ॥७८॥

१७

साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिँ जाय।

सलिल मोह नदिया बहै, पाँव नहीं ठहराय ॥७९॥

१८

कहता तो बहुते मिला, गहता मिला न कोय।

सो कहता बहि जानदे, जो न गहन्ता होय ॥८०॥

१९

एक एक निरुवारिये, जो निरुवारी जाय।

ज्ञानाभिमानी जलगये किन्तु अपठितश्रद्धालु भागकर बच गये। ७५–'सेहरा' वर्षा की झड़। पूरे गुरु नहीं मिले। ७६–तू अपनी कल्पनाओं में आपही डूब गया। ७७—'कथनी तजि करनी करे, बिष से अमृत

दुइ दुइ मुख का बोलना, घना तमाचा खाय ॥८१॥

८०
जिभ्या को तो बन्द दे, बहु बोलन निरुवार ।
सो सारथिसे संग करु, गुरुमुखशब्द विचार ॥८२॥

८१
जाके जिभ्या बन्ध नहिं, हृदया नाहीं साँच ।
ताके संग न लागिये, घाले बटिया माँझ ॥८३॥

८२
प्रानी तो जिभ्या डिगा, छिन छिन बोल कुबोल ।
मन घाले भरमत फिरे, कालहि देत हिँडोल ॥८४॥

८३
हिलगो भाल शरीर में, तोर रहा है टूट ।
चुम्बक बिना न नीकरै, कोटि पाहन गे छूट ॥८५॥

८४
आगे सीढ़ी साँकरी, पाछे चकना चूर ।
परदा तरकी सुन्दरी, रही धका दे दूर ॥८६॥

८५
संसारी समय विचारि, का गिरिही का जोग ।

होय' ७८—जो स्वयं सत्यमार्ग पर नहीं है उस की बातें मत मानो, ७९—पहले स्वयं धारण कर के तब औरों को उपदेश दो । ८०—'सारथी' (सच्चेनेता) । 'पारखी' ऐसा पाठ हो तो विवेकी । ८१—जो दृढ़-प्रतिज्ञा वाला नहीं है वह तुमको बीच रास्ते में दुःख देगा । ८२—जिस के वचन और कार्य निश्चित नहीं है वह काल का खिलौना है । ८३—तत्त्वोपदेश के बिना भ्रमनिवृत्ति नहीं हो सकती है । ८४ मुक्ति मन्दिर में बिरलाही पैठता है । तथा संसार के झमेले से मुक्ति दूर रहती है । ८५—'कबीर नरतन

अवसर मारे जात है, चेतु बिराने लोग ॥८७॥

८६
संसय सब जग खंधिया, ससय खंधे न कोय।
संसय खंधे सो जना, शब्द बिबेकी होय ॥८८॥

८७
बोलन है बहु भांतिका, नैनन किछुउ न सूझ।
कहहिं कबीर पुकारिके, घट घट बानो बूझ ॥८९॥

८८
मूल गहेते काम है, तैं मति भरम भुलाव।
मन सायर मनसा लहर, बहि कतहूँ मति जाव॥९०॥

८९
भँवर बिलम्बे बागमें, प फूलन की बास।
जीव बिलंबे विषय सें अन्तहु चले निरास ॥९१॥

९०
भँवर जाल बगु जाल है, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिँ कबिर ते बाँचि हैं, जिनके हृदय विबेक ॥९२॥

९१
तीनि लोक टीडी भये, उड़े जो मनके साथ।
हरि जाने विनु भटकते, परे कालके हाथ ॥९३॥

जात है सकै तो ठौर लगाय'। ८६—विवेक और विचार से सब संशय दूर हो जाते हैं। ८७—लोगों के वचनों को विचार कर ग्रहण करो। ८८—तत्व को पकड़ो और विकल्प नदी में न बहो, ८९—भोगों से तृप्ति नहीं होती है। ९०—माया जाल से विवेकी और धारणाशील ही बचते हैं। ९१—अज्ञानी लोग मन परतंत्र होकर काल के

९२
नाना रङ्ग तरङ्ग हैं, मन मकरन्द असूझ।
कहहिँ कबीर पुकारि के, अकिल कला ले बूझ॥९४॥

९३
बाजीगर का बान्दरा, ऐसे जीउ मन साथ।
नाना नाच नचायके, राखे अपने हाथ॥९५॥

९४
यह मन चंचल चोर ई, ई मन शुद्ध ठगार।
मनकरि सुरमुनि जहँडिया,मन के लच्छ दुवार॥९६॥

९५
बिरह भुवंगम तन डँसो, मन्त्र न मानै कोय।
राम वियोगी ना जिये, जिये तो बाउर होय॥९७॥

९६
रामवियोगी बिकल तन, इन दुखवो मति कोय।
छूवत हीं मरि जाँयगे, ताला बेली होय॥ ९८॥

९७
बिरह भुवंगम पैठिके, कीन्ह करेजे घाव।
साधू अंग न मोरहीं, जौं भावे तौं खाव॥ ९९॥

९८
करक करेजे गडि रही, बचन वृच्छ को फांस।

गाल में चले जा रहे हैं। ९२–मनके मैल को बुधि के जल से धो डालो। ९३—अज्ञानी लोग पूरी तरह मन के अधीन रहते हैं। ९४—मन पूरा डाकू है इससे सदैव सचेत रहो। ९५—सन्त जगत् से उदास रहते हैं। ९६–सन्तों से व्यावहारिक आशा न रक्खो। ९७—अनेक कष्ट आने पर भी सन्तजन रामद्वारे से नहीं हटते हैं। ९८—वञ्चकों के बचनतरु अज्ञानियों

निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गांस ॥ १०० ॥

[१] काला सरप सरीर में, खाइनि सब जग झारि ।

बिरले ते जन बाचि हैं रामहि भजे बिचार ॥ १०१ ॥

[२] काल खड़ा सिर ऊपरे, जागु बिराने मीत ।

जाका घर है गैल में, सो कस सोय निचिन्त ॥ १०२ ॥

[३] काली काठी कालो घुन, जतन जतन घुन खाय ।

काया मध्ये काल बसे, मरम न कोऊ पाय ॥ १०३ ॥

[४] मन माया की कोठरी, तन संसय का कोट ।

बिषहर मंत्र न मानई, काल सरप की चोट ॥ १०४ ॥

[५] मन माया तो एक है, माया मनहिँ समाय ।

तीन लोक संसय परा, काहि कहूँ समुझाय ॥ १०५ ॥

के हृदयतल में बद्ध मूल हो गये, अतः उनका निमूंल करना दुष्कर है ।

१—अहंकार ने सबों को नष्ट किया है । और कर रहा है । २—ऐ संसार के प्रेमी तू मोह की मीठी २ नीन्द को छोड़ कर अपने सूने घर का फिकर कर । ३—घुन की तरह संशय रूपी काल काया काठी (लकड़ी) को धीरे २ खाता रहता है, इस बात को अज्ञानी नहीं जानते हैं । ४—अज्ञानियों को संशय-सांप और भ्रान्ति नागिन ने ऐसा डस लिया है कि वे तत्वोपदेश रूपी गरुड़ मंत्र को भी 'नहीं' सुन सकते हैं अथवा 'विषहर' विषधर सर्प । गन्दी कोठरी या कोट के सहारे प्रायः सर्प रहा करते हैं । ५—कल्पनाओं से रहित होना ही माया रहित होना है ।

६
वेढा दीन्हो खेत को, वेढा खेतहिँ खाय ।
तीन लोक संसय परी, काहि कहौं समुझाय ॥ १०६ ॥

७
मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत ।
कहहिँ कबिर ते बांचिहैं, जिनके हृदय बिबेक ॥१०७॥

८
सायर बुद्धि बनाय के, बाय बिचच्छन चोर ।
सारी दुनिया जहँडि गै, कोइ न लागा ठौर ॥ १०८ ॥

९
मानुष ह्वै के ना मुवा, मुवा सो डांगर ढोर ।
एकौ ठौर न लागिया, भया सो हाथी घोर ॥ १०९ ॥

१०
मानुष तैं बड़ पापिया, अच्छर-गुरुहिँ न मान ।
बार बार बन कूकुही, गरभ धरतु है ध्यान ॥ ११० ॥

११
मनुष बिचारा का करे, कहे न खुले कपाट ।

६—अज्ञानी लोग माया को रक्षक समझते है; वस्तुतः वह भक्षक हैं। ७—विवेकी जन मन की तरङ्गों में नहीं पड़ते हैं। ८—मन बड़ा चतुर चोर है इसने सारी दुनिया को धोका दिया है। ९—स्वरूप परिचय से कृतकृत्य होकर शरीर को नहीं त्यागा, अतः चौरासी योनियों में चले गये। १०—सत्योपदेश को नहीं मानने वाले भव-चक्र में घूमा करते हैं। ११—जिस प्रकार पूरे हुए चौक में बैठाया हुआ कुत्ता आटे के

स्वान चौक बैठाइये, फिर फिर ऐपन चाट ॥ १११ ॥

१२
मनुष बिचारा का करे, जाके सुन्न शरीर ।

जे जिव झांकि न ऊपजे, काह पुकार कबीर ॥११२ ॥

१३
मानुष जन्महिँ पायके, चूके अब को घाट ।

जाय परे भव चक्र में, सहे घनेरी लात ॥ ११३ ॥

१४
रतन (ही) का जतन करु, माटी का सिंगार ।

आय कबीरा फिर गया, फीका है हंकार ॥ ११४ ॥

१५
मनुष जन्म दुरलभ अहै, होय न दूजी बार ।

पक्का फल जो गिरि परा, बहुरि न लागै डार ॥११५॥

१६
बाँह मरोरे जात हो, सोवत लिये जगाय ।

कहहिँ कबीर पुकारिके, ई पिंड है कि जाय ॥ ११६ ॥

१७
साखि पुरन्दर ढहि परे, बिबि अच्छर जुग चार ।

चाटने लगता है, इसी तरह मूर्ख लोग उपदेशक का तिरस्कार करते हैं । १२—उपदेशक का क्या दोष है, क्योंकि 'मूरुख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै विरंचि सम' । १३—नरतन मुक्ति का द्वार है १४—वेष बनाने में न भूलकर आत्मपरिचय करना चाहिये । १५—त्यागे हुए शरीर में जीवात्मा फिर नहीं आता है । १६—इसको ज्ञान मार्ग पर लाइये । १७—"बानी अरु पानी या का नाहीं अन्त" । १८—मनको शुद्धकरके परमार्थपथ पर चलना चाहिये ।

रसना रंभन होत है, कोइ न सके निरुवार ॥ ११७ ॥

१८
बेड़ा बान्धिन सरपका, भवसागर के मांहि ।

जो छांड़े तो बूड़ई, गहे तो डसिहै बांहि ॥ ११८ ॥

१९
कर-खोरा खोवा भरा, मग जोहत दिन जाय ।

कबिरा उतरा चित्त ते, छांछ दियो नहिँ जाय ॥११९॥

२०
एक कहौं*तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि ।

है जैसा तैसा रहै, कहँहिँ कबोर बिचारि ॥ १२० ॥

२१
अमृत केरी पूरिया, बहु बिधि दीन्ही छोरि ।

आप सरीखा जो मिलै, ताहि पियाऊँ घोरि ॥ १२१ ॥

१९—अधिकारी को बार २ समझाया जाता है अनधिकारी को नहीं खोरा=कठोरा २०—तत्व का निवर्चन अद्वैत या द्वैत शब्द से नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह स्वसंवेद्य है। और ये दोनों सापेक्ष हैं, अतः वह जैसा है वैसाही रहे हम उसके विषय में कुछ नहीं कहते हैं। भाव यह है कि जो मनका विषय होता है उसी को वाणी कह सकती है। और तत्व की तो यह महिमा है कि "यतो वाचोनिवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह"। २१—तत्वामृत दैवी सम्पत्तिवाले को ही पिलाया जाता है। २२—लोग

पा॰ा॰—*कहते न बनै ।

२२
अमृत केरी मोटरी, सिरसे धरी उतार ।
जाहि कहौ मैं एक है, मोहि कहै दुइ चार ॥ १२२ ॥

२३
जाके मुनिवर तप करैं; वेद थके गुन गाय ।
सोई देउँ सिखापना, कोई नहिँ पतिआय ॥ १२३ ॥

२४
एकै ते अनन्त भौ, अनंत एक ह्वै आय ।
परचे भई जब एकते, अनँतौ एक समाय ॥ १२४ ॥

२५
एक शब्द गुरुदेव का, ताका अनँत विचार ।
थाके मुनिजन पंडिता, बेद न पावैं पार ॥ १२५ ॥

२६
राउर को पिछुवार के, गावैं चारिउ सैन ।
जीव परा बहु लूटि में, ना किछु लेन न देन ॥ १२६ ॥

विचार नहीं करते हैं । मैं एक ईश्वर (आत्मा) की उपासना का उपदेश देता हूं तो वे नाना देवताओं की सिद्धि करने लग जाते हैं । २३—मैं हृदय निवासी राम का उपदेश देता हूं परन्तु लोग नहीं मानते हैं । २४—यह जीवात्मा उपाधि वश एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है । जब अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है, तब केवल यही रह जाता है । और अनेकता एकता का बखेड़ा दूर हो जाता है । २५—सद्गुरु ने जिस (एक) तत्व का उपदेश दिया है उसी के विचार में सब थक गये हैं । 'नेति नेति' 'अतद्व्यावृत्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' । २६—चारों वेद परोक्षरूप से 'तत्व' का निरूपण करते हैं । २७—साधनचतुष्टय—सम्पन्न

२७ *
चौगोड़ा के देखते (हो), व्याधा भागा जाय ।
अचरज एक देखो हो सन्तो, मूवा कालहिँ खाय॥१२७॥

२८
तीन लोक चोरी भई, सब का सरबस लीन्ह ।
बिना मूंड का चोरवा, परा न काहू चीन्ह ॥ १२८ ॥

२९
चक्की चलती देखि के, नैनन आया रोय ।
दुइ पट भीतर आय के; साबुत गया न कोय ॥१२९॥

३०
चार चोर चोरी चले, पगु पनही ऊतार ।
चारिउ दर थूनी हनी, पंडित करहु बिचार ॥ १३० ॥

३१
बलिहारी वहि दूध की, जामें निकरे घीव ।
आधी साखि कबीर की, चारि बेद का जीव॥ १३१ ॥

३२
बलिहारी तेहि पुरुष की, परखित परखनि हार ।

अधिकारी मन को जीत लेता है। और जीवन्मृतक (मुक्त) काल को जीत लेता है। २८—मन एक रूप से नहीं रहता है अतः यह बिना सिर का चोर है। २९—जन्म और मरण में आने वाला मुक्त नहीं। ३०—विचारहीन नर को मन बुद्धि चित्त और अहंकार चारों योनियों में भटकाते हैं। ३१—'आपा तजो औ हरि भजो, नखसिख तजो बिकार' यह आधी साखी सबों की सार है। ३२—परख कर गुरु करने वाले धन्य हैं। अविवेकी मुक्ति के लिये

---

* छन्द 'हरिपद'।

साईं दीन्हीं खांड की, खारी बोझै गँवार ॥ १३२ ॥

[१३३] विष के बिरवे घर किया, रहा सरप लपटाय ।

ताते जियरहिँ डर भया, जागत रैनि बिहाय ॥ १३३ ॥

[१३४] जो घर हैगा सरप का, सो घर साधु न होय ।

सकल सम्पदा ले गया, बिषहरि लागा सोय ॥१३४॥

[१३५] घूँघूँचि भर बोइये, उपजै पसैरी आठ ।

डेरा परिया काल का, सांझ सकारे जात ॥ १३५ ॥

[१३६] मन भरके बोये कबौं, घुघुची भरि नहिँ होय ।

कहा हमर मानै नहीं, अन्तहुँ चले बिगोय ॥ १३६ ॥

[१३७] आपा तजै औ हरि भजै, नख सिख तजै बिकार ।

सब जिउते निरवैर रहे, साधु मता है सार ॥ १३७ ॥

[१३८] पक्षा-पक्षी के कारने, सब जग रहा भुलान ।

निरपक्ष होय के हरि भजे, सोई सन्त सुजान ॥१३८॥

वंचकों की शरण में जाकर उलटे बन्धन में पड़ जाते हैं । बोझै = बोझ लदना ३३—जगत् के प्रेमियों को काल खा जाता है । ३४—सन्त जगत् से उपराम रहते हैं । ३५—आठ पसेरी का एक मन होता है । भाव यह है कि सूक्ष्म वासना से संकल्पात्मक-मन की सृष्टि होती है । ३६—कामना रहित कर्मों से वासना की उत्पत्ति नहीं हो सकती । ३८—साम्प्रदायिक निमूंल रूढियाँ अनर्थ कारक हैं । ३९—'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं नच-

३९
बड़े गये बड़ा पने, रोम रोम हंकार।
सत-गुरु के परचे बिना, चारौं बरन चमार ॥ १३९ ॥

४०
माया त्यागे का भया, मान तजा नहिँ जाय।
जेहि माने मुनिवर ठगे, मान सभनि को खाय ॥१४०॥

४१
मायाकी झक जग जरै, कनक कामिनी लागि।
कहहिं कबिर कस बांचिहो, रुई लपेटी आगि ॥१४१॥

४२
माया जग सांपिनि भई, विष ले बैठी बाट।
सब जग फन्दे फन्दिया, चले कबीरउ काट ॥ १४२ ॥

४३
सांप बीछि का मंत्र है, माहुर झारे जांय।
बिकट-नारि पाले परे, काढि कलेजा खाय ॥ १४३ ॥

४४
तामस केरे तीनि गुन, भँवर लेहिं तहँ बास।

वयः'। सज्जनों का आदर-सत्कार होना चाहिये, चाहे वे किसी भी जाति के हों। ४०—मान=अहंकार।

४१—धन और नारी की कामना रूपी आग से रूई की तरह अन्दर २ (अपने २ दिलों में) सब के सब जल रहे हैं। ४२—ज्ञानी जन माया से रहित हो जाते हैं। ४३—स्थावर और जंगम सब प्रकार के विष दूर हो सकते हैं, परन्तु विषय रूपी विष के खाने से कदापि नहीं बच सकते।४४—ये सब स्रक् चन्दन और वनितारूपी-कुसुमोद्यान तमः प्रधान पंचतत्वों की रचना होने के कारण त्रिगुणात्मक हैं, जिनके गन्धमात्र से मन-मिलिन्द

एकै डारी तीनि फल, भांटा ऊख कपास ॥ १४४ ॥

४५ मन-मतंग गइयर हने, मनसा भई सचान।
जंत्र मंत्र माने नहीं, लागी उड़ि उड़ि खान ॥ १४५ ॥

४६ मन-गयंद माने नहीं, चले सुरति के साथ ;
म्हावत विचारा का करै, अंकुस नाहीं हाथ ॥१४६॥

४७ ई माया है चूहडी, औ चुहडों की जोय।
बाप पूत अरुझाय के, सग न काहु के होय ॥ १४७ ॥

४८ कनक कामिनी देखिके, तू मत भूल सुरंग।
बिछुरन मिलन दुहेलरा, कें चुलि तजत भुवंग ॥१४८॥

४९ माया के बसि* सभी परे हैं, ब्रह्मा बिस्नु महेस।
नारद सारद सनक सनन्दन, गौरी पूत गणेस ॥१४९॥

सदैव मतवाला बना रहता है। और माया रूपी डाली ऐसी विचित्र है कि उसमें परस्परविरुद्ध सुख दुःख और मोह स्वभाव वाले सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण रूपी कपास ऊख और भंटे सदैव लगे रहते हैं। 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (साङ्ख्य) ४५—'गैयर' नील गाय (अज्ञानी)। 'सचान' बाज। अनेक प्रयत्न करने पर भी मन वश नहीं होता है। ४६—ज्ञानांकुश के बिना मन गजेन्द्र अधीन नहीं हो सकता है। ४७—'बाप पूत' ईश्वर और जीव तथा पिता पुत्र, ४८—

* छन्द 'हारपद'।

५०
पिपरि* एक जो महागभानी ताकर मरम कोइ नहिं जानी।

डारा लँभाये कोइ न खाय, खसम अक्षत बहु पिपरे जाय १५०

५१
साहू सेती चोरिया, चोरों सेती सूध।

तब जानहु गे जीयरा, मार परेगी तूझ॥ १५१॥

५२
ताकी पूरी क्यों परे, गुरु न लखाई बाट।

ताको बेड़ा बूड़िहै, फिरि फिरि औघट-घाट॥ १५२॥

५३
जाना नहिं बूझा नहीं, समुझि किया नहिं गौन।

अन्धे को अन्धा मिला, राह बतावै कौन॥ १५३॥

जाका गुरु है आंधरा, चेला काह कराय।

कनक और कामिनी का संयोग और वियोग दोनों ही, क्षोभ तथा दुःख को उत्पन्न करते हैं, जैसे केंचुल का संयोग और वियोग सर्प को कष्ट देता है। ५०—माया रूपी पीपली (पेड़) फैली हुई है, उसकी डाली को किसी प्रकार झुकाने पर भी फल नहीं खाने पाते हैं, क्योंकि उसको शीघ्र ही दूसरे लोग छीन लेते हैं। ५१-सन्तों से दुष्टता और असन्तों से मित्रता करने वाले कठिन २ यमयातनाओं को भोगते हैं। ५२—सद्गुरु-रूपी कर्णधार के बिना नरतन रूपी नौका पार नहीं लग सकती है। ५३—पूरे गुरु के बिना पूरा बोध नहीं होता है। ५५—'अरतिर्जन संसद' इसके अनुसार दुर्जनों की

---

* चौपाई। † चोपई।

अन्धे अन्धा पेलिया, दोऊ कूप पराय ॥ १५४ ॥

[५५] लोगों केरि अथाइया, मति कोइ पैठो धाय।

एकहिं खेते चरतु हैं, बाघ गधेरा गाय ॥ १५५ ॥

[५६] चारि मास घन बरसिया, अति अपूर्व सर-नीर।

पहिरे जड़-तर बखतरी, चुभै न एकौ तीर ॥ १५६ ॥

[५७] गुरु की भेली जिउ डरे, काया सींचन हार।

कुमति कमाई मन बसे, लागि जु वाकी लार ॥१५७॥

[५८] तन संसय मन सोनहा, काल अहेरी नित्त।

एकै डांग बसेरवा, कुसल पुछौ का मित्त ॥ १५८ ॥

[५९] साहु चोर चीन्है नहीं, अन्धा मति का हीन।

पारख बिना बिनास है, करु बिचार होहु भीन ॥१५९॥

[६०] गुरु सिकलीगर कीजिये, मनहि मस्कला देय।

सब्द-छोलना छोलिके, चित्त दरपन करि लेय ॥१६०॥

संगति न करो क्योंकि उनको गुणागुणका विवेक नहीं होता है। अथाई = पंचायती चबूतरा या बैठका। ५६—वर्षा ऋतु की तरह निरन्तर वचन—बाणों की वर्षा करते रहने पर भी मूर्खों के हृदय में एक भी बात नहीं गड़ती है क्योंकि वे जड़ता का मजबूत 'बख़तर' (कवच) पहने रहते हैं। ५७—देह के दास गुरु की सेवा से (कुमतिवश) भागते रहते हैं। ५८—डांग, जँगल-संसार। अज्ञानी-नर रूपी खरहा को मन रूपी कुत्ता और

[६१] मूरख के सिखलावते, ज्ञान गांठिका जाय।
　　कोइला होय न ऊजरा, सौमन साबुन लाय ॥१६१॥

[६२] मूंढ करमिया मानवा, नख-सिख पाखर आहि।
　　बाहनहारा का करे, बान न लागे ताहि ॥ १६२ ॥

[६३] सेमर केरा सूवना, छिवले बैठा जाय।
　　चौंच सवाँरि सिरधुने, या वाही को भाय ॥ १६३ ॥

[६४] सेमर सुवना बेगि तजु, घनी बिगुरचनि पांख।
　　ऐसा सेमर सेव जो, हृदया नाहीं आंख ॥ १६४ ॥

[६५] सेमर सुवना सेइया, दुइ ढेंढी की आस।
　　ढेंढी फूटि चटाक दे, सुवना चला निरास ॥ १६५ ॥

[६६] लोग भरोसे कवन के, बैठि रहे अरगाय।
　　ऐसे जियरहिँ जम लुटे, जस मेढ़ेहिँ कसाय ॥१६६॥

काल रूपी शिकारी घेरे रहते हैं। ६०—सिकलीगर रूपी गुरु सदुपदेश से विकारों को दूर करके शिष्य के चित्त को दर्पण (निर्मल) बना देते हैं। ६१—दुराग्रही (हठी) को ज्ञान नहीं हो सकता है। ६२—उक्त-मूढ नख से शिखा तक मानों पाषाणमय है। अतः उपदेश रूपी बाण उसको छूने भी नहीं पाते हैं, इस में बाण चलाने वाले (गुरु) का क्या दोष है। ६३—घर छोड़ा और मठ बनाया, एक प्रपॅच से निकले और दूसरे प्रपॅच में पड़ गये। ६४—असार माया प्रपॅच को जल्दी छोड़ो। ६५—'ढेंढी' सेमर के पक्केफल (थोड़ासा सुख, और मस्तक) 'सुगना' (जीवात्मा)

६७
समुझि बूझि जड़ हो रहे, बल तजि निरबल होय।
कहैं कबिर ता सन्तका, पला न पकरे कोय ॥ १६७ ॥

६८
हीरा सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट।
कपट कुरंगी मानवा, परिखत निकरा खोट ॥ १६८ ॥

६९
हरि हीरा जन जौहरी, सबन पसारी हाट।
जब आवे जन जौहरी, तब हीरों की साट ॥ १६९ ॥

७०
हीरा तहां न खोलिये, जहँ कुँजरों की हाट।
सहजै गांठी बाँधिके, लगिये अपनी बाट ॥ १७० ॥

७१
हीरा परा बजार में, रहा छार लपटाय।
मूरुख था सो बहिगया, पारखि लिया उठाय ॥१७१॥

७२
हीरों की ओवरी नहीं, मलया गिर नहिं पाँति।

६६–'उद्धरेदात्मनात्मानम्' इसके अनुसार अपना कल्याण अपने ही आचरणों पर निर्भर है। मेंढा = भेड़ा। ६७–'जडवल्लोकमाचरेत्' इसके अनुसार सर्वथा अहंकार रहित और परम उदास रहना सन्तों के लक्षण हैं। ६८—अनेक यातनाओं के उपस्थित होने पर भी जो अपने निश्चय से विचलित नहीं होते हैं, वेही नर 'रत्न' हैं। ६९–विवेकी ही हरिपद की खोज करते हैं। ७०—अविवेकियों को गूढ तत्व का उपदेश देना व्यर्थ है। ७१–प्रपँच–पँक में सने हुए आत्मरत्न को विवेकी लोग विचार—वारि से धोकर सुरक्षित कर लेते हैं। ७२–'लहँढ़ा' झुँड। 'ओवरी' तहखाना। सच्चे साधु विरले हैं। ७३–सब अपने २ मतों को पुष्ट करते हैं परन्तु

सिंहों के लहँड़ा नहीं, साधु न चले जमाति ॥ १७२ ॥

७३
अपने अपने सिरों का, सबन लीन्ह है मान।

हरि की बात दुरन्तरी, परी न काहू जान ॥ १७३ ॥

७४
हाड़ जरैं जस लाकड़ी, केस जरैं जस घास।

कबिरा जरै राम रस, (जस) कोठी जरै कपास ॥१७४॥

७५
घाट भुलाना बाट बिनु, भेख भुलाना कान।

जाकी मांडी जगत में, सो न परा पहिचान ॥ १७५ ॥

७६
मूरुख से का बोलिये, सठ से काह बसाय।

पाहन में का मारिये, चोखा तीर नसाय ॥ १७६ ॥

७७
जैसे गोली गुमुज की, नीच परी ढहराय।

तैसा हृदया मूर्ख का, सब्द नहीं ठहराय ॥ १७७ ॥

७८
ऊपर की दोऊ गई, हियहुकि गई हिराय।

कहँहिं कबिर चारिउ गई, ताको काह उपाय ॥१७८॥

७९
केते दिन ऐसे गये, अनरूचे का नेह।

'तत्व' मत को कोई नहीं बताता है। ७४—राम वियोगी (प्रेमी) प्रेमाग्नि से कपास की तरह धीरे २ जलते रहते हैं। ७५—सत्यमार्ग के न जानने से निजपद को भूल गये। और वेषधारी मर्यादा में भूल गये। अत: जिसकी यह तुच्छ माया फैली हुई है उसको न पहचान सके। ७७—जैसे मन्दिर आदिकों के शिखर पर (खेलने की) गोली नहीं टिक सकती है, ठीक इसी प्रकार अभिमानोन्नत मूर्खों के हृदयों पर ज्ञान-रत्न नहीं ठहर

ऊसर बोय न ऊपजे, अति घन बरसे मेह ॥ १७९ ॥

८०
मैं रोवौं एहि जगत को, मोको रोव न कोय।
मोको रोवै सो जना, सब्द बिबेकी होय ॥ १८० ॥

८१
साहब साहब सब कहैं, मोहि अँदेसा और।
साहब से परचै नहीं, बैठा गे केहि ठौर ॥ १८१ ॥

८२
जिव बिनु जिव जीवै नहीं, जिव का जीव अधार।
जीव दया करि पालिये, पंडित करहु बिचार ॥१८२॥

८३
हौंतो सबही को कहो, मोको कोउ न जान।
तब भी अच्छा, अब भी अच्छा, जुग २ होउँ न आन १८३

८४
प्रगट कहौं तो मारिया, परदा लखै न कोय।
सहना छिपा पयार तर, को कहि बैरी होय ॥ १८४ ॥

८५
देस विदेसे हौं फिरा, मनहीं भरा सुकाल।
जाको ढूंढत हौं फिरौं, ताका परा दुकाल ॥ १८५ ॥

८६
कलि खोटा जग आंधरा, सब्द न मानै कोय।

सकता है। ७८—'हियहुकी' विवेकदृष्टि । ८०—' रोना ' प्रेमकरना । ८३—मुक्त-पुरुष सदैव एकरस रहा करते हैं। ८४—मायारूपी परदे के पीछे साक्षी-पुरुष (आत्मा) खड़ा है। 'सहना' चौकीदार । ८५—परम पारखी-तत्व के वेत्ता विरले हैं। ८७—कबीर साहब ने अपने शिक्षाप्रद वाक्यों को स्वयं लिपिबद्ध नहीं किये हैं। वे तो सदैव मौखिक-शिक्षा दिया

जाहि कहौं हित आपुना, सो उठि वैरी होय ॥ १८६ ॥

८७
मसि कागद छूयो नहीं, कलम नही गहीं हात ।

चारिउ जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात ॥१८७॥

८८
फहम आगे* फहम पीछे, फहम बायें डेरी ।

फहमै पर जो फहमकिनारे, सोइ फहम है मेरी ॥१८८॥

८९
हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध ।

हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध ॥ १८९ ॥

९०
समुझे की मति एक है, जिन समुझा सब ठौर ।

कहहिं कबिर ये बीचके, बलकहिँ और कि और १९०

९१
राह बिचारी का करे, पंथि न चलै बिचारि ।

करते थे । ८८–लौकिक कार्यों के लिये भी विचार की बड़ीही आवश्यकता है । और जो इसके ऊपर (पारमार्थिक) विचार है वह सच्चा विचार है । ८९—विशेष विहित (आश्रमादि) कर्मों का अनुष्ठान करने वाले मनुष्य कहलाते हैं । और काम्य–कर्मों के त्यागी साधु (संन्यासी) कहलाते हैं । और जो संग्रह और त्याग दोनों से रहित हैं; उनका मत अगम है । "पलटु मता है सन्त का नहिं संग्रह नहिं त्याग" "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां कोविधिः कोनिषेधः" । ९——' सौ सयाने एक मत' 'बलकना' बिना समझे कहना ।

---

* छन्द ' सार ' ।

आपन मारग छाँडिके, फिरै उजारि उजारि ॥ १९१ ॥

[९२] मूवा है मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल।

सपन-सनेही जग भया, सहिदानी रहि बोल ॥१९२॥

[९३] मूवा है मरि जाहुगे. बिन सर थोथी—भाल।

परा कल्हारे वृच्छतर, आजु मरे कि काल ॥ १९३ ॥

[९४] बोली हमरी पूर्बकी, हमैं लखै नहिं कोय।

हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय ॥ १९४ ॥

[९५] जेहि चलते खंदे परा, धरती होत बेहाल।

सो सांवत घामें जरें, पंडित करहु बिचार ॥ १९५ ॥

[९६] पांयन पुहुमी नापते, दरिया करते फाल।

हाथन परबत तौलते, ते धरि खाया काल ॥ १९६ ॥

[९७] नौ मन दूध बटोरिके, टिपके किया बिनास।

९१—यदि मतानुयायी पूरी तरह निज धर्मों का पालन नहीं करते हैं तो इसमें मतों और पंथों का क्या दोष है। ९२—मरने का डंका बज रहा है (श्वासा चीण हो रही है) और सपने की तरह सब चले गये, केवल उनकी कृतियां रह गयी हैं। 'सब चलि जैहैं ऊधो ! बातें रहि जैहैं"। ९३—वंचकों के निःसार मिथ्या वचन रूपी बाणों से पराहत होकर तुम संसार तरुके नीचे पड़े हुए क्यों कराहते (पछताते) हो। अब तुम नहीं बच सकते। 'अब तोर होय नरक महँ बासा। निसुदिन बसेउ लबारै पासा'। ९४—'बोली' भाषा और उपदेश। 'पूरब' देश और आत्मा। हमारे आत्मिक

दूध फाटि काँजी भया, हूवा घृत का नास ॥ १६७ ॥

९८
कितनु मनाऊँ पाँव परि, कितनु मनाऊँ रोय।

हिन्दू पूजैं देवता, तुरुक न काहू होय ॥ १९८ ॥

९९
मानुष केरा गुन बड़ा, मांसु न आवै काज।

हाड न होते आभरण, तुचा न बाजन बाज ॥ १९९ ॥

१००
जो मोहिं जानै ताहि मैं जानौं लोक बेद्का कहा न मानौं ॥२००॥

१
सबकी उतपति धरनि से, सब जीवन प्रतिपाल।

धरति न जाने आप गुन, ऐसा गुरू बिचार ॥ २०१ ॥

२ *
धरती जो जानति आप गुन, कधी न होती डोल।

तिल तिल बढ़ि गारू भई, होति ठिकों की मोल ॥२०२॥

को आत्मीय ही समझ सकता है। ९५—काल की प्रबलता—जिन महा- वीरों के चलने से भूकंप हो जाता था, वे भी पराहत होकर धूप में पड़े हुए हैं। ९६—(फाल) एक फरलांग। ९७—जैसे तेज सिरके की एक बून्द नौ मन दूध को भी नष्ट कर (फाड़) देती है, इसी तरह दुष्ट मन नवधा भक्ति के प्रेम को बिगाड़ देता है। ९८—हिन्दू लोग अनेक देवों की उपासना और मुसलमान झूठे आसमानी खुदा की इबादत में भूले रहते हैं। ९९—'आभरण' गहना। १००'हरि को भजे सो हरि का होय'।

१—ऐसे गुरु बनाना चाहिये जो पृथ्वी से भी अधिक क्षमाशील और

---

* छन्द दोहा।

जहिया[३] किरतम ना हता, धरती हती न नीर।
उतपति परलय ना हता, तब की कहैं कबीर ॥२०३॥

जहाँ[४] बोल तहाँ अच्छर आया * जहाँ अच्छर तहाँ मनहिं दिढाया।
बोल अबोल एक है सोई * जिनयहलखा सोबिरला होई ॥२०४॥

तौ लगि तारा जगमगैं (सभ) जौ लगि उगै न सूर।
×
तौ लगि जीव करमबस डोलैं, जौलगि ज्ञान न पूर[५]॥२०५॥

नाम[६] न जाने गांव का, भूला मारग जाय।
काल गड़ेगा काँटवा, अगमन कसन खुराय ॥२०६॥

संगति कीजे साधु की, हरै अवर कि बियाधि।

स्थिर चित्त हों। २–पृथ्वी यदि पूरी तरह अपने धर्मों का पालन करती तो वह मुक्तात्माओं की तरह सदा अविचल बनी रहती। ३–कबीर साहब ने आदि धर्म का उपदेश दिया है। ४–क्षर, अक्षर, और निरक्षर इन तीनों के तत्व को खूब समझ लेना चाहिये। भूतों को क्षर और जीवात्मा को अक्षर कहते हैं। (अक्षर के दो अर्थ हैं वर्ण और जीवात्मा) इन दोनों से परे 'उत्तमः पुरुष स्त्वन्यः' इसके अनुसार (सर्जन-पालनादि करनेवाला) निरक्षर 'ईश्वर' है। जिस प्रकार बोलने और नहीं बोलने से वर्णों के अक्षर और निरक्षर व्यपदेश होते हैं इसी प्रकार एक ही चेतन की जीवता और ईशता भी सोपाधिक है। फलतः निरुपाधिक 'तत्व' (शुद्ध चेतन, केवल) उक्त तीनों से परे है। अतः उसके साक्षात् होने पर 'बोल

× छन्द हरिपद।

ओछी संगति कूर की, आठौं पहर उपाधि ॥ २०७ ॥

संगति से सुख ऊपजे, कुसंगति दुख होय ।

कहँहिं कबिर तहाँ जाइये, अपनी संगति होय ॥२०८॥

जैसी लागो ओर से, वैसे निबहे छोर ।

कौडी कौडी जोरि कै, जोरें लच्छ करोर ॥ २०९ ॥

१०

आजु काल दिन कैक में, अस्थिर नाहिं सरीर ।

कहँहिं कबिर कस राखिहो, काँचे बासन नीर ॥२१०॥

बहु बन्धन ते बान्धिया, एक बिचारा जीव ।

की छूटै बल आपने, की छोड़ावैं पीव ॥ २११ ॥

जिव जनि मारहु बापुरा, सबका एकै प्रान ।

हत्या कबहुँ न छूटि है, कोटिन सुनहु पुरान ॥ २१२ ॥

१३

जीवघात ना कीजिये, बहुरि लेत वै कान ।

तीरथ गये न बाँचिहो, कोटि हिरा देहु दान ॥२१३॥

१४

तीरथ गये तीनि जन, चित चंचल मन चोर ।

अबोल एक है सोई' इस प्रकार दृढ़ निश्चय हो जाता है। "चर अचर निह अचर सारा, ताके आगे वस्तु अपारा"। ५—'जीवो वै प्राण धारणात् इसके अनुसार' कर्म-परतंत्र (सोपाधिक) चेतन को जीव संज्ञा है। ६—'खुराना धीरे धीरे चलना (सावधानी) १०—कांचे बासन टिकै न पानी, उड़ेगो हंस काया कुँ मिलानी"।

एकौ पाप न काटिया, लादिनि मन दस और ॥२१४॥

[१५] तीरथ गये ते बहि मुये, जूड़े पानि नहाय।

कहहिं कबिर सन्तो सुनो राच्छस है पछिताया ॥२१५॥

[१६] तीरथ भइ विष बेलरी, रही जुगन जुग छाय।

कबिरन मूल निकन्दिया, क्यों न हलाहल खाय ॥२१६॥

[१७] ये गुनवन्ती बेलरी, तव गुन बरनि न जाय।

जहँ काटे तहँ हरियरी, सींचेते कुम्हिलाय ॥ २१७॥

[१८] बेलि कुढंगी फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय।

और बिनस्टी तूमरी, सरे पात करुवाय ॥ २१८ ॥

[१९] पानी ते अति पातला, धूँवा ते अती झीन।

पवनहु ते ऊतावला, दोस्त कबीरन कीन ॥ २१९ ॥

१३—'कान' आत्म-गौरव (बदला) १४—चंचल-चित्त वाला, चंचल मन वाला, और चोरी करने वाला। १५—ऐसे जो २ मनुष्य तीर्थों में जाते हैं वे केवल अत्याचार करने के कारण मर कर या जीतेजी राक्षस बन जाते हैं। १६—कुकर्मी लोग तीर्थों में भी जाकर या रहकर सदैव कुकर्म किया करते हैं; अतः उन्हों के लिये तीर्थभूमि भी जहरीली बेल बनी हुई है फलतः अपने खोदे हुए जहरकन्द को वे स्वयं खाते हैं। 'यः कर्त्ता स एव भोक्ता'। सूचना—मूर्खों का यह अन्ध विश्वास है कि 'घोरातिघोर दुष्कर्मी भी केवल तीर्थ स्नान मात्र से मुक्त हो जाता है' इस अज्ञानता को दूर करते हुए पुण्यधामों के सदुपयोग के लिये तीर्थों के विषय में कबीर गुरु ने अपने ये शुभ विचार प्रकट किए हैं। 'ताकर जो किछु होय अकाज

२०
गुरू बचन सन्तो सुनो; मति लीजै सिर भार ।
हो हजुर ठाढा कहौं, अबतैं समर सँभार ॥२२०॥
२१
ए करुवाई बेलरी, है करुवा फल तोर ।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होय ॥ २२१ ॥
२२
सिद्ध भया तो का भया, चहुंदिसि फूटी बास ।
अन्तर वाके बीज है, फिर जामन की आस ॥ २२२ ॥
२३
परदे पानी ढारिया, सन्तो करहु विचार ।
सरमा सरमी पचिमुवा, काल घसीटनि हार ॥२२३॥
२४ †
आस्ति कहौं तो कोइ न पतीजे, बिना आस्तिकासिद्धा ।

ताहि दोष, नहीं साहबलाज' । खेद है कि इस अभिप्राय को न जानने वाले कबीर गुरु पर मिथ्या आक्षेप करते हैं । १७–'गुनवन्ती बेलरी' त्रिगुणात्मिका माया । 'अन इच्छित आवै बरियाई' । १८ –यह तितलौकी और माया का श्लिष्ट वर्णन है । 'और विनष्टी' जड़कटी (ईश्वर से हटी हुई) १९–अज्ञानी नर मन के विषम चक्र में पड़ कर चूर २ हो रहे हैं । २०—निरहंकार होकर निर्द्वन्द्व हो जाओ । २१–इस साखी में 'कचरी' की बेल और माया तथा सींध (उसके पके हुए फल) और सिद्धों का श्लिष्ट वर्णन है । भाव यह है कि जिस प्रकार कच्ची 'कचरी' कड़वी होती है और पकने पर बेल से अलग हो जाती है तथा सुगन्धित और मीठी हो जाती है इसी प्रकार जहरीली स्थूल

---

† 'सार' छन्द ।

कहँहि कबीर सुनहु हो सन्तो हीरो हीरा बेधा ॥२२४॥

सोना सज्जन साधुजन, टूटि जुरैं सौबार।
दुरजन कुंभ कुम्हारके, एकै धका दरार ॥ २२५ ॥

२६
काजर केरी कोठरी, बूडत है संसार।
बलिहारी तेहि पुरुष की, पैठिके निकरनिहार ॥२२६॥

२७
काजर ही की कोठरी, काजर ही का कोट।
तोंदी कारी ना भई, रही जो ओटहि ओट ॥ २२७ ॥

२८
अरब खरब लों दरब है, उदय अस्तलों राज।
भक्ति महातम ना तुले, ई सभ कौने काज ॥ २२८ ॥

२९
मच्छ बिकाने सब चले, धीमर के दरबार।

माया—वल्ली से छूटने वाले सिद्ध (सिद्धियुक्त योगी) कहलाते हैं। २२—यह भी साखीश्लिष्ट (दो अर्थवाली) है जिस प्रकार उक्त 'सींध' में बीज रहने के कारण वह फिर लता रूप में परिणत होकर कड़वी हो जाती है। इसी प्रकार सिद्धि प्राप्त होने पर भी (बिना साक्षात् बोध के) वासनाँकुर के कारण योग भ्रष्ट होकर 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते) के अनुसार हठ योगी फिर जन्म लेते हैं। २३—वंचकों के शिष्य गुरूपदेश को प्रकट नहीं करते हैं। और छोड़ते भी नहीं अतएव नष्ट हो जाते हैं। २४—उक्त योगी अनात्मोपासना में लग गये अतः हीरे की तरह (वासनारूपी) सूक्ष्म-मायारूपी हीरी, (हीर-कणी) ने उनको बेध दिया। २६—'काजर की कोठरी' माया। २७—आत्माकारवृत्ति माया कलंक से बच जाती है। २८—भक्ति मुक्ति दायिनी है। और भोग बन्धन

अँखियां रतनारी तेरी, क्यों करि पहिरा जाल ॥२२९॥

[३०] पानी भीतर घर किया, सेजा किया पताल ।

पासा परा करीम का, ताते पहिरा जाल ॥ २३० ॥

[३१] मच्छ होय नहिं बांचि हो, धीमर तेरो काल ।

जेहि जेहि डाबर तुम फिरो, तहँ तहँ मेलै जाल ॥ २३१॥

[३२] बिनु रसरी गर सब बँधे, तासो बँधा अलेख ।

दीन्हो दरपन हस्त में, चसम बिना का देख ॥ २३२ ॥

समुझाये समझै नहीं, पर हाथ आपु बिकाय ।

मैं खैंचत हौं आपको, चला सो जमपुर जाय ॥२३३॥

नित खरसान लोह घुन छूटै * नितकी गोस्टि माया मोह टूटै

कारक हैं। २९—ये मत्स्यान्योक्तियां हैं। संसार-सागर में बिहरने वाले मूढनर-मत्स्य यमके (कर्म या) माया जाल में फंस जाते हैं ३०—यहाँ पर करीम से कर्म विवक्षित हैं, ईश्वर नहीं 'करम का पासा डारा' (बीजक) ३१—ऐ जीव ! तू नाना विषय रूपी अल्पसरोवरों (पोखरों) का मच्छ न बन, क्योंकि काल रूपी धीमर सब जगह अपना जाल फैलाता है। दूसरा अर्थ मीन मार्ग को अवलम्बन करने वाले योगियों के पक्ष में है। भावार्थ—' यतो यतोनिश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत् ' (गीता)। ३२—कबीर साहब कहते हैं कि अज्ञानियों का मन बिना रस्सी के मिथ्या आशा से बन्धा हुआ है। मैंने स्वरूप परिचय के लिये ज्ञानरूपी दर्पण सबों को दिया है, परन्तु विवेक-दृष्टि के बिना वे लोग अपने आपको नहीं देख सकते हैं। ३४·यह महा

३४
लोहा केरी नावरी, पाहन गरुवा भार ।
सिर पर विष की मोटरी, उतरन चाहै पार ॥ २३५॥
३५
किसुन समीपी पंडवा, गले हिंवारे जाय ।
लोहा को पारस मिले, काहे काई खाय ॥ २३६ ॥
३७
पूरब उगि पच्छिम अथै, भखै पवन के फूल ।
ताहू को राहू ग्रसै, मानुष काहे को भूल ॥ २३७ ॥
३८
नैनन आगे मन बसे, पलक पलक करे दौर ।
तीनि लोक मन भूप है, मन पूजा सभ ठौर ॥२३८॥
३९
मन सारथि आपहि रसिक, विषय लहर फहराय ।
मनके चलाये तन चले, ताते सरबस जाय ॥ २३९ ॥

आश्चर्य है कि अज्ञानी जन अज्ञानता रूपी लोहे की नौका पर एषणा त्रय का भारी बोझा लादकर और अपने सिरोंपर विषयों की भारी २ मोटरियां लेकर संसार समुद्र से पार उतरना चाहते हैं । ३५-यदि पाण्डुवों को यथार्थ बोध होता तो हिमालय में जाकर न गलते । ३७—सूर्य्य को केवल पवन का आधार है, तथापि राहू का आक्रमण उसपर सदैव हुआ करता है तो भला प्राणोपासक योगियों का अन्तक अन्त क्यों न करेगा । ३८-जागृत अवस्था में मन (निरंजन) का नेत्रों में निवास रहता है । और पल २ में दौड़ता रहता है । ३९-रसिकों का मन सारथी रूप है और वे स्वयं रथी (सवारी करने वाले) हैं । और उनका तन रथ है जिस में कि विषय की ध्वजा फहराती रहती है । मनसारथी कुमार्ग से उक्त रथ को ले जाता है इस कारण जीवात्मा का ज्ञान रूपी धन छिन जाता है। ४०-

४०*
कैसी गति संसार की, ज्यों गाडर का ठाठ।
एक परा जो गाड में, सबै गाड में जात ॥ २४० ॥
मारग तो अति कठिन है, वहाँ कोइ मति जाय।
गये ते बहुरे नहीं, कुसल कहे को आय ॥ २४१ ॥
४१
मारी मरे कुसंग की, केरा साथे बेर।
वै हाले वै चींधरे, बिधिनै संग निबेर ॥ २४२ ॥
केरा तबहिं न चेतिया, जब ढिँग लागी बेर।
अब के चेते का भया, कांटन लीन्हा घेर ॥ २४३ ॥
४२
जीव मरम जाने नहीं, अन्ध भया सब जाय।
वादी दाद न पावई, जनम जनम पछिताय ॥ २४४ ॥
४३
जाको सतगुरु ना मिला, व्याकुल दहुँ दिसि धाय।
आँखि न सूझै बावरा, घर जरे घूर बुताय ॥ २४५ ॥
४४
वस्तु कहीं खोजे कहीं, क्यों कर आवे हाथ।
ज्ञानी सोइ सराहिये, पारख राखे साथ ॥ २४६ ॥

गाडर का ठाट भेड़ों का झूंड। गाड़=गड़हा। यहां पर काशी गति ऐसा प्राचीन पाठ है। ४१ बेर के पेड़ के पास लगे हुए केला की तरह कुसंग से मति नष्ट हो जाती है, अतः कल्याण चाहने वालों को पहले ही सावधान रहना चाहिये। ४२–दुराग्रही मतवादी जीव के स्वरूप को न समझ कर विवाद करते हैं अतः वे प्रशंसा के योग्य

पाठा०—* क, पु. कासीगति संसार की।

*४५
सुनिये सबकी (बारता) निबेरिये अपनी ।
सेंदूरे का सिंधौरा, झपनी को झपनी ॥ २४७ ॥
बाजनदे बाजन्तरी, कल-कुकुही मति छेड़ ।
तुझे बिरानी का परो, अपनी आप निबेर ॥ २४८ ॥

†४६
गावै कथै बिचारे नाहीं, अन जाने का दोहा ।
कहहिं कबिर पारस (परसे) बिनु पाहन भीतर लोहा२४९

४७
प्रथम एक जो हौं किया, भया सो बारह बाट ।
कसत कसौटी न टिका, पीतर भया निदान ॥२५०॥

नहीं है । ४३-हृदय त्रितापाग्नि से जलता रहता है, तथापि शारीरिक सुखों में भूलें रहते हैं । ४४—हृदय निवासी राम बाहर ढूंढने से नहीं मील सकते हैं । ज्ञानी वही है जो विवेक से काम लेता है । ४५—जिस प्रकार दर्पण को ढाँकने के लिए विचित्र चाल का बना हुआ ढक्कन सिन्दूर दान (सिन्धौंरा) और ढक्कन दो नाम वाला होने पर भी वस्तुतः ढक्कन ही हैं । इसी प्रकार सबों से सहमत रहते हुए भी अपनी बुद्धि को स्वतन्त्र रखना चाहिये । 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' । ४६—जो सदैव वेदादिक वाणियों का गायन और कथा तो किया करते हैं परन्तु उन्हों को विचारने का कभी कष्ट नहीं करते, उन्होंके लिये वेदादिक अज्ञातार्थ दोहे की तरह (निष्फल) हैं । और उन्होंका हृदय इस प्रकार विकृत रह जाता है जैसे पत्थर के अन्दर रहा हुआ लोहा पारस के न छूने

---

* 'अवतार' छन्द । सम में १० और विषम में १३ मात्रा ; † 'सार' छन्द

४८
कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय।
अन्तर में विष राखि के, अमृत डारिनि खोय ॥२५१॥
४९ *
रही एककी भई अनेककी, बेस्या बहुत भतारी।
कहहिं कबिर काके संग जरिहै, बहु पुरुषन की नारी॥२५२॥
५०
तन बोहित मन काग है (यह) लक्ष जोजन उड़ि जाय।
कबहिंके भरमे अगम दरिया, कबहुँ क गगन रहाय॥२५३॥
ज्ञान† रतन की कोठरी, चुंबक दीन्हो ताल।

से लोहा ही रह जाता है। ४७—पहली साखी में यह पसंग लिख दिया गया है।

भावार्थ—जीवात्मा रूपी नकली सोना निज रूप कसौटी पर न टिक सका, इस कारण पीतल ठहराया गया। बारह बाट = तीनतेरह (बेकाबू) ४८—अज्ञानियों ने भक्ति के तत्व को नहिँ समझा इस कारण उन्होंने चेतनात्मा की सेवा रूपी अमृत को ठुकराकर जड पूजा रूपी हालाहल को पीलिया। ४९--नाना देवोपासक वारवनिता के समान हैं। ५०—अज्ञानियों के मन की दशा का वर्णन—संसार समुद्र में चलते हुए तन रूपी जहाज पर मनरूपी कौवा बैठा रहता है। वह कभी तो प्रपंचपरायण होकर भौतिक समुन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है और कभी उससे उपराम होकर कर्म और उपासना के अनन्त मार्ग में उड़ते २ थक जाता है। अनन्तर वासना रूपी क्षुधा से पीडित होकर उसी जहाज पर

---

* छन्द 'सार'। † छन्द 'हरिपद'।

पारखि आगे खोलिये, कुंजी बचन रसाल ॥ २५४ ॥

सुरग[५१] पतालके बीचमें, दुई तुमरिया बद्ध ।

षटदरसन संसय परी, लख चौरासी सिद्ध ॥ २५५ ॥

सकलो दुरमति दूरि करु, अच्छा जनम बनाव ।

काग कौन गति छांड़िके, हँस गौन चलि आव ॥२५६॥

जैसी कहैं करै पुनि तैसो, राग दोष निरुवारै ।

तामें घटै बढै रतियो नहिं, यहि बिधि आपु सँवारै ॥२५७॥

द्वारे[५२] तेरे रामजी, मिलहु कबीरा मोंहि ।

तैं तो सभमों मिलि रहा, मैं न मिलूँगा तोहि ॥२५८॥

भरम बढ़ा तिहुँ लोक में, भरम मंडा सब ठांव ।

कहहिं कबीर पुकारिके, बसेउ भरम के गांव ॥२५९॥

रतन[५३] अडाइनि रेतमें, कंकर चुनि चुनि खाय ।

कहहिं कबीर अवसर बिते, बहुरि चले पछिताय ॥२६०॥

आ बैठता है। (अर्थात् अध्यास वश पुनः शरीराकार वृत्ति हो जाती है) भाव यह है कि आत्मज्ञान के विना आत्मकार वृत्ति नहीं हो सकती है। चुम्बक का ताला बहुत मजबूत होता है। ५१—स्वर्ग से पाताल तक माया और अविद्या फैली हुई है और इन्हीं के फेर में सब पड़े हैं। ५२—हे रामजी मैं आपके दर्शनों की इच्छा से हृदय-मन्दिर के द्वार पर चिरकाल से खड़ा हुआ हूं, अतः मुझको यहीं प्रकट होकर दर्शन दीजिये। ५३—ऐ अज्ञानी हंस ! तू सद्गुण रूपी मोतियों को रेत में मिलाकर दुर्गुण रूपी कंकरियों को चुन २ कर खा रहा है।

जेते पत्र बनासपति, औ गंगा की रेन ।
पँडित विचारा का कहै, कबिर कही मुख बैन ॥ २६१ ॥

[५४] हौं जाना कुल हंस हो, ताते कीन्हा संग ।
जो जानत बगु बावरा, छुवे न देतेउँ अँग ॥ २६२ ॥

गुनिया तो गुनहीं कहै, निर्गुन गुनहि घिनाय ।
बैलहिं दीजे जायफर, का बूझै का खाय ॥ २६३ ॥

[५५] अहिरहु तजि खसमहुँ तजी, बिना दान्त की ढोर ।
मुक्ति परी बिललात है, बृन्दाबन की खोर ॥ २६४ ॥

मुखकी मीठी जो कहै, हृदया है मति आन ।
कहँहि कबिर ता लोगसे, तैसहिँ राम सयान ॥२६५॥

[५६] इतते सब कोई गये, भार लदाय लदाय ।
उतते कोइ न आइया, जासों पूछिये धाय ॥ २६६ ॥

भक्ति पियारी रामकी, जैसि पियारी आग ।

५४—'आइ थी मैं भगत जान, जगत देखि रोई' (मीराबाई) ५५—बृजवासियों की धारणा । बूढ़ेढोर (पशु) की तरह मुक्ति तो वृन्दावन की गलियों में अनाथ बनकर पड़ी रहती है । भाव यह है कि बृजवासी मुक्ति नहीं चाहते हैं, किन्तु प्रति जन्म में बृज के सियार होकर रहना चाहते हैं । ५६—'साधन-धाम मोक्षकर द्वारा' तथा 'स्वर्ग नर्क अपवर्ग निसेनी' इत्यादि कथन के अनुसार नरतन कर्मभूमि होने के कारण स्वर्गादिफलों का देने वाला है । इस कारण यहीं से देवतादिक बन कर स्वर्गादिकों को जाते हैं किन्तु स्वर्ग से देवतादिक बनकर यहाँ पर कोई नहीं आता है । फलतः नरतन को सुधारना चाहिये ।

सारा पट्टन जरि मुवा, बहुरि ले आवे माँग ॥ २६७ ॥

नारि कहावे पीवकी, रहै अवर सँग सोय ।

जार मीत हृदया बसे, खसम खुसो क्यों होय ॥२६८॥

सज्जन से दुरजन भया, सुनि काहू के बोल ।

कांसा तामा होय रहा, *नहिं हिरन्य का मोल ॥२६९॥

बिरहिन साजी आरती, दरसन दीजे राम ।

मूये दरसन देहुगे, आवे कवने काम ॥ २७० ॥

[५७] पलमें परलै बीतिया, लोगन लागु तँवारि ।

आगल सोच निवारिके, पाछल करहु गोहारि ॥२७१॥

[५८] एक समाना सकल में, सकल समाना ताहिँ ।

कबिर समाना बूझ में, जहाँ दूसरा नाहिँ ॥ २७२ ॥

[५९] इक साधे सब साधिया, सब साधे इक जाय ।

जैसे सींचे मूलको, फूले फले अघाय ॥ २७३ ॥

[६०] जेहि बन सिंघ न संचरे, पंछी ना उडि जाय ।

५७—तवाँरा-चक्कर (भ्रम) भविष्यत् की कल्पनाओं को छोड़कर पहले किये हुए कामों पर पश्चात्ताप करो और वर्तमान के कार्यों को सुधारो। ५८—एक आत्मा सब में समाया हुआ है और सब उसके आश्रित हैं। कबीर=मुक्तात्मा, ज्ञान में समा गये, क्योंकि ज्ञान में द्वैत भाव नहीं रहता । ५९—इक=आत्मदेव । सब=नानादेव । ६०—हठयोगियों की

पाठां०—*हता ठिकों ।

सो बन कबिरन हींडिया, सुन्नसमाधि लगाय ॥२७४॥

६१ सांच कहौं तो मारिया, झूठहिं लागु पियारि ।
मा सिर ढारे ढेँकुली, सींचै और कियारि ॥ २७५ ॥

बोली तो अनमोल है, जो कोइ बोले जान ।
हिये तराजू तौलिके, तब मुख बाहर आन ॥ २७६ ॥

६२ करु बहियां बल आपनी, छाडु बिरानी आस ।
जाके नदिया आँगने, सो कस मरे पियास ॥ २७७ ॥

६३ वोता वैसे ही हुवा, तू मत होहु अयान ।
वो निरगुन गुनवन्त तू, मत एकहि में सान ॥ २७८ ॥

जो मतवारे रामके,[६४] मगन होहिं मन माहिं ।
ज्यों दरपन की सुन्दरी, गहे न आवे बाहिं ॥ २७९ ॥

साधू होना चाहिये, पक्का के संग खेल ।
कच्ची सरसों पेरिके, खरी भई नहिँ तेल ॥ २८० ॥

दशा । जेहिबन = असत्कल्पना में । सिंह = जीवात्मा । पंछी = मन । ना उड़िजाय = स्वेच्छा से नहीं जा सकता है । ६१-ढेंकुल या ढेंकी से कियारी सींची जाती है । कबीर साहब कहते हैं कि मेरे नामका वेष बनाकर लोग अपने २ स्वार्थों को सिद्ध करते हैं । ६२-जिसके हृदय में विवेक धारा बहती है उसको उचित है कि पुरुषार्थ द्वारा अपने आपको स्वतन्त्र करले । ६३—दुष्टों के साथ दुष्ट न बनो । ६४-राम के काल्पनिक रूप का ध्यान करने वाले केवल प्रेम में मग्न रहा करते हैं, परन्तु दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह उससे व्यवहार सिद्धि (मुक्ति आदिक) नहीं हो सकती है ।

सिंघो[६५] केरी खोलरी, मेंढा पैठा धाय।
बानी ते पहिचानिये सब्दहि देत लखाय ॥ २८१ ॥
जेहि[६६] खोजत कलपौ गये, घटही माँहि सो मूर।
बाढ़ी गरब गुमान ते, ताते परि गइ दूर ॥ २८२ ॥
दस[६७] द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन।
रहिबे का अचरज अहै, जात अचंभौ कौन ॥ २८३ ॥
रामहिं[६८] सुमिरे रन भिरे, फिरे और की गैल।
मानुष केरी खोलरी, ओढि फिरतु है बैल ॥ २८४ ॥
खेत[६९] भला बीजे भला, बोय मुठी का फेर।
काहे बिरवा रूखरा, ये गुन खेतहिं केर ॥ २८५ ॥
गुरु सीढ़ी ते ऊतरे, सब्द विमूखा होय।
ताको काल घसीटि है, राखि सके नहिं कोय ॥२८६॥
भुभुरी[७०] घाम बसे घट माहीं * सब कोइ बसे सोग की छाहीं ॥२८७॥

६५—"जपमाला छापा तिलक, सरे न एको काम। मन काचे नाचे वृथा, सांचे राचे राम"। ६६—राम सजीवन मूरी हृदय में ही है। ६७-तन पींजरे में प्राण पक्षी बैठा हुआ है और पींजरे की दसौं खिड़कियां सदैव खुली रहती हैं। ६८-राम भक्त कहलाते हैं और लड़ते मरते हैं। ६९-अन्तःकरण भी शुद्ध है और वासना भी शुभ है परन्तु साधनों में त्रुटि रहने के कारण पूरी फल सिद्धि नहीं होती है। ७०—भुभुरीघाम=त्रितापाग्नि ॥ ७१—सहस

७१
जो मिलिया सो गुरू मिलिया, सीष न मिलिया कोय ।
छ लख छ्यानवे सहस रमैनी, एक जीव पर होय ॥२८८॥

७२
जहँ गाहक तहँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं ।
बिनु बिबेक फटकत फिरे, पकरि सब्द की छांहिं ॥२८९॥

७३
नग पषाण जग सकल है, परखे बिरला कोय ।
नगते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय ॥ २९० ॥

७४
सपने सोया मानवा, खोलि जो देखे नैन ।
जीव परा बहु लूट में, ना किछु लेन न देन ॥ २९१ ॥

७५
नष्टहि का तो राज है, नफर का बरते तेज ।
सार-सब्द टकसार है, हृदया माहिं बिबेक ॥ २९२ ॥

७६
जबलग ढोला तबलग बोला, तोलौं धन व्यवहार ।
ढोला फूट बोला गया, कोइ न झांके द्वार ॥ २९३ ॥

७७
कर बन्दगी बिबेक की, भेख धरे सब कोय ।

छानवे औ छवलाखा, जुग परमान रमैनी भाखा । रमैनी = पद्य ।
७२—गाहक सकामी । ७३—नग ज्ञानी । पषान अज्ञानी । ताहि न कहिये पारखी, पाहन लखे जो कोय । नग-नर या दिल में लखे रतन पारखी सोय
७४—अज्ञान निद्रा में पड़ा हुआ यदि वह जागकर विवेक दृष्टि उघारे ।
७५—नष्ट = माया नफर = गुलाम । (मन) ७६—ढोला शरीर ।
बोला = कहना सुनना । ७७—विवेक पूर्वक सत्कार करो केवल भेख देख

सो बन्दगि बहि जानदे, सब्द बिबेक न होय ॥ २६४ ॥

सुर नर मुनि औ देवता, सात दीप नौ खंड ।

कहहिं कबिर सब भोगिया, देह धरे का दंड ॥२६५॥

७८
जबलग दिल पर दिल नहीं, तबलग सब सुख नाहिं ।

चारिउ जुगन पुकारिया, सो संसै दिल माहिं ॥२६६॥

७९
जंत्र बजावत हौं सुना, टूटि गये सब तार ।

जंत्र विचारा का करे, गया बजावनि हार ॥ २६७ ॥

८०
जो तू चाहे मुझ को, छांड सकल की आस ।

मुझहि ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास ॥ २६८ ॥

८१
साधु भया तो का भया, बोले नाहिं बिचार ।

हते पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार ॥ २६९ ॥

८२
हंसा के घट भीतरे, बसे सरोवर खोट ।

चले गाँव जहवाँ नहीं, तहाँ उठावन कोट ॥ ३०० ॥

कर न भूलो। ७८—दिलपर दिल = दृढ़—निश्चय। ७९—जंत्र = अनाहत शब्द आदिक। तार = ईडा, पिंगलादिक। बजावनिहार = जीवात्मा। ८०—मुझको = मालिक को। मुझ जैसा = इच्छा रहित। ८१—तलवार = कुवचन रूपी तलवार। ८२—जीवात्मा का हृदय—सरोवर अज्ञानता के कारण मलिन हो रहा है। इस कारण मिथ्या—कल्पित—मनोरथों की रचना में सदैव लगा रहता है।

मधुरबचन है औषधी, कटुक बचन है तीर।
श्रवनद्वार ह्वै संचरे, साले सकल सरीर ॥ ३०१ ॥

[८३]
द्वादस है मरजीव को, धाय जुरि पैठि पताल।
जीव अटक माने नहीं, ले गहि निकरा लाल ॥३०२॥

[८४]
ई जग तो जहँडे गया, भया जोग ना भोग।
तिलै झारि कबिरा लिया, तिलठी झारैं लोग ॥३०३॥

[८५] †
ऐ मरजीवा अमृत पीवा, का धसि मरसि पतार।
गुरुकी दया साधुकी संगति, निकरि आव यहि द्वार ॥३०४॥

[८६]
केतेहिं बुँद हलफो गये, केते गये बिगोय।
एक बुन्द के कारने, मानुष काहेक रोय ॥ ३०५ ॥

[८७]
आगि जो लागि समुद्र में, टुटि टुटि खसै खोल।

८३—जिस प्रकार गोताखोर (पनडुब्बे) निर्भय होकर समुद्र के तल में पैठ जाते हैं, और मोतियों को ले आते हैं। इसी प्रकार निरहंकारी (जीवन्मृतक) भी निर्द्वन्द्व होकर आत्मसागर में निमग्न होते हुए परमानन्द रूपी रत्नों को लेते रहते हैं। ८४—पूरे अज्ञानियों का जन्म निरर्थक चला जाता है। कर्मी और उपासकों का कार्य प्रशंसनीय है, जो कि स्नेहोत्पादक कर्म और उपासनारूपी तिलों का संचय करते

---

† छन्द 'हरिपद'।

रोवै कबीरा डंफिया, हीरा जरै अमोल ॥ ३०६ ॥

*औ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी।

कहहिं कबिर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी॥३०७॥

साँचे साप न लागई, साँचे काल न खाय।

साँचे साँचे जो चले, ताको काहू नसाय ॥ ३०८ ॥

पूरा साहब सेइये, सब बिधि पूरा होय।

ओछे से नेह लगाय के, मूलहुँ आवै खोय ॥ ३०९ ॥

जाहु वैद घर आपने, बात न पूछै कोय।

जिन यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय ॥ ३१० ॥

रहते हैं। और विषयी लोग तो निःसार विषयरूपी तिलेठियों के झाड़ने में ही सदा व्यस्त रहते हैं। ८५—हठयोगियों को उपदेश। मरजीवा=(गोताखोर) ८६—आश्वासन। बुन्द=वीर्य-बिन्दु। हलफों गये=शरीर रूप में बदल गये (सच्चे हो गये)। एक बुन्द=पुत्रादिकों का शरीर) ८७—संसार—समुद्र में अज्ञानता रूपी वाड़वाग्नि जल रहा है, जिससे नाना—शरीर रूपी जल की तरंगें स्वाहा होती चली जाती हैं। इस बात को न जानने वाले जोरों से चिल्लाते हैं कि हा मेरा हीरा लाल जल गया (मर गया)

---

* सार छन्द।

८८
औरन के सिखलावते, मोहड़े परिगौ रेत।
    रास बिरानी राखते, खाइनि घर का खेत ॥ ३११ ॥
८९
मैं चितवत हौं तोहि को, तू चितवत है वोहि।
    कहहिं कबिर कैसे बने, मोहि तोहि औ वोहि ॥ ३१२ ॥
९०
तकत तकावत तकि रहा, सका न बेझा मार।
    सबै तीर खाली परा, चला कमानहिं डार ॥ ३१३ ॥
९१
जस कथनी करनी तसी, जस चुम्बक तस ज्ञान।
    कहहिं कबिर चुम्बक बिना क्यों जीतै संग्राम ॥ ३१४ ॥
अपनि कहै मेरी सुने, सुनि मिलि एकै होय।
    हमरे देखत जग चला, ऐसा मिला न कोय ॥ ३१५ ॥
देस बिदेसन हौं फिरा, गांव गाँव की खोरि।
    ऐसा जियरा ना मिला, लेवे फटकि पिछोरि ॥ ३१६ ॥
मैं चितवत हौं तोहिको, तू चितवत किछु और।
    लानत ऐसे चित्तपर, एक चित्त दुइ ठौर ॥ ३१७ ॥
चुम्बक लोहे प्रीति है, लोहै लेत उठाय।

---

८८ औरों को उपदेश देते हैं परन्तु स्वयं आचरण नहीं करते हैं। रास=अन्न की ढेरी। ८९ चित्त की एकाग्रता के बिना उपदेश व्यर्थ चला जाता है। वोहि=प्रपंच। ९०—बेझा=लक्ष्य। कहते सुनते दिन बीत गये, परन्तु लक्ष्य प्राप्ति न हो सकी। ९१—जिस प्रकार चुम्बक के शस्त्रास्त्र

ऐसा सब्द कबीर का, जम से लेत छुड़ाय ॥ ३१८ ॥

९२ ⊛

भूला तो भूला, बहुरि के चेतना।

सब्द की छुरी से (से), संसय को रेतना ॥ ३१९ ॥

९३

दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।

मुये गये नहिं बाहुरे, बहुरि न आये फेरि ॥ ३२० ॥

९४

गुरू बिचारा का करे, सीपहि माँहि चूक।

भावे त्यों परबोधिये, बाँस बजाये फूक ॥ ३२१ ॥

+ ९५

दादा भाई बाप के लेखौ, चरनन होइ हौं बन्दा।

अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा ॥३२२॥

सबते है लघुता भली, लघुता से सब होय।

धारी वीर युद्ध में विजयी होते हैं। इसी प्रकार कर्मयोगी (सच्चाज्ञानी) ही संसार को सत्य मार्ग पर ले जा सकता है। ९२-सत्योपदेश से सब संशय दूर हो जाते हैं। ९३—कबीर साहब कहते हैं कि मैं जिन२ त्रुटियों को देखता हूँ उनकी निवृति के लिए उपदेश देता हूँ। अतः केवल पूर्वजों के गौरव पर गर्व करते रहना व्यर्थ है, उचित तो यह है कि उनके सद्गुणों का अनुसरण किया जाय जिससे कि फिर वैसे पुरुष-रत्न पैदा होने लगें।

⊛ १० मात्रा के 'दैशिक' जात्यन्तर्गत छन्दो विशेष (प्रिय)।

+ 'सार' छन्द।

जस दुतिया का चन्द्रमा, सीस नाँय सब कोय ॥३२३॥

९६
मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।

ऐसा होय के ना मुवा, बहुरि न मरना होय ॥ ३२४ ॥

९७
मरते मरते जग मुवा, बहुरि न किया विचार।

एक सयानी आपनी, परबस मुव संसार ॥ ३२५ ॥

सब्द अहै गाहक नहीं, वस्तु है महँगे मोल।

बिना दाम का मानवा, फिरै सो डामा डोल ॥ ३२६ ॥

९८
गृह तजिके जोगी भये, जोगी के गृह नाहिं।

बिनु बिवेक भटकत फिरे, पकरि सब्द की छाँहिं ॥३२७॥

९९
सिंघ अकेला बन रमे, पलक पलक करै दौर।

जैसा घन है आपना, वैसा बन है और ॥ ३२८ ॥

जो गये सो तो गये ही। ९४—बांसकी फोंफी (नली) की तरह शून्य हृदय वाले शिष्य के हृदय में तत्वोपदेश नहीं ठहर सकता है। ९५ कबीर साहब कहते हैं कि जो अपने नरतन को सुधारेगा, उसको मैं दादा भाई या अपना पिता समझकर सम्मानित करूँगा। ९६—जो ज्ञानपूर्वक मरते हैं वे मुक्त हो जाते हैं अतः फिर नहीं मरते। और अज्ञानी लोग बार २ जन्मते मरते रहते हैं ९७—सयानी = अहङ्कार। भाव यह है कि अज्ञानी अहंकार वश मरते हैं। ९८—प्रपंच छोड़ कर फिर प्रपंच में पड़ना प्रपंचियों का ही काम है। ९९·जीवात्मा रूपी सिंह शरीर रूपी

१००
पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत।

जब जैसी चाहे गती, तब तैसी मति देत ॥ ३२९ ॥

बोलत ही पहिचानिये, साहु चोर का घाट।

अन्तर घट की करनी, निकरे मुख की बाट ॥ ३३० ॥

१ †
दिलका महरमि कोइ न मिलिया, जो मिलिया सो गरजी।

कहहिं कबीर असमानहिं फाटा, क्यों कर सीवे दरजी ॥३३१॥

ई जग जरते देखिया, अपनी अपनी आगि।

ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि ॥ ३३२ ॥

२
बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि बेतूल।

कहा लाल ले कीजिये, बिना वास का फूल ॥ ३३३ ॥

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।

बन में मन रूपी सियार की मन्त्रणा से अनेक अनर्थ करता रहता है। सब अज्ञानियों के व्यवहार अज्ञान मूलक ही हुआ करते हैं। १००-निज देव (ईश्वर) सबों के हृदय मन्दिरों में सदैव प्रबुद्ध रहते हैं। "तदेव साधु कर्म कारयति य मुन्निनीषति" इत्यादि। १—दिलका महरमी=हार्दिक भाव का जानने वाला। २—बेतूल=हलका, या ओछा। उस सुहावाने लाल फूल से क्या लाभ है जिस में गन्ध न हो। ३—जैसे जंगल में लगे हुए फूल किसी उपयोग में नहीं आते हैं, इसी

---

† छन्द 'सार'।

जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप ॥ ३३४ ॥

[३] कारे बड़े कुल ऊपजे, जो रे बड़ी बुधि नाहिं।

जैसा फूल उजारि का, मिथ्या लगि झरि जाहिं ॥३३५॥

[४] करते किया न बिधि किया, रबि ससि परी न दीस्टि।

तिन लोक में है नहीं, जानै सकलो सोस्टि ॥ ३३६ ॥

[५] सुरहुर पेड़ अगाध फल, पंछी मरिया झूर।

बहुत जतन कै खोजिया, फल मीठा पै दूर ॥ ३३७ ॥

[६] बैठा रहै सो बानिया, ठाढ रहे सो ग्वाल।

जागत रहे सो पहरुवा, तेहि धरि खायो काल ॥३३८॥

[७] आगे आगे दौं जरे, पाछे हरियर होय।

बलिहारी तेहि ब्रिच्छकी, जर काटे फल होय ॥३३९॥

प्रकार बुद्धि हीन मनुष्य ऊँचे कुल में जन्म लेने पर भी किसी सत्कार्य को नहीं कर सकता है। ४—यह मिथ्या कल्पना की पहेली है। ५-जैसे दूर लगे हुए नरियर के कच्चे फलों को खाने के लिये तोता उसमें चोंच मारता है, और चोंच के फँस जाने से छटपटा कर मरजाता है, इसी प्रकार स्वर्ग और बिहिश्त के सुदूरवर्ती मीठे फलों के मिलने की इच्छा से अज्ञानी लोग व्यर्थ ही प्राण देते रहते हैं, और दूसरों के प्राण लेते रहते हैं। सुरहुर-लम्बा और सीधा। ६—बिना ज्ञान के धूनी लगाकर सदा बैठे रहना या खड़े रहना केवल कष्ट कारक कर्म ही है। मन का निरोध करना आवश्यक

जनम मरन बालापना, बिरध अवस्था आय।

जस बिलाइ मूसा तकै, जम जिव घात लगाय ॥३४०॥

[८] [❀]

है बिगरायला ओरका, बिगरो नाहिं बिगारो।

घाव काहिपर घालौं, जितदेखौंतितप्रान हमारो ॥३४१॥

[९]

पारस परसे कनक भौ, पारस कधी न होय।

पारस के अरसै परस, कनक कहावे सोय ॥३४२॥

[१०]

ढूंढत ढूंढत ढूंढिया, भया सो गूना गून।

ढूंढत ढूंढत ना मिला, हारि कहा बेचून ॥३४३॥

[११]

बेचूने जग चूनिया, सांई नूर निनार।

है तन को कष्ट देना तो व्यर्थ है । ' बांबी कूटे बावरे, सांप न मारा जाय। मूरुख बांबी ना डसे, सांप सभनि को खाय। ७—संसार वृक्ष की विचित्रता। पुराने २ प्रस्थान करते रहते हैं और नये २ उत्पन्न होते रहते हैं। यह वृक्ष ऐसा विलक्षण है कि इसकी जड़ (अज्ञानता) के काटने से ही फल (मोक्ष) मिलता है।

८—ऐ वंचक गुरुओ ! अनादिकाल के बिगड़े हुए जीवात्मा को तुम लोग और भी बिगाड़ रहे हो। ऐसा न करो। ९—जीववादियों का कथन। जीव का जीवत्व कदापि नहीं मिट सकता है। हां ज्ञान पाकर यह निर्मल हो सकता है; परन्तु अपने स्वरूप को नहीं खो सकता। १०—मुसलमानों

❀ विषम मात्रिक छन्द।

आखिरताके वख्त में, किसका करो दीदार ॥३४४॥

सोईं[12] नूर दिल पाक है, सोइ नूर पहिचान।

जाके कीये जग हुवा, सो बेचुन क्यों जान ॥३४५॥

ब्रह्मा[13] पूछै जनिनसे, करजोरि सीस नवाय।

कवन बरन वह पुरुष है, माता कहु समुझाय ॥३४६॥

रेख रूप वै है नहीं, अधर धरी नहिं देह।

गगन मँडल के मध्य में, निरखो पुरुष बिदेह ॥३४७॥

धरे ध्यान गगन के माहिं, लाये बज्र किंवार।

देखि प्रतीमा आपनी, तीनिउँ भये निहाल ॥३४८॥

यह[14] मन तो सीतल भया, जब उपजा ब्रह्म ज्ञान।

का निश्चय—बेचून = निराकार। मुसलमान लोग खुदा को निराकर और सातवें आसमान पर रहने वाला मानते हैं। गूनागून = गुम। ११—नूर = प्रकाश। यदि साँई का नूर सातवें आसमान पर है तो उसने दुनिया को (बिना साधन के) कैसे बनाया। और तुम लोग अन्त समय किसका दीदार (दर्शन) करना चाहते हो। १२—स्वमत। वस्तुतः वह पवित्र स्वयंज्योति हृदय कमल में विराजमान है उसी को पहिचानो और मिथ्या कल्पनाओं को छोड़ो। १३—इन साखियों का अर्थ दूसरी रमैनी की टीका के अन्तर्गत है। सूचना—प्रति प्राचीन सुखनिधान ग्रन्थ में ये साखियां कुछ पाठ भेद से उपलब्ध होती हैं। यथा—समै। ब्रह्मा पूछे दीन होय करजोरि सीसनिवाय। कवन वरन वह पुरुष है, कहो मात

जेहि बसन्दर जग जरे, सो पुनि उदक समान (!)॥३४९॥

जासो नाता आदिका, बिसरिगया सो ठौर ।

चौरासी की बसि परे, कहे और की और ॥३५०॥

१५
अलख लखौं अलखे लखौं, लखौं निरंजन तोहि।

हौं कबीर सबको लखौं, मोको लखै न कोइ ॥३५१॥

१६
हम तो लखा तिहुँ लोक में, तू क्यों कहे अलेख ।

समुझाय । मायावचन । रूप रेख उनके नहीं, अधरि धरी नहीं देह । तीनलोक के बाहरे निरखो पुरुष विदेह । इत्यादि । १४—त्रितापाग्नि से सन्तप्त मन 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति से कुछ शीतल सा हो जाता है सर्वथा नहीं, क्योंकि वह भी तो एक वृत्ति ही है; अतः वृत्ति मात्र का लय करना परम कर्तव्य है; क्योंकि तरंगों के प्रशान्त हुए बिना प्रतिबिम्ब प्रतिफलित नहीं होता है । यह इस साखी का निगूढ़ आशय है : इसका उत्तरार्ध काकू—वचन है । १५—अलख २ की टेर लगाने वाले अलखिया (जोगी) को उपदेश—आत्मा सबों का साखी होने के कारण अलख निरञ्जन आदि नामों से कहे जाने वाले मन आदिकों का भी द्रष्टा है और 'द्रष्टा का द्रष्टा नहीं होता' इसके अनुसार उसका द्रष्टा कोई नहीं है । १६—जिसको आप लोग अलख निरञ्जन और ज्योतिस्वरूप कहते हैं, वह मनही है क्योंकि "तीन लोग मनः भूप है मन पूजा सब ठौर" एवं "दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मन शिव संकल्पमस्तु" इस यजुः श्रुति के अनुसार उक्त मन ज्योतिः स्वरूप भी

सार-सब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख ॥३५२॥

[१७] साखी आँखी ज्ञानकी, समुझि देखु मन माहिं।

बिनु साखी संसार का झगरा छूटत नाहिं ॥३५३॥

॥ इति ॥

है। भाव यह है कि अलख के चक्र से छूट कर सबों के हृदय मन्दिरों में साक्षात् विराजमान अविनाशी राम के दर्शन करने का प्रयत्न करिये। श्रीगोस्वामी जी ने भी किसी अलखिये से यही बार्ता कही थी। यथा-'हम लख हमहिं हमार लख, हम हमार के बीच। तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम भजु नीच'। १७—ये साखियां (यथार्थ वचन होने के कारण) तत्व निर्णायक (साक्षी पुरुष रूप) हैं।

यत्कृपालेशतस्तीर्णो बीजकाब्धिर्मयाऽक्षमा।
सोऽयंवोमुक्तिदोभूयाज्जगन्नाथो गुरुर्मम॥

॥ समाप्त ॥

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

सम्मति—सार

तत्र तावत्, निखिलतंत्रापरतंत्रपद्वाक्य-प्रमाणपारागारीण विद्व-च्चक्रचूडामणि श्रीयुत पं० काशीनाथशास्त्रिमहोदयानाम्।

श्रीः।

अथ विदितमिदमस्तु प्रस्तुतम्। यो निखिलमहीमण्डले प्रथते यदीय यशोराशि रारभव्या भक्तमालादिना वर्ण्यते, यदीयानि च कतिपयानि पद्यानि नानकीयग्रन्थादौ (ग्रन्थ साहब) सादरं धृतानि सोऽयं महात्मा कबीरो ज्ञानिभक्तः। किंवदन्त्या तदीयबीजकीयतत्तद्वचनपर्यालोचनया च परमधार्मिको गम्यते। ननु कानिचित्तदीयानि वचनानि तीर्थादीनि निन्दन्तीति कथमीदृग सा विति चेन्न, अतत्परत्वात्तेषाम्, नहि तानितानि निन्दन्ति किंतर्हि श्रद्धापुरस्सरमीश्वरार्पणावसानमिह जन्मनि जन्मान्तरे वा यथाशक्ति विधिवदनुष्ठितैस्तीर्थवाससत्यभाषणगंगास्नानादिभिस्साधारणै-रसाधारणैश्चान्यैस्स्वैः स्वैर्धर्म्मैर्नितान्तक्षपितान्तःकरणकल्मषान् विवेकादि-साधनसम्पन्नानात्मचिन्तनादौ प्राधान्येन प्रवर्तयन्ति, अन्यथा कथं काशी-विरहाहितवेदनावेदकं तदीयवचन मन्यानिच तज्जातीयानि तानि संगरच्छेरन्। एवमेवातिसदयहृदयतया वैधी मपिहिंसा मसहिष्णोरवैधीन्तां प्रतिषिषित्सत-स्तस्यापाततो ब्राह्मणनिन्दापरतया लक्ष्यमाणमपिवननमतत्परमेवेति सुवेद मेवाशेषवाक्यविदाम्। इत्थंचाधुनिकाः केचन कावीरा वेदादिशास्त्रं हरि-हरहिरण्यगर्भादिदैवतमवतारांश्च दूषयन्तो न केवलं तान्येव दूषयन्त्येवापितु दुस्तरभवमहोदधौ निमग्नानां तमुत्तितीर्षतां श्रुतिश्रवणादावनधिकारिणा·

मुद्दिधारयिषया प्रवृत्तंमहानौकास्थानीयं बीजकनामानं निबन्धं तन्निर्मातारं करुणावरुणालयं महात्मानं कबीरं च दूषयन्तो नैज मात्मान मप्यधः पातयन्तीति हा कष्टं करुणाभाजनभूतास्ते शोच्या एव न दूष्या इति दिग्दर्शनामात्रं बहुमन्यमानोऽतिगूढार्थबीजक मृजुभिर्मितासरैर्विवृण्वती मिमां साधुविचारदासविनिर्मितां, प्रबोधिनीं, पश्यन् हृष्यँश्च बलिया मण्डलान्तर्गतच्छातागृामाभिजनः काशीवासी पं० काशीनाथशर्म्मोपरम-तीतिशम् ।

'सुप्रभात' सम्पादक श्रीयुत पं० गिरीशशर्मशुक्लन्यायाचार्याणाम्
श्रीमन्तोमहाभागाः ।

जानन्त्येव खलु तत्र भवन्तो भारतीयमहात्मनां श्रीमतां कबीर महोदयानामध्यात्मोपदेशपरं हिन्दी-ग्रन्थं बीजकाभिधम् । ग्रन्थोऽयं हिन्दीसाहित्यग्रन्थेषु पुरातनः प्रधानश्च । स्वतन्त्रेच्छेन महात्मना ग्रन्थो ऽयं हिन्द्या गिरा यद्यपि निबद्धस्तथापि बिषयकाठिन्याद् भाषाका ठिन्याच्च निरूपणप्रकारस्य रूपकाद्यलङ्कारपूर्णत्वाच्च अत्यन्तं दुर्बोध एव साधारणमतीनां विशेषतो हिन्दीभाषानभिज्ञानाम् । यद्यपिचास्य हिन्दीग्रन्थरत्नस्य प्राचीनान्यपि सन्ति व्याख्यानानीति श्रूयते, तथापि सर्वोपयोगि नासीत् किमपि व्याख्यानं मुद्रितम् । सेयं त्रुटिःकाशीस्थेन श्रीमताविचारदासमहाशयेन दूरीकृतेति विलोक्य नितरां प्रसीदति हृदयम् । अस्यां टीकायां ग्रन्थकर्त्तुस्तात्पर्य्यम् तत्तत्प्राच्यभाषा शब्दानां विवरणं च सम्यङ् निरूपितम् । 'बीजक ग्रन्थे' अद्वैतात्मतत्वस्य, नामोपासनस्य, विज्ञान-वैराग्ययोः, अहिंसायाः, ईश्वरभक्तेः, पाखण्ड परित्यागस्य, वाह्यचिन्हानामकिञ्चित्करत्वस्यच बाहुल्येन प्रतिपादनं

दृश्यते । अध्यात्मनिरूपणप्रकारश्चास्य ग्रन्थस्य स्वतन्त्र एव । येन यथा श्रुतार्थः कश्चिदन्य एवापाततो भासते, तात्पर्य्यार्थश्चापर एव भवति । यत्र विशेषतः काठिन्यमस्यावालोक्यते तत्र टीकेयं तात्पर्य्यार्थं स्फुटं प्रकाशते । अनया टीकया केचन विषयाः यथा सविस्तरं निरूपितास्तथा न सर्वत्र विवृता इति विवरणविस्तरमपेक्षत एवायं ग्रन्थः । टीकेयं संस्कृतपण्डितेन रचिता, तत्रतत्र संस्कृतग्रन्थानां प्रमाणोल्लेखालंकृताच्च अतःसंस्कृतपण्डितानामपि मनोरञ्जनं यथावत सम्पादयति । अतःसंस्कृतज्ञा अप्येतत्साहाय्येन श्रीमत्कबीरबिचारं विदाङ्कुर्वन्तु ।

३०।११।२६] गिरीशशुक्लः ।

श्रीयुत पं० विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिणाम्

'बीजक' नामकं पुस्तक मिदं महात्मना कबीरमहोदयेन प्रणीतम् । तच्च विपश्चिद्वरेण श्रीमता विचारदासशास्त्रिणा विरचितया 'विरल–टीकया टिप्पण्या' च समलंकृतं कृत्वा श्रीनगेश्वरबख्श सिंहेन प्रकाशितम् । मुद्रणं संशोधनंचातीवसमीचीनम् । पुस्तकमिदं भक्तपाठकेभ्यो मूल्यमन्तरेणैव प्रदीयते । महात्मनः कबीरस्य कविताः काठिन्ये लोकविश्रुताः । परन्तु श्रीमता शास्त्रिवर्य्येण तदीयकविताः समाश्रित्य भाष्यरूपा तादृशी टीका टिप्पणी च विहितायया सर्वसाधारणाः अपि दुर्बोधाः क्लिष्टाश्च कबीरकविताः सुखेनावगन्तुं शक्नुयुः । टीकायां मध्ये मध्ये श्रुतीनां स्मृतीनां ग्रन्थान्तराणां च वाक्यानि समुद्धृतानि यै ष्टीकाकृतः पाण्डित्येन साकं ग्रन्थस्य गुरुत्वमुपादेयत्वं च स्फुटं प्रतीयते । किम्बहुना, पुस्तकमेतत् सर्वाङ्गशोभनं सहृदयैर्द्रष्टव्यञ्चेऽति ।

श्री विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिणः सूर्योदयसम्पादकस्य ।

काशी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्रीयुत् बाबू भगवान दासजी एम० ए० महोदय।

श्रीमहन्त राम विलास दास जी

कबीर चौरा

बनारस।

नमस्कार

आपने बड़ा अनुग्रह किया जो सटीक बीजक की एक प्रति भेजी। मैं उसके लिये आपको अनेक धन्यवाद देता हूँ। श्री विचार दास जी ने टीका अत्युत्तम बनाई है। वैसी ही विद्वत्ता और पांडित्य वैसी ही सरलता गूढ से गूढ पदों को स्पष्ट कर दिया है। और समानार्थक प्राचीन संस्कृत वाक्यों और आर्ष श्लोकों के उद्धरण से बड़ी ही आनन्द और रस की सामग्री एकत्र कर दी है। कबीर के पदों के पुनः प्रचार की बड़ी, आवश्यकता है। जब वर्ण संबंधी दंभ और दुराग्रह फिर बहुत बढ़ गया है। और इसी के कारण से हिन्दू धर्म और समाज का ह्रास हो रहा है। इन के पुनः प्रचार से आत्म-तत्व का ज्ञान और आत्म धर्म का प्रचार सर्व साधारण में होकर धार्मिक कलह कम होने की पूरी आशा हो सकती है। मैं पुनर्वार आपका और श्री विचारदास जी और श्री नगेश्वर वख़्श सिंह जी का बहुत बहुत उपकार मानता हूँ और धन्यवाद करता हूँ।

शुभ चिंतक—

भगवान् दास

"सरस्वती"

बीजक महात्मा कबीर दास का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अब तक इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इसके इस संस्करण में यह विशेषता है कि इस के टीकाकार साधु-विचार दास केवल विद्वान् ही नहीं है, किन्तु कबीर पन्थी साधु भी हैं। आपने इस ग्रन्थ के कठिन स्थलों का आशय स्पष्ट करने में खासा परिश्रम किया है। पन्थ की परम्परा के अनुसार उनके गूढ तत्वों को प्रकट किया है, साथ ही स्थल स्थल पर उपनिषदादि शास्त्रों की बहु संख्यक उक्तियाँ उद्धृत कर भाव-सादृश्य दिखला कर उन उन स्थलों को आर्य-शास्त्रों से प्रमाणित किया है। आपकी टीका से बीजक का आशय समझने में सर्व साधारण को बड़ी सुविधा होगई है।

जनवरी सन् १९२८।

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.